

समियाए धम्मे आरिएहिं पव्वइये

जैनधर्म के सम्प्रदाय

डॉ० सुरेश सिसोदिया

सव्वत्थेसु समं चरे
सव्वं जगं तु समयाणुपेही
पियमप्पियं करस्स वि नो करेज्जा
सम्मत्तदंसी न करेइ प्रावं
सम्मत्त दिट्ठि सया अमूढे
समियाए मुनि होइ

आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर

आगम संस्थान ग्रन्थमाला ९

सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

जैनधर्म के सम्प्रदाय

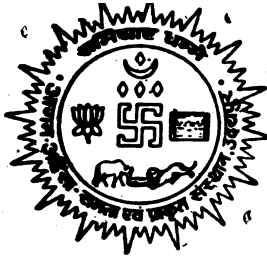
लेखक

डा० सुरेश सिसोदिया

शोध-अधिकारी

आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान

उदयपुर (राज०)



आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
उदयपुर

प्रकाशक :

**आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान
पश्चिमी मार्ग, राजस्थान पत्रिका कार्यालय के पास
उदयपुर (राज०) ३१३००१**

संस्करण : प्रथम, १९९४

मूल्य : रु० ८०-००

**Jaina Dharma Ke Sampradaya
by Dr. Suresh Sisodia**

Edition : First, 1994

Price : Rs. 80-00

**मुद्रक : बद्धमान मुद्रणालय,
जवाहर कालोनी, वाराणसी**

प्रकाशकीय

जैनधर्म के सन्दर्भ में प्रामाणिक जानकारी प्राप्त करने के लिए उसके विभिन्न सम्प्रदायों और उनकी मान्यताओं का ज्ञान होना आवश्यक है, क्योंकि आज जो जैनधर्म जीवित है, वह विभिन्न सम्प्रदायों के रूप में ही है। हमारा दुर्भाग्य यह है कि हम साम्प्रदायिक आग्रहों में इतने बँट गए हैं कि न तो हम दूसरे सम्प्रदायों का इतिहास जानते हैं और न उनकी मान्यताओं की सापेक्षिक उपयोगिता को ही समझ पाते हैं। इस दिशा में तटस्थ दृष्टि से चिन्तन और लेखन की आवश्यकता बनी हुई थी। डॉ० सुरेश सिसोदिया ने जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की दर्शन तथा आचार सम्बन्धी मान्यताओं पर अपना शोध-प्रबन्ध लिखा, जिस पर उन्हें मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर द्वारा पी-एच० डी० की उपाधि से अलंकृत भी किया गया। डॉ० सिसोदिया संस्थान के शोध-अधिकारी भी हैं, अतः संस्थान ने अपना दायित्व समझकर उनकी इस कृति को प्रकाशित करने का निर्णय लिया।

हम संस्थान के मानद निदेशक प्रो० सागरमल जी जैन के आभारी हैं, जिन्होंने प्रस्तुत कृति को परिष्कृत कर प्रकाशित करने में हर सम्भव सहयोग दिया है। हम संस्थान के मार्गदर्शक प्रो० कमलचन्द जी सोगानो, मानद सह निदेशिका डॉ० सुषमा जी सिंघवी एवं मन्त्री श्री वीरेन्द्रसिंह जो लोढा के भी आभारी हैं, जो संस्थान के विकास में अपना मार्गदर्शन एवं सहयोग दे रहे हैं।

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन हेतु श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता ने अपने हीरक जयन्ति वर्ष (१९९४) के उपलक्ष्य में दस हजार रु० का अनुदान प्रदान किया है, एतदर्थ हम उसके संचालकों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। कृति के सुन्दर एवं सत्त्वर मुद्रण के लिए हम वर्द्धमान मुद्रणालय के भी आभारी हैं।

गुमानमल चोरडिया
अध्यक्ष

सरदारमल कांकरिया
महामन्त्री

प्रकाशन सहयोग

प्रस्तुत कृति के प्रकाशन हेतु श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता द्वारा संचालित श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता ने अपने हीरक जयन्ति वर्ष (१९९४) के उपलक्ष्य में जो अर्थ सहयोग प्रदान किया है, उसके लिए संस्थान आभारी है।

श्री श्वे० स्था० जैन सभा, कलकत्ता प्रबुद्ध व्यक्तियों का संगठन है। शिक्षा, सेवा और चिकित्सा के क्षेत्र में सभा का योगदान न केवल प्रशंसनीय है बरन् अन्यो के लिए अनुकरणीय भी है। सभा द्वारा वर्ष १९३४ में किराये के कमरे में श्री जैन विद्यालय का शुभारम्भ किया गया। वर्ष १९५८ में यह विद्यालय बड़ा बाजार स्थित विद्यालय के नये भवन में आ गया। वर्तमान में इस विद्यालय में लगभग २३०० विद्यार्थी हैं। यहाँ इन्टरमिडियेट तक की शिक्षा दी जाती है। ज्ञातव्य है कि विगत २५ वर्षों से इस विद्यालय का परीक्षा परिणाम शत प्रतिशत रहा है।

सभा द्वारा वर्ष १९९२ में हावड़ा में १ करोड़ रुपये से अधिक की लागत से एक नया भवन बनाकर श्री जैन विद्यालय की एक और शाखा प्रारम्भ की गई है। यह विद्यालय कम्प्यूटर सहित सभी आधुनिक उपकरणों से समृद्ध है। इस विद्यालय में भी वर्तमान में लगभग २२०० विद्यार्थी हैं। विद्यालय के वर्तमान अध्यक्ष श्री मोहनलाल जी भंसाली एवं मन्त्री श्री सरदारमल जी कांकरिया हैं।

सभा द्वारा विगत तीन वर्षों से श्री जैन बुक बैंक को स्थापना कर निर्धन एवं जरूरतमन्द विद्यार्थियों को निःशुल्क पुस्तकें उपलब्ध कराई जा रही हैं। प्रतिवर्ष सैकड़ों विद्यार्थी इस बुक बैंक से लाभान्वित हो रहे हैं। वर्ष १९९४ में ही सभा ने हावड़ा में एक जैन हॉस्पिटल का निर्माण कराना प्रारम्भ कर दिया है। इस हास्पिटल पर लगभग ४ करोड़ रुपये व्यय होने का अनुमान है। सभा के वर्तमान अध्यक्ष श्री रिखबदासजी भंसाली एवं मन्त्री श्री रिद्धकरणजी बोथरा हैं।

हम श्री श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा एवं श्री जैन विद्यालय, कलकत्ता से भविष्य में भी ऐसे ही सहयोग की अपेक्षा करते रहेंगे।

लेखकीय

जैनधर्म श्रमण परम्परा का एक प्राचीनतम धर्म है। आज यह भी विभिन्न सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों में विभक्त है, फिर भी इन सम्प्रदायों के इतिहास के संबंध में जनसाधारण में अज्ञान ही है। परंपरागत विद्वानों ने अपनी-अपनी सम्प्रदायगत मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में ही इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। जबकि आवश्यकता इस बात की है कि साम्प्रदायिक अभिनिवेश से मुक्त होकर इस दिशा में कुछ कार्य किया जाये। मैं यह तो नहीं कहता कि इस सम्बन्ध में विद्वानों ने लेखनो नहीं चलाई है, क्योंकि कुछ पश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने इस दिशा में यथाप्रसंग तटस्थ दृष्टि से चिन्तन किया है, फिर भी एक स्वतन्त्र कृति की कमी ही थी। यद्यपि अंग्रेजी में मुनि उत्तमकमलजी की एक कृति थी, किन्तु हिन्दी भाषा में तो ऐसी कृति का अभाव ही था। मैंने इसी अभाव की पूर्ति का यथासंभव प्रयास किया है। मैंने इसके लेखन में इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि कृति विद्वत् भोग्य होने के स्थान पर जनसाधारण के लिए अधिक उपयोगी हो।

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे शोध-प्रबन्ध का संशोधित रूप है। यह सात अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में जैनधर्म के उद्भव एवं विकास के संबंध में परम्परागत एवं ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया गया है। इसमें प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव से लेकर महावीर निर्वाण तक को जैनधर्म की स्थिति को प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में जैन आगम, जैन मन्दिर, मूर्तियाँ एवं जैन गुफाएँ, जैन अभिलेख तथा चित्रकला आदि ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर जैन धर्म के सम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास की चर्चा की गई है। तृतीय अध्याय में जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का परिचय दिया गया है। इसमें श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदाय तथा उनके उपसम्प्रदायों का परिचय देते हुए उनके उद्भव आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में विभिन्न सम्प्रदायों की दर्शन सम्बन्धी मान्यताओं को प्रस्तुत किया गया है। इस प्रस्तुतीकरण में मुख्य रूप से तत्त्वमोमांसा संबंधी उन विषय-बिन्दुओं की चर्चा की गई है, जो श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा में विवादास्पद हैं। विभिन्न संप्र-

दायों की श्रमणाचार एवं श्रावकाचार सम्बन्धी मान्यताओं को क्रमशः पंचम एवं षष्ठम अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणयन में मुझे विभिन्न विद्वानों का जो सहयोग मिला है, उसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। उन विद्वानों का, जिनकी कृतियाँ इस रचना में सहायक रही हैं, ग्रन्थ की पाद-टिप्पणियों में यथा-संदर्भ उल्लेख किया है और संदर्भ ग्रन्थ सूची में भी उनके नाम तथा उनकी कृतियों को समाविष्ट किया गया है। मैंने अपना शोध प्रबन्ध डॉ० एस० आर० व्यास, विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, सुल्हाड़िया विश्व-विद्यालय, उदयपुर के निर्देशन में प्रस्तुत किया था, उनके सस्नेह मार्ग-दर्शन से मैं इस कार्य को पूर्ण कर सका, अतः मैं अपने गुरुवर्य डॉ० व्यास सा० का हृदय से आभारी हूँ।

विभिन्न प्रसंगों पर मुझे जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों के अनेक आचार्यों एवं साधु-साध्वियों, यथा—आचार्य नानालालजी एवं युवाचार्य रामलालजी (साधुमार्गी संग), आचार्य तुलसी जी एवं युवाचार्य महाप्रज्ञजी (तिरापंथ सम्प्रदाय) आचार्य देवेन्द्रमुनि जी एवं श्री सौभाग्यमुनिजी 'कुमुद' (श्रमण संघ) एवं आचार्य विद्यानन्द जी (दिगम्बर सम्प्रदाय) आदि से तत्त्व-चर्चा करने का अवसर मिला है, इनके सुझाव एवं मार्ग-दर्शन से मुझे प्रेरणा मिली है, अतः इन सबका भी मैं आभारी हूँ।

मैं संस्थान के मार्गदर्शक प्रो० कमलचन्द सोगानी, मानद निदेशक प्रो० सागरमल जैन एवं महामन्त्री श्री सरदारमल जी कांकरिया के मार्ग दर्शन एवं सहयोग हेतु आभार प्रदर्शित करने के लिए शब्दों की रिक्तता का अनुभव कर रहा हूँ। प्रो० कमलचन्द सोगानी ने मेरी शोध दिशा को निश्चित कर उसे गति दी है। मेरे लेखन और चिन्तन को विकसित करने का सारा श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वे हैं प्रो० सागरमल जैन। श्री सरदारमल जी कांकरिया की उदारवृत्ति, शिक्षाप्रेम और उनकी सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि का ही परिणाम है कि मैं अपने विचारों को सदैव तटस्थ होकर प्रस्तुत कर सका हूँ। इन तीनों विभूतियों का जो स्नेह एवं सहयोग मुझे मिला है उसके लिए मात्र शाब्दिक आभार व्यक्त करके मैं उन्मत्त नहीं होना चाहता वरन् मेरो तो यही अभिलाषा है कि मैं इन तीनों के सहयोग एवं निर्देशन से अपनी शोधवृत्ति को सदैव गतिमान रखूँ।

संस्थान की मानद सह निदेशिका डॉ० सुषमा सिंघवी एवं पूर्व मन्त्री स्व० श्री फतहलाल जी हिंगर के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनकी सतत प्रेरणा मुझे मिली है। मेरे शोध-प्रबन्ध के परीक्षक डा० एस० आर० भट्ट एवं डा० जे० पी० शुक्ला का भी मैं आभारी हूँ, जिन्होंने इस शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन हेतु अपने सुझाव दिये हैं।

प्रस्तुत कृति मेरे पूज्य पिताजी स्व० श्री फतहलाल जो सिसोदिया की प्रेरणा का फल है। साथ ही पूज्य माताजी श्रीमती उपेन्द्र, पत्नी तृप्ति सिसोदिया एवं पारिवारिकजनों का आशिर्वाद एवं आत्मीयतापूर्ण सहयोग मुझे मिला है, अतः इन सबका मैं कृतज्ञ हूँ।

उदयपुर

१२ दिसम्बर, १९९३

-सुरेश सिसोदिया

विषयानुक्रमणिका

विषय पृष्ठ क्रमांक

प्रथम अध्याय : जैनधर्म का उद्भव और विकास १-३५

जैनधर्म का उद्भव-१, यति एवं ब्राह्मण-३, तीर्थंकरों से पूर्व की स्थिति-५, कालचक्र-५, कुलकर-८, त्रैसठ-शलाकापुरुष-९, चौबीस तीर्थंकरों का सामान्य परिचय-१३, ऋषभदेव-१५, अरिष्टनेमि-१७, पार्श्वनाथ-१८, महावीर-२१, महावीर कालीन जैनधर्म-२३, तीर्थंकरों में मान्यता- भेद-२४, पार्श्व और महावीर की मान्यता में भेद-२५, महावीर निर्वाण के पश्चात् जैनधर्म की स्थिति-३०,

द्वितीय अध्याय : जैन सम्प्रदायों के ऐतिहासिक स्रोत ३६-४६

जैन आगम साहित्य-३६, जैन मूर्तियाँ-३९, जैन गुफाएँ एवं मन्दिर-४१, जैन अभिलेख-४४, जैन चित्रकला-४५,

तृतीय अध्याय : जैनधर्म के सम्प्रदाय ४७-१२०

सात निह्णव और उनके सिद्धान्त-४८, शिवभूति निह्णव-५४, चैत्यवासी प्रथा-५५, सम्प्रदाय विभाजन-५६, श्वेताम्बर सम्प्रदाय-५६, दिगम्बर मतानुसार श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति ५७, दिगम्बर सम्प्रदाय-५७, श्वेताम्बर मतानुसार दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति-५८, श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदायों की उत्पत्ति सम्बन्धी मान्यताओं का निष्कर्ष-५९, यापनीय सम्प्रदाय-५९, यापनीय सम्प्रदाय की उत्पत्ति संबंधी मान्यतायें-६१, यापनीय सम्प्रदाय की उत्पत्ति संबंधी मान्यताओं का निष्कर्ष-६२, श्वेताम्बर संप्रदाय के उपसम्प्रदाय-६२, श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संप्रदाय- ६३, श्वेताम्बर अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय-९२, लोकाशाह का काल-९२, लोकागच्छ का विभाजन-९३, दिगम्बर सम्प्रदाय के उपसंप्रदाय- १००, यापनीय संप्रदाय के उपसंप्रदाय, ११३,

चतुर्थ अध्याय : विभिन्न सम्प्रदायों की दर्शन सम्बन्धी

मान्यताएँ

१२१-१५४

दर्शन शब्द का अर्थ-१२१, तत्त्व की संख्या का प्रश्न-१२२, काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने का प्रश्न-१२५, पुद्गल के बन्ध के नियम सम्बन्धी मतभेद-१२६, जीव-१२८, जीव के भेद १३०, त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण का प्रश्न-१३२, जगत की अवधारणा सम्बन्धी मतभेद-१३४, कर्म सिद्धान्त संबंधी मतभेद-१३६, परमात्मा-१३९, मोक्ष-१४०, स्त्री मुक्ति का प्रश्न-१४२, केवली भुक्ति की अवधारणा संबंधी मतभेद-१४९, केवली में ज्ञान और दर्शन के भेद-अभेद का प्रश्न-१५२

पंचम अध्याय : विभिन्न सम्प्रदायों की श्रमणाचार सम्बन्धी

मान्यताएँ

१५५-१९५

आचार के भेद-१५५, श्रमण का अर्थ-१५५, श्रमण दीक्षा-१५६ श्वेताम्बर परम्परानुसार श्रमण के मूलगुण-१५९, दिगम्बर परम्परानुसार श्रमण के मूलगुण-१६०, श्रमण के मूलगुणों की समीक्षा-१७४, भिक्षाचर्या-१७४, आहार-१७७, विहार-१८०, वर्षावास-१८१, उपकरण-१८४, वस्त्र-१८५, पात्र-१८६, रजो-हरण-१८७, मुखवस्त्रिका-१८८, प्रतिलेखना-१८९, प्रतिक्रमण-१९०, समाधिमरण-१९२,

षष्ठम अध्याय : विभिन्न सम्प्रदायों की श्रावकाचार सम्बन्धी

मान्यताएँ

१९६-२२७

श्रावक का अर्थ-१९७, श्रावक की पहचान-१९७, श्रावकाचार-१९८, आगमों में श्रावकाचार-१९८, अणुव्रत-१९९, पाँच अणु-व्रत एवं अतिचार-२००, तीन गुणव्रत एवं अतिचार-२०८, चार शिक्षाव्रत एवं अतिचार-२१३, सल्लेखना-२२१, प्रति-माएँ-२२३, पूजाविधि-२२४,

सप्तम अध्याय : उपसंहार

२२८-२३५

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

२३६-२४६



प्रथम अध्याय

जैनधर्म का उद्भव और विकास

जैन धर्म का उद्भव :

भारतीय संस्कृति श्रमण और ब्राह्मण संस्कृतियों का समन्वित रूप है। जहाँ श्रमण संस्कृति तप-त्याग एवं ध्यान साधना प्रधान रही है, वहीं ब्राह्मण संस्कृति यज्ञ-याग मूलक एवं कर्मकाण्डात्मक रही है। हम श्रमण संस्कृति को आध्यात्मिक एवं निवृत्तिमूलक (सन्यासमूलक) भी कह सकते हैं, जबकि ब्राह्मण संस्कृति को सामाजिक एवं प्रवृत्तिमूलक कहा जा सकता है। इन दोनों संस्कृतियों के मूल आधार मानव-प्रकृति में निहित वासना और विवेक अथवा भोग और योग (संयम) के तत्त्व ही है। यहाँ हम इन दोनों संस्कृतियों के विकास के मूल उपादानों एवं उनके क्रम तथा वैशिष्ट्य की चर्चा में न जाकर मात्र उनके ऐतिहासिक अस्तित्व को ही अपनी विवेचना का विषय बनायेंगे।

भारतीय संस्कृति के इतिहास को जानने के लिए प्राचीनतम साहित्यिक स्रोत के रूप में वेद और प्राचीनतम पुरातात्विक स्रोत के रूप में मोहनजोदड़ो एवं हरप्पा के अवशेष ही हमारे आधार हैं। संयोग से इन दोनों ही आधारों अथवा साक्ष्यों से भारतीय श्रमणधारा के अति प्राचीन काल में भी उपस्थित होने के संकेत मिलते हैं। ऋग्वेद भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। यद्यपि इसकी अति प्राचीनता के अनेक दावे किये जाते हैं और मीमांसक दर्शनधारा के विद्वान तो इसे अनादि और अपौरुषेय भी मानते हैं फिर भी इतना निश्चित है कि ईस्वी पूर्व १५०० वर्ष पहले यह अपने वर्तमान स्वरूप में अस्तित्व में आ चुका था। इस प्राचीनतम ग्रन्थ में हमें श्रमण संस्कृति के अस्तित्व के संकेत उपलब्ध होते हैं। वैदिक साहित्य में भारतीय संस्कृति की इन श्रमण और ब्राह्मण धाराओं का निर्देश क्रमशः आर्हत और बार्हत धाराओं के रूप में मिलता है। साथ ही मोहनजोदड़ो के उत्खनन से प्राप्त वृषभ युक्त ध्यान मुद्रा में योगियों की सीलें इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि ऋग्वेद के रचनाकाल के पूर्व भी भारत में श्रमणधारा का न केवल अस्तित्व था, अपितु वही एकमात्र प्रमुख धारा थी। क्योंकि मोहनजोदड़ो और हरप्पा के उत्खनन

में कहीं भी यज्ञवेदी उपलब्ध नहीं हुई है, इससे यहो सिद्ध होता है कि भारत में तप एवं ध्यान प्रधान आर्हत परम्परा का अस्तित्व अति प्राचीन काल से ही रहा है।

यदि हम जैन धर्म के प्राचीन नामों के सन्दर्भ में विचार करें तो यह सुस्पष्ट है कि प्राचीन काल में यह आर्हत धर्म के नाम से ही प्रसिद्ध रहा है। वास्तविकता तो यह है कि जैन धर्म का पूर्व रूप आर्हत धर्म था। ज्ञातव्य है कि जैन शब्द महावीर के निर्वाण के लगभग १००० वर्ष पश्चात् ही कभी अस्तित्व में आया है। सातवीं शती से पूर्व हमें कहीं भी जैन शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है। यद्यपि इसके स्थान पर श्रमण धर्म,^१ निर्ग्रन्थ प्रवचन,^२ जिनशासन,^३ जिनमार्ग,^४ जिनवचन^५ के उल्लेख प्राचीन हैं। किन्तु अर्हत, श्रमण, जिन आदि शब्द बौद्धों एवं अन्य श्रमण-धाराओं में भी समान रूप से प्रचलित रहे हैं। अतः जैन परम्परा की उनसे पृथक्ता की दृष्टि से पार्वनाथ के काल में यह धर्म निर्ग्रन्थ धर्म के नाम से जाना जाता था। जैन आगमों से यह ज्ञात होता है कि ई० पू० पाचवीं शती में श्रमणधारा मुख्य रूप से ५ भागों में विभक्त थी— १. निर्ग्रन्थ, २. शाक्य, ३. तापस, ४. गैरुक और ५. आजीवक^६। वस्तुतः जब श्रमणधारा विभिन्न वर्गों में विभाजित होने लगी तो जैन धारा के लिये पहले 'निर्ग्रन्थ' और बाद में 'ज्ञातपुत्रीय श्रमण' शब्द का प्रयोग होने लगा। न केवल पाली त्रिपिटकों एवं जैन आगमों में अपितु अशोक (ई० पू० ३ शती) के शिलालेखों में भी जैन धर्म का उल्लेख निर्ग्रन्थ धर्म के रूप में ही मिलता है।^७

१. दशवैकालिकसूत्र, ८।४२

२. (क) व्याख्याप्रज्ञप्ति, १।३३।३०, (ख) ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, १।११५

३. (क) दशवैकालिकसूत्र, ८।२५, (ख) ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, १।११५
(ग) पद्मपुराण १।४।३।४५, ६।४।४५ (घ) हरिवंशपुराण, १।१।१०५, ४३।८८

४. पद्मपुराण, ४।१।१९, ५।३।६७

५. (क) उत्तराध्ययनसूत्र ३।६।२६०, (ख) पद्मपुराण, १।४।२५१

६. पिण्डनियुक्ति, ४।४५

७. (क) निगमंथ धम्मम्मि इमा समाही—सूयगडो, जैन विश्वभारती लाहन्, २।१६।४२

(ख) निगण्ठो नाटपुत्तो—दंघनिकाय, महापरिनिव्वानमुत्त-सुभषपरिव्वज्जक-वत्थन, ३।१२३।८६

वस्तुतः पार्श्वनाथ एवं महावीर के पूर्व सम्पूर्ण श्रमणधारा आर्हत परम्परा के रूप में ही उल्लिखित होती थी और इसमें न केवल जैन, बौद्ध, आजीवक आदि परम्परायें सम्मिलित होती थीं, अपितु औपनिषदिक-ऋषि परम्परा और सांख्य-योग की दर्शनधारा एवं साधना परम्परा भी इसी में समाहित थी। यह अलग बात है कि औपनिषदिक धारा एवं सांख्य-योग परम्परा के बृहद् हिन्दूधर्म में समाहित कर लिये जाने एवं बौद्ध तथा आजीवक परम्पराओं के इस देश में मृत प्रायः हो जाने पर जैन परम्परा को पुनः पूर्वं मध्ययुग में आर्हत धर्म नाम प्राप्त हो गया। किन्तु वेदों में जिस आर्हत परम्परा की चर्चा है, वह एक प्राचीन एवं व्यापक परम्परा है। ऋषिभाषित नामक जैन ग्रन्थ में नारद, असितदेव, याज्ञवल्क्य, अरुण, उद्दालक, अंगिरस, पाराशर आदि अनेक औपनिषदिक ऋषियों का अर्हत् ऋषि के रूप में उल्लेख है। साथ ही सारिपुत्र, महाकश्यप आदि बौद्ध श्रमणों एवं मंखलीगोशाल, संजय आदि अन्य श्रमण परम्परा के आचार्यों का भी अर्हत् ऋषि के रूप में उल्लेख हुआ है।^१

बौद्ध परम्परा में बुद्ध के साथ-साथ अर्हत् अवस्था को प्राप्त अन्य श्रमणों को अर्हत् कहा जाता था। प्राचीन काल में धर्म वस्तुतः निवृत्ति-प्रधान सम्पूर्ण श्रमणधारा का ही वाचक रहा है। वेदों में जैन धर्म की प्राचीनता का निर्देश करने वाले जो सन्दर्भ उपलब्ध हैं उनमें अर्हत् एवं आर्हत के साथ-साथ यति, ब्राह्म्य आदि के भी उल्लेख मिलते हैं, वैदिक साहित्य में उल्लिखित यति एवं ब्राह्म्य श्रमण परम्परा या जैन परम्परा से ही संबंधित प्रतीत होते हैं।

यति एवं ब्राह्म्य :

ऋग्वेद में अर्हत्तों के अतिरिक्त यतियों एवं ब्राह्म्यों के भी उल्लेख मिलते हैं, किन्तु इनका संबंध किस परम्परा से है, यह प्रश्न विचारणीय है। डा० हीरालाल जैन के अनुसार 'यति एवं ब्राह्म्य ब्राह्मण परम्परा के

(ग) निगंठेषु पि मे कटे इमे वियापटा होर्हंति—जैन शिलालेख संग्रह, भाग-२, लेख क्रमांक १

उद्धृत—प्रो० सागरमल जैन—ऋग्वेद में अर्हत् और ऋषभवाची

ऋचायें : एक अध्ययन, श्रमण, अप्रैल-जून १९९३

१. इसिभासियाइसुताइं—प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर १९८८

दृष्टव्य है—भूमिका, प्रो० सागरमल जैन, पृष्ठ १९-२०

न ह्येकर श्रमण परम्परा के ही साधु सिद्ध होते हैं' ।^१ श्रमण संस्कृति में यति एवं व्रती शब्द आज भी प्रचलन में है तथा मुनियों की तरह ही व्रती एवं यति भी पूजनीय माने जाते हैं । जैन आगम ग्रन्थों में भी यति शब्द का प्रयोग पाया जाता है ।^२ यति शब्द की नियुक्ति इस प्रकार दी गई है—“जयमाणगो जई होई”^३, “जतमाणतो जति”^४ । इसी प्रकार बृहत्कल्प की टीका में ‘यति’ शब्द को परिभाषित करते हुए कहा गया है—“यतते सर्वात्मना संयमानुष्ठानेष्विति यतिः ।”^५ यति शब्द की ये अनेक परिभाषाएँ जो जैन आगमों, नियुक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों, टीकाओं एवं अन्य सिद्धान्त ग्रन्थों में मिलती हैं, वे यह सिद्ध करती हैं कि यति शब्द श्रमण संस्कृति और विशेष रूप से जैन संस्कृति से संबंधित है ।

व्रती शब्द का प्रयोग जैन ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र में भी हुआ है, इसमें माया, निदान और मिथ्यादर्शन—इन तीन बाल्यों से रहित व्यक्ति को व्रती कहा गया है । साथ ही यह भी बताया गया है कि व्रती के दो रूप हैं—आगारी और अनगारी । इन्हें क्रमशः श्रावक और श्रमण भी कहा गया है ।^६ व्रात्य शब्द का अर्थ व्रती शब्द की तरह ही है । इसका अर्थ है—व्रतों का पालन करने वाला । अथर्ववेद में एक व्रात्यकाण्ड है जिसमें व्रात्य को विद्वत्तम, महाधिकारी, पुण्यशील, विश्व-सन्मान्य और ब्राह्मण-विशिष्ट कहा गया है ।^७ मनुस्मृति^८ एवं प्रश्नोपनिषद^९ में भी व्रात्य शब्द का प्रयोग हुआ है ।

१. जैन, हीरालाल—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १८
२. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, २४।१२ (ख) पिंडनियुक्ति, १२४
(ग) भक्तपङ्कजा पङ्कज्यं, गाथा १२
३. जैन लक्षणावली, भाग ३, पृष्ठ ९४१
४. दशवैकालिकचूर्ण, पृ० २३३; उद्धृत—निरुक्त कोश—सम्पा० युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृष्ठ ११०
५. बृहत्कल्पटीका, पृष्ठ ६३; उद्धृत—निरुक्त कोश—सम्पा० युवाचार्य महाप्रज्ञ, पृष्ठ १११
६. तत्त्वार्थसूत्र, ७।१३-१४
७. अथर्ववेद, सायणभाष्य, १५.१.१.१; उद्धृत—भास्कर, भागचन्द्र—जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृष्ठ १२
८. मनुस्मृति, २।३९
९. प्रश्नोपनिषद, २।११

इस प्रकार हम देखते हैं कि यति एवं ब्राह्मण—ये दोनों ही शब्द प्राचीन समय के वैदिक साहित्य में बहु-प्रचलित रहे हैं। इनसे प्राचीनतम काल में भी श्रमण संस्कृति के अस्तित्व का संकेत मिलता है। इस दृष्टि से जैनधर्म को भी पर्याप्त प्राचीन धर्म माना जा सकता है।

तीर्थंकरों से पूर्व की स्थिति :

जैनधर्म में तीर्थंकरों का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। तीर्थंकरों के जन्म से पूर्व समस्त सृष्टि भोग भूमि के रूप में प्रसिद्ध थी। उस समय पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवस्था नहीं थी और नागरिक सभ्यता का विकास नहीं हो पाया था। उस समय जीवन-यापन के लिए व्यक्ति पशुपालन, खेती अथवा व्यवसाय आदि भी नहीं करते थे। उनके भोजन आदि की पूर्ति वृक्षों या वनोपज से ही हो जाती थी।^१ परम्परा की दृष्टि से यह कहा गया है कि कल्पवृक्ष ही उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर देने थे। धीरे-धीरे मानव सभ्यता का विकास हुआ और इसके साथ ही सामाजिक एवं पारिवारिक व्यवस्था की स्थापना हुई तथा विविध कलाओं का जन्म हुआ, जिससे यह भोगभूमि कर्मभूमि बन गयी। सभ्यता के इस क्रमिक विकास को कालचक्र की अवधारणा के द्वारा समझा जा सकता है।

कालचक्र :

जैन परम्परानुसार सम्पूर्ण कालचक्र को दो भागों में विभक्त किया गया है—(१) अवसर्पिणी काल और (२) उत्सर्पिणी काल। प्रत्येक काल को पुनः छह भागों में विभाजित किया गया है।^२

अवसर्पिणी काल :

- (१) सुषमा-सुषमा काल
- (२) सुषमा काल
- (३) सुषमा-दुःषमा काल
- (४) दुःषमा-सुषमा काल
- (५) दुःषमा काल
- (६) दुःषमा-दुःषमा काल

१. समवायांगसूत्र, १०।६६

२. (क) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, २।२४

(ख) तिलोयपण्णत्ति, ४।३१५-३१९

(ग) तित्थोनाली पद्दण्यं, गाथा १६-४८

उत्तरार्पणी काल :

- (१) दुःषमा-दुःषमा काल
- (२) दुःषमा काल
- (३) दुःषमा-सुषमा काल
- (४) सुषमा-दुःषमा काल
- (५) सुषमा काल
- (६) सुषमा-सुषमा काल

(१) सुषमा-सुषमा काल :

यह काल सर्वाधिक सुख वाला काल कहा गया है। इस काल में रहने वालों को वाणिज्य, व्यवसाय, खेती, पशुपालन आदि कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। पृथ्वी हरे-भरे वृक्षों से आच्छादित रहती है उनसे मधुर, रसदार तथा स्वास्थ्य एवं शक्तिवर्द्धक फल प्राप्त हो जाते हैं।^१ जैन शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है कि इस काल में संकल्प मात्र से ही मनोवांछित सामग्री प्राप्त हो जाती थी। हरिवंशपुराण में विविध प्रकार के कल्पवृक्षों का उल्लेख करते हुए यह भी बतलाया गया है कि मनुष्यों की कौन-कौनसी आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार के कल्पवृक्षों से हो जाती थी।^२ इस काल के मनुष्य हृष्ट-पुष्ट, रूपवान् तथा अधिक आयु वाले होते हैं। ईर्ष्या, रोग-शोक, आधि-व्याधि का इस काल में सर्वथा अभाव था। अतः यह काल सर्वश्रेष्ठ-काल माना जाता है।

(२) सुषमा काल :

सुषमा-सुषमा काल की समाप्ति के पश्चात् सुषमा काल प्रारम्भ होता है। यद्यपि यह काल भी सुखद ही माना गया है तथापि इस काल में सुषमा-सुषमा काल की अपेक्षा सुख की मात्रा में कुछ कमी आ जाती है। कल्पवृक्षों से प्राप्त फल अब उतने मधुर, रसप्रद तथा स्वास्थ्य और शक्तिवर्द्धक नहीं रहते, जितने सुषमा-सुषमा काल में थे। इस काल में भी मनुष्य हृष्ट-पुष्ट एवं रूपवान् तो होते हैं, किन्तु सुषमा-सुषमा काल की अपेक्षाकृत कम। इस काल में भी ईर्ष्या, रोग-शोक, आधि-व्याधि आदि का अभाव माना गया है।

१. तिलोयपण्णत्ति, ४।३४१

२. हरिवंशपुराण, ७।८०-९९

उपरोक्त दोनों कालों के बारे में एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस युग में भाई-बहिन ही दम्पती बनकर सुखोपभोग एवं सन्तनोत्पत्ति करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि इस काल में परिवार तो होता है तथापि सामाजिक दृष्टि से पारिवारिक व्यवस्था नहीं होती है।

(३) सुषमा-दुःषमा काल :

सुषमा-दुःषमा नामक तीसरे काल में सुख की मात्रा अधिक और दुःख की मात्रा कम मानी गयी है। इस काल में कल्पवृक्षों से पहले की भाँति मधुर एवं स्वादिष्ट फल नहीं मिलते हैं और जो मिलते हैं उनसे मनुष्यों का जीवनयापन नहीं हो पाता है। इसलिए मनुष्यों को खेती, पशुपालन, व्यवसाय-व्यापार आदि कर्म करने होते हैं। इस काल में समाज-व्यवस्था की दृष्टि से राज्य अस्तित्व में आता है तथा दण्ड आदि के कुछ नियम बन जाते हैं। ऐसा माना जाता है कि मनुष्यों को विविध प्राकृतिक परिवर्तनों के अनुरूप जीवनयापन करने की शिक्षा देने-वाले कुलकर इसी काल में उत्पन्न होते हैं।

इस काल के अन्तिम चरण में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का जन्म होना माना गया है। सुषमा काल का उल्लेख करते समय हमने बतलाया था कि उस काल तक भाई-बहिन ही दम्पती बनकर जीवन व्यतीत करते थे, किन्तु ऋषभदेव ने ही सर्वप्रथम भाई-बहिन के दम्पती बनने की इस प्रथा को समाप्त किया और उन्होंने स्वयं एक मृत यौगलिक पुरुष को सहोदरा सुनन्दा से विवाहकर नई विवाह पद्धति को प्रारम्भ किया। इसी प्रकार अपने पुत्रों का विवाह भी अपनी पुत्रियों से नहीं करके विवाह-प्रथा का निर्माण किया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस काल में सुख के साथ-साथ आंशिक दुःख भी प्रारम्भ हो गए थे। साथ ही सामाजिक व्यवस्था का विकास भी इसी काल में हुआ था।

(४) दुःषमा-सुषमा काल :

दुःषमा-सुषमा नामक चतुर्थ काल में कल्पवृक्षों का सर्वथा अभाव हो जाता है। इस युग में मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए खेती, पशुपालन एवं व्यवसाय आदि पर ही पूर्णतः निर्भर रहना पड़ता है। रोग-शोक, आधि-व्याधि, क्रोध, मान, माया, लोभ, भय आदि में भी पूर्व की अपेक्षा अब वृद्धि हो जाती है। मनुष्य चोरी-छिपे अनैतिक कार्य एवं पापकर्म करने लग जाते हैं। उनके परिष्कार के लिये धार्मिक

८ : जैनधर्म के सम्प्रदाय

भावनाएँ भी इसी काल में बलवती होती हैं। जैन परम्परा में यह काल अतिमहत्वपूर्ण है क्योंकि इस काल में ही ऋषभदेव के अतिरिक्त शेष सभी तेईस तीर्थंकर हुए थे।^१

(५) दुःषमा काल :

वर्तमान समय को जैन परम्परानुसार दुःषमा काल कहा गया है। इस काल में जलवायु में व्यापक परिवर्तन आ जाता है, कहीं अतिवृष्टि तो कहीं अनावृष्टि होती दिखाई देती है। मनुष्यों की तृष्णा अधिक हो जाती है। परिणामस्वरूप छल-कपट, व्याभिचार आदि दुष्प्रवृत्तियों में वृद्धि होने लगती है। वर्गभेद, वर्णभेद, जातिभेद आदि की प्रचुरता इस काल में दिखाई देती है। परोपकार, सदाचार, सच्चाई, मैत्रीभाव आदि सद्गुणों की अल्पता तथा दुराचार एवं दुर्गुणों की अधिकता होती है। रोग-शोक, आधि-व्याधि आदि भी इस काल में अधिक होते दिखाई देते हैं। इस प्रकार इस काल में दुःख की मात्रा अधिक और सुख की मात्रा कम हो जाती है।

(६) दुःषमा-दुःषमा काल :

अवसर्पिणी काल का अन्तिम एवं उत्सर्पिणी काल का प्रथम काल दुःषमा-दुःषमा काल बतलाया गया है। यह काल दुःख से परिपूर्ण माना गया है। जैन मान्यतानुसार इस काल में जो भी प्राणी बचेंगे, वे असहनीय दुःख-पीड़ा, रोग-शोक, काम-क्रोध, लोभ, भय, मद, अहंकार आदि से ग्रसित रहेंगे। सर्वत्र अशान्ति, कलह और पापकर्मों की अधिकता रहेगी। व्यापार, पशुधन, वनस्पति आदि समाप्त हो जाएँगे।

यह काल अवसर्पिणी काल है। इसके अवसान के पश्चात् पुनः उत्सर्पिणी नामक दूसरे कालचक्र का प्रवर्तन होगा। इस प्रकार विश्व में उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी और अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी यह कालक्रम चलता ही रहेगा।

कुलकर :

प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में तीर्थंकरों के जन्म से पूर्व कुलकर उत्पन्न होते हैं। इनका कार्य समाज व्यवस्था और दण्ड व्यवस्था की स्थापना करना होता है।

इस अवसर्पिणी काल में तीर्थंकरों से पूर्व हुए कुलकरों की संख्या विविध जैन ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न बतलाई गई है। स्थानांगसूत्र^१, समवायांगसूत्र^२, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र^३, आवश्यकचूर्ण^४, आवश्यकनियुक्ति^५ और त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र^६ में जहाँ सात कुलकरों के नाम मिलते हैं, वहीं तिलोयपण्णत्ति^७, पउमचरियं^८, महापुराण^९ तथा सिद्धान्त संग्रह^{१०} आदि में चौदह एवं जम्बुद्वीपप्रज्ञप्ति^{११} में पन्द्रह नाम मिलते हैं।

तिलोयपण्णत्ति में कुलकर एवं मनु दोनों ही शब्दों का प्रयोग करके हिन्दु संस्कृति एवं जैन संस्कृति के मध्य समन्वय किया गया है।^{१२} हरिवंशपुराण में कुलकर के नामों एवं उनके विविध कार्यों का भी उल्लेख हुआ है।^{१३}

इन कुलकरों ने कर्मभूमि में सभ्यता के प्रारम्भिक युग में समाज व्यवस्था दी तथा अपने चरित्र एवं आचरण द्वारा अच्छे-बुरे का भेद करना सिखाया तथा दुराचरण हेतु दण्ड व्यवस्था की।^{१४} ग्रन्थकारों ने कहा है कि कुलकर ही तीर्थंकरों से पूर्व मानव संस्कृति के पूर्ण रक्षक थे।^{१५}

त्रै सत्शलाकापुरुष :

कुलकरों के पश्चात् जिन महापुरुषों ने कर्मभूमि पर मानव सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा की थी, उन्हें शलाकापुरुष कहा जाता है। शलाका-

१. स्थानांगवृत्ति, सूत्र ७६७
२. समवायांगसूत्र, २४।१६०
३. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, ५।५।६
४. आवश्यकचूर्ण, पत्र १२९
५. आवश्यकनियुक्ति, मलयः वृत्ति, गाथा १५२, पृष्ठ १५४
६. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, १।१।१४२-२०६
७. तिलोयपण्णत्ति, ४।५०४
८. पउमचरियं, ३।५०-५५
९. महापुराण-जिनसेन, ३।२२९-२३२
१०. सिद्धान्त संग्रह, पृ० १८
११. जम्बुद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र, २।३५
१२. तिलोयपण्णत्ति, ४।४२१-५०९
१३. हरिवंशपुराण, ७।१२२-१७०
१४. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० १०
१५. महापुराण, ३।२११-२३२

१० : जैनधर्म के सम्प्रदाय

पुरुष का तात्पर्य विशेष गणमान्य व्यक्तियों से है। कुलकरो के पश्चात् ऐसे त्रेसठ महापुरुष हुए हैं, जो शलाकापुरुष माने जाते हैं। जैन पुराणों में इनका वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। इन त्रेसठशलाका पुरुषों में चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायण हैं।^१ विस्तार में नहीं जाते हुए हम मात्र इनका नामो-ल्लेख ही करेंगे।

चौबीस तीर्थंकर :

(१) ऋषभदेव,	(२) अजितनाथ,	(३) संभवनाथ,
(४) अभिनन्दन,	(५) सुमतिनाथ,	(६) पद्मप्रभ,
(७) सुपाश्वनाथ,	(८) चन्द्रप्रभ,	(९) पुष्पदंत,
(१०) शीतलनाथ,	(११) श्रेयांसनाथ,	(१२) वासुपूज्य
(१३) विमलनाथ,	(१४) अनन्तनाथ,	(१५) धर्मनाथ,
(१६) शान्तिनाथ,	(१७) कुन्धुनाथ,	(१८) अरहनाथ,
(१९) मल्लिनाथ,	(२०) मुनि सुव्रत,	(२१) नेमिनाथ,
(२२) अरिष्टनेमि,	(२३) पाश्वनाथ और	(२४) महावीर ।

बारह चक्रवर्ती :

(२५) भरत,	(२६) सगर,	(२७) मघवा,
(२८) सनत्कुमार,	(२९) शान्ति,	(३०) कुन्धु,
(३१) अरह,	(३२) सुभौम,	(३३) पद्म,
(३४) हरिषेण	(३५) जयसेन और	(३६) ब्रह्मदत्त ।

नौ बलभद्र :

(३७) अचल,	(३८) विजय,	(३९) भद्र,
(४०) सुप्रभ,	(४१) सुदर्शन,	(४२) आनन्द,
(४३) नन्दन,	(४४) पद्म और	(४५) राम ।

नौ नारायण :

(४६) त्रिपृष्ठ,	(४७) द्विपृष्ठ,	(४८) स्वयंभू,
(४९) पुरुषोत्तम,	(५०) पुरुषसिंह,	(५१) पुरुषपुण्डरीक,
(५२) दत्त,	(५३) नारायण और	(५४) कृष्ण ।

नौ प्रति-नारायण :

१. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० १०

(५५) अश्वघोष, (५६) तारक, (५७) मेरक,
 (५८) मधु, (५९) निशुम्भ, (६०) बलि,
 (६१) प्रह्लाद, (६२) रावण और (६३) जरासंध ।

इन त्रैसठ शलाकापुरुषों में सर्वप्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का नाम आता है किन्तु उनके सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा करने से पूर्व हम तीर्थंकर की अवधारणा पर विचार करेंगे ।

तीर्थंकर :

तीर्थंकर शब्द की परिभाषा अनेक रूपों में की गई है, यथा—

“तित्थयरे भगवते अणुत्तरपरक्कमे अमिग्रनाणी ।

तिण्णे सुगइगइगए सिद्धिपहपदेसए वंदे ॥”^१

“तरन्ति संसारं येन भव्यास्तत्तीर्थम् ।”^२

“तित्थं चाउवण्णो संघो तं जेहि कयं ते तित्थंकरा ।”^३

अर्थात् जो अनुपम पराक्रम के धनी हैं, संसार-सागर से पार उतारने वाले हैं एवं चतुर्विध संघ के संस्थापक हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं । जैन आगमों, सिद्धान्त ग्रन्थों, चरित्र ग्रन्थों एवं अन्य पौराणिक ग्रन्थों में तीर्थंकर शब्द का प्रयोग हुआ है । यह शब्द सर्वप्रथम कब एवं किस रूप में प्रचलित हुआ था, यह खोजना तो इतिहास का विषय है किन्तु प्राचीन आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं के उक्त उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि तीर्थंकर शब्द अति प्राचीन है । यद्यपि आज यह शब्द जैनधर्म का एक पारिभाषिक शब्द है, किन्तु प्राचीनकाल में सभी धर्मप्रणेता तीर्थंकर कहे जाते थे । बौद्ध साहित्य में तीर्थंकर शब्द कई स्थानों पर प्रयुक्त हुआ है । वहाँ निग्रन्थ ज्ञातपुत्र (भगवान महावीर) के अतिरिक्त मंखीलमोशाल, प्रकुधकात्पायन, संजयवेलट्टिपुत्र आदि को भी तीर्थंकर कहा गया है ।^४

जैनधर्म में चौबीस तीर्थंकर माने गए हैं । तीर्थंकरों के उल्लेख

१. आवश्यकनियुक्ति, गाथा ८०

२. भगवती आराधना, गाथा ३०२

३. आवश्यकचूर्णि, ८५

४. दीर्घनिकाय, पृष्ठ १७-१८; उद्धृत-गुप्त, रमेशचन्द्र-तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार, पृष्ठ २७

आचारंगसूत्र^१, स्थानांगसूत्र^२, समवायांगसूत्र^३, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र^४, उत्तराध्ययनसूत्र^५ तथा जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र^६ आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। जैनधर्म के चौबीस तीर्थंकरों के समान ही बौद्धधर्म में चौबीस बुद्धों तथा वैदिक धर्म में चौबीस अवतारों की कल्पना की गई है।

वैदिक परम्परा में अवतार का तात्पर्य ईश्वर का भूलोक पर अवतरण है। उसमें ईश्वर को सृष्टि का कर्ता माना गया है। उनके अनुसार ईश्वर ही धर्म संस्थापना एवं दुष्टों के दमन के लिए पृथ्वी पर अवतरित होता है, किन्तु जैन परम्परानुसार तीर्थंकरों का अवतार नहीं होता है, वे अपनी साधना से ही ईश्वरत्व को प्राप्त होते हैं और धर्म को संस्थापना करते हैं। वे सृष्टि के कर्ता भी नहीं हैं।

जैन परम्परा में समवायांगसूत्र, तिलोयपण्णत्ति एवं जैन पुराणों में चौबीस तीर्थंकरों के नामोल्लेख के साथ ही इन तीर्थंकरों के पूर्वभवों के माता-पिताओं, जन्म-नगरों, चैत्यवृक्षों, जन्मादि के नक्षत्रों के साथ-साथ इनके जीवनवृत्त के भी उल्लेख मिलते हैं। जैन परम्परानुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थंकर महावीर तक कुल चौबीस तीर्थंकर हुए हैं। यहाँ हम उनका सामान्य परिचय दे रहे हैं।

-
१. आचारंगसूत्र, २।१५।७३९
 २. स्थानांगसूत्र, १।२४९-२५०, २।४३८-४४५, ३।५३५, ५।२३४, ९।६२।१
 ३. समवायांगसूत्र, ३।८।२३४, ३।९।२३७, ४।०।२३९, ४।१।१४४, ४।२।२४७
 ४. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, ९।३२।५८-५९
 ५. उत्तराध्ययनसूत्र, २३।१, २३।५
 ६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिसूत्र, २।३७

बीबीस तीर्थङ्करों का सामान्य परिचय

क्र० सं० तीर्थङ्कर नाम	जन्मस्थान	तिथि	पिता	माता	चिह्न
१. भगवान् ऋषभदेव	विनीता नगरी	चैत्रकृष्णा ८	राजा नाभिराज	रानी मरुदेवी	वृषभ
२. भगवान् अजितनाथ	विनीता नगरी	माघ शुक्ल ८	राजा जितशत्रु	रानी विजया देवी	हाथी
३. भगवान् संभवनाथ	श्रावस्ती नगर	मृगशिर शु० १४	राजा जितारि	रानी सेना देवी	अश्व
४. भगवान् अभिनन्दननाथ	अयोध्या	माघ सुदि २	राजा संवर	रानी सिद्धार्थ	कपि
५. भगवान् मुमतिनाथ	अयोध्या	वै० शु० ८	राजा मेघराज	रानी मंगला	कौच पक्षी
६. भगवान् पद्मप्रभ	कौशाम्बी	का० कृ० १२	राजा धरण	रानी सुसीमा	पद्म
७. भगवान् सुपाश्वनाथ	वारणसी	ज्येष्ठ शु० १२	राजा प्रतिष्ठ	रानी पृथ्वी	स्वस्तिक
८. भगवान् चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	पौष कृ० १२	राजा महासेन	रानी लक्ष्मणा	चन्द्रमा
९. भगवान् सुविधिनाथ	काकन्दी नगरी	मृगशिर कृ० ५	राजा सुग्रीव	रानी रामा	मकर
१०. भगवान् शीतलनाथ	भद्रिलपुर	माघ कृ० १२	राजा दुर्बुध	रानी नन्दा	श्रीवत्स
११. भगवान् श्र्यांसनाथ	सिंहपुरी	भा० कृ० १२	राजा विष्णु	रानी विष्णुदेवी	गेंडा
१२. भगवान् वासुपुत्र्य	चम्पानगरी	फा० कृ० १४	राजा वसुपुत्र्य	रानी जया	महिष
१३. भगवान् विमलनाथ	कपिलपुर	माघ शु० ३	राजा कृतवर्मा	रानी श्यामा देवी	शूकर
१४. भगवान् अनन्तनाथ	अयोध्या	वै० कृ० १३	राजा सिंहेसेन	रानी सुयक्षा	बाज

१. राशेन्द्र मूर्ति—बीबीस तीर्थङ्कर एक पर्यवेक्षण, पृ० १५८-१५९

क्र०सं० तीर्थङ्कर नाम	जन्मस्थान	तिथि	पिता	माता	चिह्न
१५. भगवान् घर्मनाथ	रत्नपुर	माघ शु० ३	राजा भानु	रानी सुन्नता देवी	बज्र
१६. भगवान् शान्तिनाथ	हस्तिनापुर	ज्येष्ठ कृष्णा १३	राजा विश्वसेन	रानी अचिरा देवी	मृग
१७. भगवान् कुन्धुनाथ	हस्तिनापुर	बै० कृ० १४	राजा शूरसेन	रानी श्रीदेवी	छाग
१८. भगवान् अरहनाथ	हस्तिनापुर	मृ० शु० १०	राजा सुदर्शन	रानी महादेवी	स्वस्तिक
१९. भगवान् मल्लिनाथ	मिथिला	मृ० शु० ११	राजा कुम्भ	रानी प्रभावती	कलश
२०. भगवान् सुव्रतनाथ	राजगृह	ज्येष्ठ कृ० ८	राजा सुमित्र	रानी पद्मावती	कूर्म (कछुआ)
२१. भगवान् नैमिनाथ	मिथिला	श्रा० कृ० ८	राजा विजय	रानी विप्रादेवी	कमल
२२. भगवान् अरिष्टनेमि	सोरियपुर	श्रा० शु० ५	राजा समुद्रविजय	रानी शिवादेवी	शंख
२३. भगवान् पार्वनाथ	वाराणसी	पौष कृ० १०	राजा अश्वसेन	रानी वामा देवी	नाग
२४. भगवान् महावीर	कुण्डपुर	चैत्र शु० १३	राज सिद्धार्थ	रानी त्रिशला	सिंह

विद्वानों ने इन चौबीस तीर्थङ्करों में से पहले तीर्थङ्कर ऋषभदेव और बाईसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि को प्रागैतिहासिक तथा तेईसवें तीर्थङ्कर पार्व्वनाथ और चौबीसवें तीर्थङ्कर महावीर को ऐतिहासिक व्यक्ति माना है। यहाँ हम इन चार तीर्थङ्करों का संक्षिप्त विवरण भी प्रस्तुत कर रहे हैं।

ऋषभदेव :

ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थङ्कर माने जाते हैं। इनके पिता नाभिराज और माता मरुदेवी थीं।^१ ऋषभदेव के जन्म के सन्दर्भ में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परानुसार ऋषभदेव का जन्म चैत्रकृष्णा अष्टमी के दिन हुआ था जबकि दिगम्बर परम्परानुसार ऋषभदेव का जन्म चैत्र कृष्णा नवमी के दिन हुआ था।^२ जैन मान्यतानुसार ऋषभदेव का काल लाखों और करोड़ों वर्ष पहले का है इसलिए उस समय के इतिहास के विषय में आज प्रामाणिक तौर पर कुछ कहना कठिन है। जनश्रुति और चरित्र ग्रन्थों के आधार पर उनके जीवनवृत्त का केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है।

ऋषभदेव का नामोल्लेख एवं उनका प्राचीन इतिहास न केवल जैन साहित्य में वरन् वैदिक साहित्य एवं बौद्ध साहित्य में भी उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में ऋषभदेव का स्पष्ट नामोल्लेख मिलता है।^३ ताण्डयब्राह्मण और शतपथब्राह्मण में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभ के पुत्र भरत का उल्लेख मिलता है।^४ उत्तरकालीन हिन्दू परम्परा के ग्रन्थों—मार्कण्डेय-पुराण, कर्मपुराण, अग्निपुराण, वायुपुराण, गरुडपुराण, ब्रह्माण्डपुराण, विष्णुपुराण तथा स्कन्धपुराण के साथ-साथ श्रीमद्भागवत् में भी ऋषभदेव से सम्बन्धित उल्लेख उपलब्ध होते हैं।^५ भागवतपुराण में ऋषभदेव

१. (क) समवायांगसूत्र, २४।१६० (ख) कल्पसूत्रम्, १९१

(ग) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति-सूत्र, २।३७

२. (क) आवश्यकनियुक्ति, १८७ (ख) कल्पसूत्रम्, १९३

(ग) महापुराण (जिनसेन), १३।१-३

३. ऋग्वेद, ४।५८।३, १०।१६६।१

४. ताण्डयब्राह्मण, १।४।२-५; शतपथब्राह्मण, ५।२।५।१०

५. मार्कण्डेयपुराण, ५०।३९-४२; कर्मपुराण, ४।१।३७-३८; अग्निपुराण, १०।१०-११; वायुपुराण, ३३।५०-५२; गरुडपुराण, १; ब्रह्माण्डपुराण, १।४।६१;

के सन्दर्भ में कहा गया है कि प्रकीर्णकेशी, शरीरमात्रपरिग्रही ऋषभदेव ब्रह्मावर्त में प्रवर्जित हुए थे। वे जटिल, कपिश केशों सहित मलिनवेश धारण किये हुए थे और इस अवधूत वेश में मौनव्रती थे।^१ बौद्ध ग्रन्थ धर्मात्तरप्रदीप में भी ऋषभदेव का नामोल्लेख मिलता है।^२

ऋषभदेव से पूर्व यौगलिक परम्परा थी। भाई-बहिन ही दम्पती के रूप में जीवन-यापन करते थे। सर्वप्रथम ऋषभदेव ने ही यौगलिक परम्परा को समाप्त करते हुए सुनन्दा एवं सुमंगला से विवाहकर एक नई विवाह पद्धति की स्थापना की थी।^३ ऋषभदेव की पत्नी सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी को तथा सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी को युगल रूप में जन्म दिया था, किन्तु यौगलिक परम्परा से हटकर ऋषभदेव ने अपने पुत्र भरत का विवाह सुन्दरी से तथा बाहुबली का विवाह ब्राह्मी से करवाया था।^४

ऋषभदेव को भारतीय सभ्यता और संस्कृति का आदिपुरुष भी माना जाता है। ऐसा माना जाता है कि पुरुषों को ७२ और स्त्रियों को ६४ कलाओं की शिक्षा ऋषभदेव ने ही दी थी। जैन मान्यता यह है कि अग्नि (सैन्य कर्म), मत्सि (वाणिज्य) और कृषि (खेती) को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय भी ऋषभ को ही प्राप्त है।

ऋषभदेव से पूर्व मानव समाज पूर्णतः प्रकृति पर आश्रित था। कालक्रम में जब मनुष्यों में संचयवृत्ति का विकास हुआ तो स्त्रियों, पशुओं और स्थाय पदार्थों को लेकर एक-दूसरे से छीना-झपटी होने लगी। ऐसी स्थिति

- बिष्णुपुराण, २।१।२७; स्कन्धपुराण-कुमारखण्ड, ३७।५७; श्रीमद्भागवत, ५।६।२८-३१; उद्धृत-तीर्थकर, बुद्ध और अवतार, पृष्ठ ६२
१. भागवतपुराण, ५।६।२८-३१; उद्धृत-भास्कर, भागचन्द-जैनदर्शन और संस्कृति का इतिहास, पृष्ठ ११४
 २. धर्मात्तरप्रदीप, पृष्ठ २८६
 ३. आवश्यकनियुक्ति, गाथा १९१
 ४. (क) श्री काललोकप्रकाश, ३२।४७-४८, (ख) आवश्यकनियुक्ति, गाथा २२४ (ग) "भगवता युगलधर्मव्यवच्छेदायभरतेन सहजाता ब्राह्मी बाहुबलिने दत्ता, बाहुबलिना सहजाता सुन्दरी भरताय।"

—आवश्यकमलयगिरिवृत्ति पृ० २००

(घ) शास्त्री, देवेन्द्रमुनि-ऋषभदेव एक परिशीलन, पृष्ठ १३७

में ऋषभदेव ने न केवल असि, मसि, कृषि आदि की शिक्षा दी, अपितु उन्होंने समाज व्यवस्था एवं शासन व्यवस्था की भी नींव डाली। उन्होंने कृषि एवं शिल्प के द्वारा अपने ही श्रम से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करना सिखाया। किन्तु मनुष्य की बढ़ती हुई भोगाकांक्षा एवं संचयवृत्ति के कारण वैयक्तिक जीवन एवं सामाजिक जीवन में जो अशांति एवं विषमता आई उसका समाधान नहीं हो सका। भगवान ऋषभदेव ने यह अनुभव किया कि भोग सामग्री की प्रचुरता भी मनुष्य की आकांक्षा एवं तृष्णा को समाप्त करने में समर्थ नहीं है। यदि वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में शांति एवं समता स्थापित करनी है तो मनुष्य को त्याग एवं संयम के मार्ग की शिक्षा देनी होगी। तब उन्होने स्वयं परिवार एवं राज्य का त्याग करके वैराग्य का मार्ग अपनाया और लोगों को त्याग एवं वैराग्य की शिक्षा देना प्रारम्भ किया था।

अरिष्टनेमि :

वर्तमान अवसर्पिणो काल के बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि हैं।^१ इनके पिता राजा समुद्रविजय और माता रानी शिवादेवी थीं। इनका जन्म श्रावण शुक्ला पंचमी को सोरियपुर नगर में हुआ था।^२ जैन मान्यतानुसार अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। जैन आचार्यों ने अरिष्टनेमि के साथ-साथ श्रीकृष्ण के जीवन-चरित्र का भी विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। जैन हरिवंशपुराण तथा उत्तरपुराण में इन दोनों का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है।

डॉ० राधाकृष्ण के अनुसार ऋग्वेद एवं यजुर्वेद में अरिष्टनेमि का उल्लेख हुआ है।^३ अरिष्टनेमि के एक भाई रथनेमि थे, जिनका विशेष उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र में मिलता है। शीलवती राजीमति ने उन्हें संयम मार्ग से पदच्युत होने से बचाया था।^४

अरिष्टनेमि के समय में मांस भक्षण की प्रवृत्ति अत्यधिक प्रचलित थी। मांस भक्षण की इस हिंसकवृत्ति से लोगों को विमुक्त करने के लिए अरिष्टनेमि ने एक क्रान्तिकारी कदम उठाया। अपने विवाह के समय बारात में आये क्षत्रियों को मांसाहार देने के प्रयोजन से इकट्ठे किये गये

१. समवायांगसूत्र, २४।१६०

२. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय २२ (ख) कल्पसूत्रम्, १६३

३. भारतीय दर्शन, भाग १, पृष्ठ २८७

४. उत्तराध्ययनसूत्र, अध्याय २२

१८ : जैनधर्म के सम्प्रदाय

पशुओं को उन्होंने बन्धनमुक्त करा दिया तथा स्वयं विवाह किये बिना ही लौट गए। अरिष्टनेमि के इस त्याग ने उस समय समाज को झकझोरकर रख दिया। उनके इस त्याग के फलस्वरूप पशु-पक्षियों की हिंसा को भी हिंसा की परिधि में समाहित कर लिया गया। इस प्रकार अरिष्टनेमि ने अहिंसा की भावना को व्यापक आयाम दिया और वन्यजीवों की रक्षा का महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

पार्श्वनाथ :

पार्श्वनाथ को वर्तमान अवसर्पिणी काल का तेईसवाँ तीर्थंकर माना गया है।^१ श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं के मान्य ग्रन्थों में पार्श्वनाथ के माता-पिता के नामों को लेकर भिन्नता है। श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ समवायांगसूत्र, कल्पसूत्र तथा आवश्यकनिर्युक्ति में पार्श्वनाथ के पिता का नाम अश्वसेन तथा माता का नाम वामादेवी बताया गया है जबकि दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ उत्तरपुराण और पद्मपुराण में पार्श्वनाथ के पिता का नाम विश्वसेन तथा माता का नाम ब्राह्मी बताया गया है।^२ पार्श्वनाथ के जन्म समय को लेकर भी श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ—कल्पसूत्र^३, चौपनमहापुरुषचरित्र,^४ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र^५ तथा श्रीपार्श्वनाथचरित्र^६ आदि में जो उल्लेख मिलते हैं उनके अनुसार पार्श्वनाथ का जन्म पौष कृष्णा दशमी को मध्य रात्रि में हुआ था, किन्तु दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ—तिलोयपणत्ति^७ तथा उत्तरपुराण^८ के अनुसार पार्श्वनाथ का जन्म पौष कृष्णा एकादशी को हुआ था। यद्यपि दोनों परम्पराओं में पार्श्वनाथ की जन्म तिथि को लेकर मतभेद अवश्य है, किन्तु जो अन्तर बताया गया है वह कोई विशेष दूरी का नहीं है।

१. समवायांगसूत्र, २४।१६०

२. जैन, सागरमल—अर्हत्, पार्श्व और उनकी परम्परा, पृ० ११-१२

३. कल्पसूत्रम्, १५१

४. चउपनमहापुरिसचरियं, पृ० २५८

५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९।३

६. सिरिपासनाहचरियं, ३।१४०

७. तिलोयपणत्ति, ४।५७६

८. उत्तरपुराण, ७३।९३

पुनः हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दोनों ही परम्पराएँ उनका जन्म नक्षत्र विशाखा मानती हैं ।

पार्श्वनाथ की आयु १०० वर्ष की मानी गई है और ऐसा माना जाता है कि उनके निर्वाण के १७८ वर्ष पश्चात् महावीर का जन्म हुआ था । इस आधार पर पार्श्वनाथ का जन्म महावीर के जन्म से २७८ वर्ष पूर्व माना जा सकता है ।

प्रसिद्ध जैन तीर्थ सम्मेद शिखर को पार्श्वनाथ का निर्वाण स्थल मानने में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराएँ एकमत हैं, किन्तु पार्श्वनाथ की जन्मतिथि के समान ही निर्वाण तिथि को लेकर भी दोनों परम्पराओं में मतभेद है । श्वेताम्बर परम्परा पार्श्वनाथ की निर्वाण तिथि श्रावण शुक्ला अष्टमी मानती है, जबकि दिगम्बर परम्परा यह तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी का प्रदोष काल मानती है । किन्तु पार्श्वनाथ की आयु सौ वर्ष मानने में दोनों परम्पराएँ एकमत हैं ।^१

पार्श्वनाथ के जन्म और निर्वाण की तरह उनके विवाह प्रसंग को लेकर भी श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मतभेद है । श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ चौपनमहापुरुषचरित्र^२, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र^३ तथा श्रीपार्श्वनाथचरित्र^४ (देवभद्र) में पार्श्वनाथ के विवाह का उल्लेख हुआ है जबकि पार्श्वनाथ के जीवनवृत्त का उल्लेख करने वाले दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति, पद्मचरित्र, उत्तरपुराण और पार्श्वनाथचरित्र (वादिराज) में पार्श्वनाथ के विवाह का कोई उल्लेख नहीं मिलता है । इस आधार कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर परम्परा ने पार्श्वनाथ को विवाहित माना है जबकि दिगम्बर परम्परा ने उन्हें अविवाहित माना है ।

जैनों में पार्श्वनाथ के प्रति जो आस्था देखी जाती है वह अन्य किसी तीर्थंकर के प्रति नहीं देखी जाती है । देश में आज भी सर्वाधिक तीर्थ और तीर्थंकर प्रतिमाएँ पार्श्वनाथ की ही हैं । जैन उपासकों के हृदय में पार्श्वनाथ के प्रति जितनी अधिक श्रद्धा और आस्था है उतनी अधिक श्रद्धा

१. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—भगवान् पार्श्व एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृष्ठ ११५-११६

२. चउपनमहापुरिसचरियं, २६१

३. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, ९।३

४. सिरिपासणाहचरियं, ३।१६२-१६३

और आस्था न तो आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रति है और न ही अन्तिम तीर्थंकर महावीर के प्रति है। इस विषयक जैन मान्यता यह है कि पार्श्वनाथ का तीर्थंकर नामकर्म अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा विशिष्ट था इसलिए उनके प्रति लोगों में श्रद्धा और आस्था अधिक है।

आश्चर्यजनक तथ्य यह है कि हिन्दू और बौद्ध साहित्य में कहीं पर भी पार्श्वनाथ का नामोल्लेख नहीं मिलता है जबकि दूसरे कई तीर्थंकरों के नाम हिन्दू और बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होते हैं। हमारे मतानुसार हिन्दू परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में पार्श्वनाथ का नामोल्लेख नहीं होने का मूलभूत कारण यह है कि वेद और उपनिषद् आदि पार्श्वनाथ के समय के लगभग पूर्व के हैं, इसलिए इनमें पार्श्वनाथ का नामोल्लेख नहीं मिलता है, जहाँ तक हिन्दू परम्परा के परवर्ती साहित्य में पार्श्वनाथ का नामोल्लेख नहीं होने का प्रश्न है तो इस सन्दर्भ में हम यही कहना चाहेंगे कि अपने से भिन्न परम्परा का होने के कारण जिस प्रकार हिन्दू साहित्य में महावीर को स्थान नहीं दिया गया है, उसी प्रकार पार्श्वनाथ को भी स्थान नहीं दिया गया। यही स्थिति बौद्ध साहित्य के सन्दर्भ में भी है। बौद्ध साहित्य में भी पार्श्वनाथ का स्पष्ट नामोल्लेख तो नहीं हुआ है, किन्तु उनके चतुर्थांश का उल्लेख मिलता है। हिन्दू और बौद्ध साहित्य में भले ही पार्श्वनाथ का नामोल्लेख उपलब्ध नहीं होता हो, किन्तु प्राचीन स्तर के अनेक जैन आगमों, यथा—आचारांगसूत्र^१, सूत्रकृतांगसूत्र^२, समवायांगसूत्र^३, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र^४, उत्तराध्ययनसूत्र^५, आवश्यकनियुक्ति^६, ऋषिभाषित^७, कल्पसूत्र^८ तथा तिलोपपणत्ति^९ आदि में पार्श्वनाथ एवं उनके अनुयायियों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

-
१. आचारांगसूत्र, २।१५।७४५
 २. सूत्रकृतांगसूत्र, २।७।८४५
 ३. समवायांगसूत्र, ३।२३४
 ४. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, ९।३२।५१ (२)
 ५. उत्तराध्ययनसूत्र, २३।१२
 ६. आवश्यकनियुक्ति, गाथा २२१, २२४, २३१
 ७. ऋषिभाषियाई, अध्ययन ३१
 ८. कल्पसूत्रम्, १४८-१६०
 ९. तिलोपपणत्ति, ४।५४८, ५७६, ६६६

बाल्यावस्था में पार्श्वनाथ की कष्टना का एक मर्मस्पर्शी दृष्टान्त हमें कई जैन ग्रंथों में मिलता है। उनमें पार्श्व के जीवनवृत्त के साथ-साथ तापस कमठ से हुए उनके विवाद और नाग के उद्धार की घटना भी उल्लिखित है। यद्यपि पार्श्वनाथ के जीवनवृत्त का उल्लेख करने वाले प्राचीन आगम समवायांगसूत्र, कल्पसूत्र और आवश्यकनियुक्त में इस घटना की कहीं कोई चर्चा नहीं हुई है, किन्तु चौपनमहापुरुषचरित्र^१, पार्श्वनाथचरित्र^२ तथा उत्तरपुराण^३ में इस घटना का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि विवेकशून्य तपस्या करते हुए जब तापस कमठ अग्नि-कुण्ड में लकड़ आदि को जला रहा था तो राजकुमार पार्श्व ने उसमें एक सर्प को लकड़ी के साथ जलते हुए देखा, सर्प को जलता देखकर राजकुमार पार्श्व का हृदय कष्टना से द्रवित हो गया और उन्होंने उस तापस से कहा—“हे तपस्वी ! यह कैसा अज्ञान तप है, दया के बिना भी कहीं धर्म है ?”^४ तीर्थंकर पार्श्वनाथ द्वारा गृहस्थावस्था में ही इस प्रकार की धर्मक्रान्ति करने का यह दृष्टान्त अद्वितीय है। वस्तुतः पार्श्वनाथ ने विवेकशून्य देहदण्डन रूप तप करने का विरोध किया और तप के साथ ज्ञान और अहिंसा को समन्वित किया।

महावीर :

वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीसवें और अन्तिम तीर्थंकर महावीर माने जाते हैं।^५ महावीर का जन्म ई० पू० ५९९ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को रात्रि के अन्तिम प्रहर में हुआ था।^६ इनके पिता राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशलादेवी थीं। इनका जन्म स्थान कुण्डपुर ग्राम माना जाता है।^७

महावीर के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में अनेक बातों में मतभेद हैं। श्वेताम्बर परम्परा का मानना है कि महावीर का जीव सर्वप्रथम ब्राह्मणी देवानन्दा के गर्भ में आया था, तत्पश्चात् इन्द्र के आदेश से हरिणगमेशदेव के द्वारा उनका गर्भ सिद्धार्थ

१. चउपनमहापुरिसचरियं, २६२

२. पासनाहचरिउ, १०।१३।११०-११२

३. उत्तरपुराण, ७३।९६-११७

४. भगवान पार्श्व एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृष्ठ ११५-११६

५. समवायांगसूत्र, २४।१६०

६. जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, पूर्व पृ० २०

७. कल्पसूत्रम्, २५

की पत्नी त्रिशला की कुक्षि में प्रतिस्थापित किया गया।^१ महावीर के गर्भस्थ जीव को इस प्रकार प्रतिस्थापित करने का उल्लेख दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि महावीर के गर्भ प्रतिस्थापन की मान्यता सिर्फ श्वेताम्बर परम्परा को ही मान्य है, दिगम्बर परम्परा को यह मान्यता स्वीकार नहीं है।

महावीर के विवाह प्रसंग को लेकर भी दोनों परम्पराओं में मतभेद है। दिगम्बर परम्परा का मानना है कि महावीर के समक्ष विवाह का प्रस्ताव आया जरूर था, किन्तु अपनी वीतरागी वृत्ति के कारण उन्होंने विवाह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया और अविवाहित ही रहे। किन्तु श्वेताम्बर परम्परा का कहना है कि महावीर ने स्वयं तो विवाह प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया था, किन्तु माता-पिता के आग्रह के कारण उन्होंने यशोदा नामक परम सुन्दरी से विवाह किया था।

श्वेताम्बर परंपरा के मान्य ग्रन्थ आचारांगसूत्र द्वितीय श्रुतस्कन्ध एवं कल्पसूत्र में महावीर की पत्नी यशोदा, पुत्री प्रियदर्शना और दोहित्री शेषवती के नाम उपलब्ध होते हैं।^२ जो इस तथ्य के सूचक हैं कि उनका विवाह हुआ था। चाहे आचारांगसूत्र एवं कल्पसूत्र में महावीर के विवाह की घटना का स्पष्ट वर्णन नहीं हुआ हो, किन्तु आचारांगसूत्र में महावीर के जीवनवृत्त का वर्णन करते समय “विण्णाय-परिणयए” (विज्ञात-परिणय) शब्द प्रयुक्त हुआ है,^३ वह स्पष्टतः महावीर के विवाह सम्पन्न होने के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि इसके आगे इसी ग्रंथ में यह भी कहा गया है कि वे बालभाव से मुक्त होकर उदासीन होकर पाँचों इंद्रियों के सुख भोगने लगे।^४ यह कथन भी महावीर के विवाह सम्पन्न होने का ही सूचक है।

महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७ में ७२ वर्ष की आयु में कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि के अन्तिम प्रहर में हुआ।^५ इस सम्बन्ध में दोनों परम्परायें एकमत हैं।

१. कल्पसूत्रम्, २१-२७

२. (क) आचारांगसूत्र, २।१५।७४४ (ख) कल्पसूत्रम्, १०८-१०९

३. आचारांगसूत्र, २।१५।७४२

४. वही, २।१५।७४२

५. चौबीस तीर्थंकर एक पर्यवेक्षण, पृ० १५५-१५६

महावीर के समय में अन्धविश्वासों एवं पाखण्डों के साथ-साथ समाज में वर्णभेद की समस्या भी थी। एक ओर महावीर ने उस समय के प्रचलित अन्धविश्वासों और पाखण्डों को दूर करने का सफल प्रयास किया तो दूसरी ओर समाज में व्याप्त वर्णभेद को समाप्त करने का प्रशंसनीय कार्य भी उन्होंने ही किया था।

महावीर का सम्पूर्ण जीवन अदम्य साहस, तप-त्याग और साधना से ओत-प्रोत रहा है। विविध जैन ग्रन्थों में ऐसे अनेक दृष्टान्त देखने को मिलते हैं जिनसे महावीर के विशिष्ट व्यक्तित्व का बोध होता है।

महावीरकालीन जैनधर्म :

महावीर के समय में जैनधर्म की क्या स्थिति थी? इस पर चर्चा करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि उस समय की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थिति क्या थी? क्योंकि कोई भी धर्म अपने समय की सामाजिक एवं सांस्कृतिक स्थितियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता है।

महावीर के समय भारतीय समाज पर श्रमण परम्परा के साथ-साथ ब्राह्मण परम्परा का भी व्यापक प्रभाव था। उस काल में यज्ञ, हवन आदि धार्मिक अनुष्ठान होते रहते थे, जिनमें पशुबलि ही नहीं नरबलि तक भी दी जाती थी। समाज में बहुपत्नीप्रथा^१ तथा दहेजप्रथा^२ जैसी अनेक सामाजिक कुरीतियाँ एवं मानवीय स्वभावगत दुर्बलताएँ चरम सीमा पर थीं। मानववृत्ति तप-त्याग से हटकर भौतिक सुख-सुविधाओं में ही आनन्द का अनुभव कर रही थी। ऐसे समय में महावीर पर यह दायित्व आया कि एक ओर तो वे इन कुप्रथाओं का निराकरण करें और दूसरी ओर वे ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करें जिससे यह सम्भव हो सके कि व्यक्ति भौतिक सुख-सुविधाओं से विलग रहकर त्यागमय साधना-पूर्ण जीवन शैली द्वारा अधिकाधिक आत्मशान्ति अर्जित कर सके।

महावीर ने अपनी समसामयिक परिस्थितियों को देखकर समाज में प्रचलित कुप्रथाओं को समाप्त करने के लिए उस समय की जनभाषा (प्राकृत) में अपना उपदेश दिया। उन्होंने ऋषभदेव की दुर्धर साधना, अरिष्टनेमि की अहिंसा एवं करुणा तथा पार्श्वनाथ की विवेकशीलता को अपने आचार-दर्शन का आधार बनाया। एक ओर जहाँ उन्होंने अपने

१. उवासगदसाओ, ७।२३३

२. वही, ८।२३४

समय में क्रान्तिकारी कदम उठाकर विभिन्न अन्धविश्वासों एवं सामाजिक कुरीतियों को समाप्त किया वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपनी अनेकान्तिक दृष्टि के द्वारा दार्शनिक मतमतान्तरों में समन्वय किया ।

महावीर ने जिस समय अपने धर्म संघ की स्थापना की थी उस समय और भी अनेक धर्माचार्यों के धर्मसंघ विद्यमान थे । उस समय पार्श्व, रामपुत्र, प्रकुधकात्यायन, मंखलि गोशालक, संजयवेलट्टिपुत्र, अजितकेश-कम्बल तथा बुद्ध आदि के श्रमण संघ अस्तित्व में थे । इनके अतिरिक्त अनेक ब्राह्मण परिव्राजक भी अपने-अपने शिष्य मंडल के साथ विचरण कर रहे थे । ऐसे समय में अहिंसा-अपरिग्रह आदि की कठोर साधना तथा अनेकान्तवाद एवं स्याद्वाद जैसी समन्वयात्मक दार्शनिक पद्धति से महावीर ने जैनधर्म को सर्वोच्च स्थान पर लाकर स्थापित कर दिया । जो श्रमण-संघ उस समय विद्यमान थे उनमें से बोद्धों और आजीविकों को छोड़कर सभी श्रमण-संघ कालान्तर में नामशेष हो गए । यहाँ तक कि ईसा की आठवीं शताब्दी तक तो भारत में आजीविक भी नामशेष हो गए । बौद्ध धर्म यद्यपि भारत के बाहर अधिक पल्लवित हुआ किन्तु भारत में तो लगभग ११वीं शताब्दी के बाद वह भी समाप्त प्रायः हो गया था । इस प्रकार जहाँ भारत में अन्य श्रमण परम्परायें अपने अस्तित्व को खो रही थीं, वहीं जैनधर्म अपने व्यापक सिद्धान्तों एवं उदात्त आदर्शों के कारण प्राचीनकाल से आज तक प्राणवान् बना रहा । काल के प्रभाव से जैनधर्म की अध्यात्मपूर्ण आचार-संहिता प्रभावित तो हुई है, किन्तु उसके मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आया है ।

तीर्थकरों में मान्यता भेद :

जैनों की यह मान्यता है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और चौबीसवें तीर्थंकर महावीर के आचार में कोई विशेष भेद नहीं रहा है, किन्तु मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों की आचार-सम्बन्धी मान्यताएँ इनसे भिन्न रही हैं । उपलब्ध स्रोतों का अध्ययन करने से यह भी ज्ञात होता है कि आचारगत यह भिन्नता भी अकारण नहीं है वरन् वह उस युग के मानव स्वभाव के वैशिष्ट्य पर आधारित रही है ।

जैसा कि हम व्यवहार में भी देखते हैं कोई व्यक्ति सरलचित्त वाला होता है तो कोई वक्र चित्तवाला (कपटो), कोई व्यक्ति प्राज्ञ होता है तो कोई मूढ़ । तीर्थंकरों के उपदेश की भिन्नता भी मानव स्वभाव की भिन्नता पर आधारित रही है ।

श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ उत्तराध्ययनसूत्र में विभिन्न तीर्थ-
करों के समय का मानव स्वभाव इस प्रकार बतलाया गया है —

“पुरिमा उज्जुजडा उ, वक्कजडा य पच्छिमा ।
मज्झिमा उज्जुपण्णा उ, तेण धम्मे दुहा कए ।”^१

अर्थात् प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के समय मनुष्य सरल किन्तु मन्द बुद्धि वाले थे तथा अन्तिम तीर्थकर महावीर के समय में मनुष्य कुटिल एवं मंदबुद्धि वाले थे और (पार्श्व आदि) मध्यवर्ती बाईस तीर्थकरों के समय में मनुष्य सरल और समझदार होते थे। अतः उनकी आचारागत मान्यताएँ भी भिन्न-भिन्न हुईं।

यहाँ हम देखते हैं कि ऋषभदेव और महावीर के समय का मानव स्वभाव पार्श्व आदि मध्यवर्ती २२ तीर्थकरों के समय के मानव स्वभाव से भिन्न था। महावीर और ऋषभदेव के समय के मानव स्वभाव में आंशिक समानता और आंशिक भिन्नता दोनों थी।

दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य ग्रन्थ मूलाचार में विभिन्न तीर्थकरों के समय का मानव स्वभाव इस प्रकार उल्लिखित है—

“मज्झिमया दिढबुद्धि एयग्गमणा अमोहलक्खा य ।
तह्मा हु जह्माचरंति तं गरहंता वि सुज्झंति ॥
पुरिमचरिमादुं जह्मा चलचित्ता चेव मोहलक्खा य ।
तो सब्वपडिक्कमणं अंधलयघोडय दिट्ठंतो ॥”^२

अर्थात् मध्यवर्ती बाईस तीर्थकरों के समय में मानव दृढबुद्धि वाले, एकाग्रमन वाले तथा अमूढमन वाले होते थे, किन्तु ऋषभदेव और महावीर के समय में मानव चलचित्त वाले तथा मूढमन वाले होते थे। यही कारण था कि तीर्थकरों के आचार-नियमों में भिन्नताएँ रहीं।

पार्श्व और महावीर की मान्यता में भेद :

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परंपराओं के मान्य ग्रन्थों में मध्यवर्ती बाईस तीर्थकरों की आचारागत मान्यताएँ एक-सी बतलाई गई हैं, इसलिए हम पार्श्व को उन सबका प्रतिनिधि मानकर यहाँ चर्चा करेंगे। इसी प्रकार ऋषभ और महावीर की आचारागत मान्यताएँ भी लगभग समान रही हैं इसलिए हम महावीर को उनका प्रतिनिधि मानकर यहाँ पार्श्व

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २३।२६

२. मूलाचार, गाथा ६३१, ६३२

और महावीर की आचारगत मान्यताओं के भेद को स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे।

१. सचेलकत्व और अचेलकत्व :

जैन परंपरा में आज श्वेतांबर और दिगंबर—ये जो दो भिन्न रूप पाये जाते हैं, वह वस्तुतः पार्श्व और महावीर की पृथक्-पृथक् परंपरा के कारण ही है। एक ओर जहाँ पार्श्व सचेल (सवस्त्र) परंपरा के पोषण हैं वहीं दूसरी ओर महावीर अचेल (निर्वस्त्र) परंपरा के पोषक हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के केशी—गोतम संवाद में महावीर को अचेल धर्म का और पार्श्व को सचेल धर्म का प्रतिपादक कहा गया है।^१

सचेलकत्व और अचेलकत्व रूप इस द्विविध कल्प को और अधिक स्पष्ट करते हुए प्रो० सागरमल जैन लिखते हैं कि उत्तराध्ययनसूत्र में पार्श्व की वस्त्र व्यवस्था के सन्दर्भ में “सन्तरूत्तरो” शब्द आया है। श्वेतांबर आचार्यों ने इसका अर्थ विशिष्ट मूल्यवान् एवं बहुरंगी वस्त्र किया है, किन्तु यह बात इस शब्द के मूल अर्थ से संगति नहीं रखती है। यदि हम इस शब्द के मूल अर्थ को देखें तो ज्ञात होता है कि इसका अर्थ किसी भी स्थिति में रंगीन अथवा मूल्यवान् वस्त्र नहीं है। इसका स्पष्ट अर्थ है—अन्तरवासक और उत्तरीय। इससे यही प्रतिफलित होता है कि पार्श्वपरंपरा के साधु एक अन्तरवासक और एक उत्तरीय अथवा ओढने का वस्त्र रखते थे।^२ एक शाटकधारी निग्रन्थों के जो उल्लेख महावीर की परंपरा में मिलते हैं, वे महावीर और पार्श्व की विचारधारा के समन्वय का ही परिणाम है।

२. चातुर्याम और पंच महाव्रत :

पार्श्व और महावीर की परंपरा का एक महत्त्वपूर्ण अन्तर चातुर्याम और पंच महाव्रत रूप धर्म का है। सूत्रकृतांगसूत्र^३, स्थानांगसूत्र^४, समवायांगसूत्र^५, उत्तराध्ययनसूत्र^६, आवश्यकनियुक्ति^७ और ऋषिभाषित^८

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २३।२८-३३

२. अर्हत् पार्श्व और उनको परम्परा, पृ० २८-३०

३. सूत्रकृतांगसूत्र, २।७।८७२

४. स्थानांगसूत्र, ४।१३६

५. समवायांगसूत्र, २५।१६६

६. उत्तराध्ययनसूत्र, २३।२१-२७

७. आवश्यकनियुक्ति, गाथा २३६

८. इसिभासियाह, अध्याय ३१

आदि ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है कि पार्श्वनाथ ने चातुर्याम तथा महावीर ने पंचमहाव्रत रूप धर्म की प्ररूपणा की थी। समवायांगसूत्र में उल्लिखित पार्श्व के चातुर्याम से ऐसा प्रतीत होता है कि पार्श्व की परंपरा में परिग्रह व्रत में ही ब्रह्मचर्य व्रत समाहित था। ज्ञाताधर्मकथासूत्र में पुण्डरीक द्वारा चातुर्याम धर्म स्वीकार करने का कथन उल्लिखित है।^१ राजप्रस्नीयसूत्र में ऐसा उल्लेख है कि केशीकुमार श्रमण ने चित्तसारथी को चातुर्याम धर्म का उपदेश दिया।^२ ज्ञातव्य है कि केशीकुमार श्रमण पार्श्वनाथ के अनुयायी माने जाते हैं।

३. प्रतिक्रमण प्ररूपणा की भिन्नता :

महावीर की परंपरानुसार दैनिक कार्य करते हुए जाने-अनजाने में भी कोई दोष लगा हो अथवा न लगा हो, तो भी प्रत्येक साधु-साध्वी को प्रातःकाल एवं सांयंकाल नियमित रूप से प्रतिक्रमण करना ही होता है, किन्तु पार्श्व की परंपरा में कोई दोष लगने पर ही प्रतिक्रमण करने का विधान था। पार्श्व और महावीर की प्रतिक्रमण प्ररूपणा संबंधी उक्त मान्यता भेद को पुष्टि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परंपराओं के मान्य ग्रन्थों से हो जाती है।

श्वेताम्बर परंपरा के मान्य ग्रन्थ सूत्रकृतांगसूत्र^३ व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र^४ तथा आवश्यकनियुक्ति^५ में तथा दिगम्बर परंपरा के मान्य ग्रन्थ मूलाचार^६ में महावीर के धर्म को सप्रतिक्रमण धर्म बतलाया गया है।

१. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, १९।२३

२. राजप्रस्नीयसूत्र, २१९

३. “तुभं अंतिए चाउज्जामातो धम्मातो पंचमहव्वतियं।

सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥”

—सूत्रकृतांगसूत्र, २/७/८७२

४. “सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ॥”

—व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, १/९/२३ (२)

५. “सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।

मज्झिमयाणं जिणाणं कारणजाए पडिक्कमणं ॥”

—आवश्यकनियुक्ति, गाथा १२५८

६. “सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।

अवराहे पडिक्कमणं मज्झिमयाणं जिणवराणं ॥”

—मूलाचार, गाथा ६२८

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परंपराओं ने महावीर एवं पार्श्व की मान्यता में प्रतिक्रमण संबंधी यह भेद समान रूप से स्वीकार किया है।

४. सामायिक और छेदोपस्थापनीय चारित्र का भेद :

पार्श्व और महावीर की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह था कि महावीर ने छेदोपस्थापनीय चारित्र का उपदेश दिया था, जबकि पार्श्व ने मात्र सामायिक चारित्र का उपदेश दिया था। इस कथन के समर्थन में श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ आवश्यकनियुक्ति तथा दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ मूलाचार में कहा गया है—

“बावीसं तित्थयरा सामाइयसंजमं उवइसंति ।

छेओवट्ठावणयं पुण वयन्ति उसभो य वीरो य ।”^१

चारित्र के पाँच प्रकारों में से पहला प्रकार सामायिक चारित्र है तथा दूसरा छेदोपस्थापनीय चारित्र है। इसमें पूर्वपर्याय का छेदन करके पंच महाव्रतों का आरोपण किया जाता है। परंपरागत रूप में सामायिकसंयम को छोटी दीक्षा और छेदोपस्थापनीयसंयम को बड़ी दीक्षा कहा जाता है।

५. रात्रि भोजन निषेध का भेद :

पार्श्व की परंपरा में रात्रिभोजन का प्रचलन था या नहीं, इस विषय में यद्यपि कोई साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है तथापि सूत्रकृतांगसूत्र में यह उल्लेख मिलता है कि महावीर ने रात्रि भोजन का पृथक रूप से निषेध किया था।^२ दशवैकालिकसूत्र में रात्रिभोजन निषेध को पाँच महाव्रतों के समान ही महत्त्व देकर छोटे व्रत के रूप में स्थापित किया गया है।^३ सम्भव है कि पार्श्व के काल तक रात्रिभोजन निषेध अहिंसा महाव्रत की ‘आलोकित भोजन-पान’ नामक भावना में गृहीत रहा हो, किन्तु महावीर ने छोटे व्रत के रूप में इसे मान्यता देकर इस व्रत के महत्त्व को स्थापित किया था।

१. (क) आवश्यकनियुक्ति, गाथा १२६०

(ख) मूलाचार, गाथा ५३५

२. “से वारिया इत्थि सराइभत्तं उवहाणयं दुक्खयट्ठयाए”

—सूत्रकृतांगसूत्र १।६।३७९

३. “इच्चेइयाइं पंचमहव्वयाइं राईभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए ।”

—दशवैकालिकसूत्र, ४।१७

६. ज्येष्ठ कल्प :

चारित्र (दीक्षा) में बड़े को ज्येष्ठ कहते हैं और ज्येष्ठ को वंदन करना ज्येष्ठ कल्प है। महावीर की परम्परा में छेदोपस्थापनोपचारित्र (बड़ी दीक्षा) के आधार पर ज्येष्ठता का निर्धारण होता है जबकि पार्श्व को परम्परा में सामायिक चारित्र के आधार पर ही साधुओं की ज्येष्ठता का निर्धारण हो जाता था। उनकी मान्यता में बड़ी दीक्षा के आधार पर कोई बड़ा नहीं होता है।^१

७. मासकल्प :

पार्श्व की परंपरा में श्रमणों के लिए ऐसा कोई नियम नहीं था कि वे चातुर्मास के अतिरिक्त किसी एक स्थान पर एक माह से अधिक नहीं ठहरें, किन्तु महावीर ने अपने श्रमणों के लिये मासकल्प का विधान कर चातुर्मास के अतिरिक्त अन्य समय किसी स्थान पर एक साथ एक माह से अधिक ठहरने का निषेध कर दिया था।^२

८. पर्युषण कल्प :

वर्षाकाल में एक स्थान पर रहना पर्युषण कल्प कहलाता है। पार्श्व की परंपरा में श्रमणों के लिए वर्षाकाल में एक ही स्थान पर रहना आवश्यक नहीं था, किन्तु महावीर ने पर्युषण कल्प का विधान कर अपनी परंपरा में रहने वाले श्रमणों को वर्षाकाल (आषाढ़ पूर्णिमा से कार्तिक पूर्णिमा तक) में एक ही स्थान पर रहने के स्पष्ट निर्देश दिये थे।^३

९. राजपिण्ड कल्प :

राजा द्वारा प्रदत्त अथवा राजा के लिये बना हुआ भोजन ग्रहण करना राजपिण्ड है। पार्श्व की परंपरा के श्रमण राजपिण्ड ग्रहण कर सकते थे, किन्तु महावीर ने अपनी परंपरा में श्रमणों के लिए राजपिण्ड ग्रहण करना निषिद्ध कर दिया था।^४

पार्श्व और महावीर की मान्यता संबंधी भेदों की जो चर्चा हमने यहाँ की है उससे ज्ञात होता है कि पार्श्व और महावीर की परंपरा में जो भी

१. पंचाशक (हरिभद्रसूरि), सूत्र ८२३

२. वही, सूत्र ८२९

३. वही, सूत्र ८३२

४. श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ३, पृ. २३७-२३८

भेद रहा है वह सब आचार संबंधी मान्यताओं को लेकर ही है। दर्शन विषयक कोई भेद इन दोनों की मान्यताओं में रहा हो, ऐसा हमें ज्ञात नहीं हुआ है। डा० ए० एन० उपाध्ये और श्रीमती स्टिवेन्सन भगवान् पार्श्व और महावीर की परम्परा के इन मतभेदों को ही जैन परंपरा में सम्प्रदाय भेद का कारण मानते हैं।^१ यह सत्य है कि महावीर ने पार्श्व की सुविधावादी आचार-व्यवस्था में अनेक संशोधन एवं परिवर्द्धनकर एक कठोर एवं सुस्पष्ट आचार-विधि का निरूपण किया था।

महावीर निर्वाण के पश्चात् जैन धर्म की स्थिति :

महावीर के संघ में १४,००० श्रमण, ३६,००० श्रमणियाँ, १,५९,००० श्रावक और ३,१८,००० श्राविकाएँ थीं।^२ उपलब्ध सूचनाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महावीर का यह संघ अधिक समय तक संगठित नहीं रह सका। महावीर के निर्वाण के साथ ही कतिपय सैद्धान्तिक एवं आचार संबंधी मतभेदों के कारण या गुरु-परम्परा के आधार पर यह संघ विभाजित हो गया जिसके परिणामस्वरूप अनेक गण, शाखाएँ एवं कुल अस्तित्व में आयें। अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों में हमें उनके सम्बन्ध में जानकारी उपलब्ध होती है। महावीर निर्वाण के समय से लेकर महावीर निर्वाण के ६०० वर्ष पश्चात् तक जैन धर्म में विभिन्न गण, कुल एवं शाखाओं की स्थिति क्या थी तथा कौन-कौन आचार्य हुए थे? इसकी जानकारी का प्रामाणिक आधार श्वेताम्बर परंपरा में कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थवविरावलीयाँ हैं तथा दिगम्बर परम्परा में यह जानकारी उनके द्वारा मान्य प्राचीन ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति में उल्लिखित है।

कल्पसूत्र में उल्लिखित आचार्यों की नामावली इस प्रकार है^३—

१. गणधर गोतम—महावीर का परिनिर्वाण होने पर गणधर गोतम को केवलज्ञान हुआ, अतः उन्होंने संघ संचालन का समस्त कार्य आर्य सुधर्मा को सौंप दिया। गणधर गोतम घोर तपस्वी और चौदहपूर्व ग्रन्थों के ज्ञाता थे। ज्ञातव्य है कि जैन साहित्य का अधिकांश भाग महावीर और गोतम के संवाद के रूप में ही है। १२ वर्ष जीवन-मुक्त (केवली) अवस्था में रहकर ९२ वर्ष की आयु पूर्ण कर वे मुक्त हुए थे। दिगम्बर परम्परा-

१. पटोरिया, श्रीमती कुसुम—यापनीय और उनका साहित्य, पृ० २

२. कल्पसूत्रम्—सम्पा० विनयसागर, सूत्र १३३-१३६

३. वही, सूत्र २०३-२२३

के अनुसार महावीर के निर्वाण के पश्चात् १२ वर्ष तक गोतम ने ही संघ का दायित्व संभाला था ।

२. **आर्य सुधर्मा**—गणधर गोतम के पश्चात् आर्य सुधर्मास्वामी को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया था ।

३. **आर्य जम्बू**—आर्य जम्बू का जन्म महावीर निर्वाण के १६ वर्ष पूर्व हुआ था । वे ३६ वर्ष की आयु में जैनसंघ के आचार्य बने । वी० नि० सं० ६४ में ८० वर्ष की आयु पूर्ण करके वे स्वर्गवासी हुए ।

४. **आर्य प्रभवस्वामी**—आर्य जम्बू के पश्चात् आर्य प्रभवस्वामी आचार्य बने थे । १०५ वर्ष की आयु पूर्ण करके वे स्वर्गवासी हुए ।

५. **आर्य शय्यंभव**—आर्य प्रभवस्वामी के पट्टधर आर्य शय्यंभव ८५ वर्ष की आयु पूर्ण करके वी० नि० सं० ९८ में स्वर्गवासी हुए ।

६. **आर्य यशोभद्र**—आर्य शय्यंभव के प्रधान शिष्य आर्य यशोभद्र ८६ वर्ष की आयु पूर्ण करके वी० नि० सं० १४८ में स्वर्गवासी हुए ।

७. **आर्य संभूतिविजय**—आर्य यशोभद्र के उत्तराधिकारी आर्य संभूति-विजय ९० वर्ष की आयु पूर्ण करके वी० नि० सं० १५६ में स्वर्गवासी हुए ।

८. **आर्य भद्रबाहु**—पंचमश्रुतकेवलो के रूप में विख्यात आर्यभद्रबाहु स्वामी चौदहपूर्व ग्रन्थों के ज्ञाता थे । उनका स्वर्गवास वी० नि० सं० १७० में हुआ ।

९. **आर्य स्थुलिभद्र**—आर्य स्थुलिभद्र महापंडित के रूप में विख्यात थे । वी० नि० सं० २१५ में ९९ वर्ष की आयु पूर्ण करके आप स्वर्गवासी हुए ।

१०. **आर्य महागिरि**—आर्य महागिरि उग्र तपस्वी थे तथा उन्हें दस पूर्व ग्रन्थों का ज्ञान था । १०० वर्ष की आयु पूर्ण करके आप वी० नि० सं० २४५ में स्वर्गवासी हुए ।

११. **आर्य सुहस्ती**—आर्य महागिरि के बाद आर्य सुहस्ती आचार्य बने थे । आप भी १०० वर्ष की आयु पूर्ण करके वी० नि० सं० २९१ में स्वर्गवासी हुए ।

१२. **आर्य सुस्थित**—आर्य सुहस्ती के पट्टधर आर्य सुस्थित ९६ वर्ष की आयु पूर्ण करके वी० नि० सं० ३३९ में स्वर्गवासी हुए ।

१३. **आर्य सुप्रतिबद्ध**—आर्य सुहस्ती के पश्चात् आर्य सुप्रतिबद्ध आचार्य बने ।

१४. आर्य इन्द्रदिन्न—आर्य सुप्रतिबद्ध के पश्चात् युगप्रधान आचार्य के रूप में आर्य इन्द्रदिन्न का नाम माना जाता है।

१५. आर्य कालक—आर्य कालक का दूसरा नाम श्यामाचार्य है। इन्हें प्रज्ञापनासूत्र का कर्ता माना जाता है। आपका जन्म वी० नि० सं० २८० में हुआ था तथा वी० नि० सं० ३७६ में आप स्वर्गवासी हुए।

१६. आर्य सिंहगिरि—आर्य कालक के पट्टधर आर्य सिंहगिरि माने जाते हैं।

१७. आर्य वज्रस्वामी—आर्य वज्रस्वामी का जन्म वी० नि० सं० ४९६ में हुआ था। ८८ वर्ष की आयु पूर्ण करके आप वी० नि० सं० ५८४ में स्वर्गवासी हुए।

१८. आर्य वज्रसेन—वज्रस्वामी के पश्चात् आर्य वज्रसेन युगप्रधान आचार्य हुए थे।

१९. आर्य रक्षित—आर्य वज्रसेन के पट्टधर आर्य रक्षित वी० नि० सं० ५९७ में स्वर्गवासी हुए।

वीर निर्वाण सं० ५९७ से वीर निर्वाण सं० ९८० तक के आचार्यों की नामावली भी कल्पसूत्र में उल्लिखित है, किन्तु वीर निर्वाण सं० ६०९ में संघ भेद हो गया था अतः उसके बाद की नामावली हम यहाँ नहीं दे रहे हैं। कल्पसूत्र में इन आचार्यों के नामों के अतिरिक्त इनकी परम्परा में हुए, शाखा एवं कुल भेदों का भी उल्लेख हुआ है। श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रंथ नन्दीसूत्र में भी आर्य मुधर्मा से लेकर आर्य दुष्यगणि तक के आचार्यों का उल्लेख हुआ है।^१ इसमें ब्रह्मदीपक शाखा के अतिरिक्त किसी भी गण, कुल अथवा शाखा आदि का उल्लेख नहीं हुआ है। कल्पसूत्र स्थविरावली में गणों, शाखाओं एवं कुलों के उल्लेख निम्नानुसार हैं—

कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य यशोभद्र के शिष्य आर्य भद्रबाहु के चार शिष्य हुए, उनमें से आर्य गोदास से गोदास गण निकला। उस गोदास गण की चार शाखाएँ हुई—(१) ताम्रलिप्तिका, (२) कोटि-वर्षिका, (३) पौण्ड्रवर्द्धनिका और (४) दासीखर्बटिका। आर्य यशोभद्र के

१. नन्दीसूत्र, गाथा २२-३१

२. कल्पसूत्र, अनु० आर्या सज्जन श्री जी म०, प्रका० श्री जैन साहित्य समिति, कलकत्ता, पत्र ३३४-३४५

दूसरे शिष्य सम्भूतिविजय के बारह शिष्य हुए, उनमें से आर्य स्थूलभद्र के दो शिष्य हुए—(१) आर्य महागिरि और (२) आर्य सुहस्ति। आर्य महागिरि के स्थविर उत्तरबलिस्सह आदि आठ शिष्य हुए, इनमें स्थविर उत्तरबलिस्सह से उत्तरबलिस्सहगण निकला। इस उत्तरबलिस्सह गण की भी चार शाखाएँ हुई—(१) कोशाम्बिका, (२) सूक्तमुक्तिका, (३) कौटुम्बिका और (४) चन्द्रनागरी।

आर्य सुहस्ति के आर्य रोहण आदि बारह शिष्य हुए, उनमें काश्यप-गोत्रोप आर्य रोहण से 'उद्देह' नामक गण हुआ। उस गण की भी चार शाखाएँ हुई—(१) औदुम्बरिका, (२) मासपूरिका, (३) मत्तिपत्रिका और (४) पूर्णपत्रिका। उद्देहगण को उपरोक्त चार शाखाओं के अतिरिक्त छह कुल भी हुए—(१) नागभूतिक, (२) सोमभूतिक, (३) आर्द्रगच्छ, (४) हस्तलोक, (५) नन्दोय और (६) पारिहासिक।

आर्य सुहस्ति के अन्य शिष्य स्थविर श्रीगुप्त से चारणगण निकला। चारणगण की चार शाखाएँ हुई—(१) हरितमालाकारो, (२) संकाशिया, (३) गवेधुका और (४) वज्रनागरी। चारणगण की चार शाखाओं के अतिरिक्त सात कुल भी हुए—(१) वस्त्रलाय, (२) प्रीतिधार्मिक, (३) हालीय, (४) पुष्यमेत्रोय, (५) मालीय, (६) आर्य चेटक और (७) कृष्णसह।

आर्य सुहस्ति के ही अन्य शिष्य स्थविर भद्रयश से उडुवाटिकगण निकला, उसकी चार शाखाएँ हुई—(१) चम्पिका, (२) भद्रिका, (३) कार्कादिका और (४) मेखलिका। उडुवाटिकगण की चार शाखाओं के अतिरिक्त तीन कुल हुए—(१) भद्रयशस्क, (२) भद्रगुप्तिक और (३) यशोभद्रिक।

आर्य सुहस्ति के अन्य शिष्य स्थविर कामर्द्धि से वेशवाटिकगण निकला, उसकी भी चार शाखाएँ हुई—(१) श्रावस्तिका, (२) राज्यपालिका, (३) अन्तरिजिका और (४) क्षेमलिज्जिका। वेशवाटिकगण के कुल भी चार हुए—(१) गणिक, (२) मेघिक, (३) कामर्द्धिक और (४) इन्द्रपुरक।

आर्य सुहस्ति के ही एक अन्य शिष्य स्थविर तिष्यगुप्त से मानवगण निकला, उसकी चार शाखाएँ हुई—(१) काश्यपीयका, (२) गौतमीयका, (३) वशिष्टिका और (४) सौराष्ट्रिका। मानवगण के तीन कुल भी हुए—(१) ऋषिगुप्तिय, (२) ऋषिदत्तिक और (३) अभिजयंत। आर्य सुहस्ति के ही दो अन्य शिष्यों सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध से कोटिकगण निकला,

उसकी भी चार शाखाएँ हुई—(१) उच्चैर्नागरी, (२) विद्याधरी, (३) वज्जी और (४) माध्यमिका। इस कोटिकगण के चार कुल थे—(१) ब्रह्मलीय, (२) वस्त्रलीय, (३) वाणिज्य तथा (४) प्रश्नवाहन।

स्थविर सुस्थित एवं सुप्रतिबुद्ध के पाँच शिष्य हुए, उनमें से स्थविर प्रियग्रन्थ से कोटिकगण की मध्यमाशाखा निकली। स्थविर विद्याधर गोपाल से विद्याधरी शाखा निकली। स्थविर आर्य शान्ति श्रेणिक से उच्चैर्नागरी शाखा निकली। स्थविर आर्य शान्तिश्रेणिक के चार शिष्य हुए—(१) स्थविर आर्य श्रेणिक, (२) स्थविर आर्य तापस, (३) स्थविर आर्य कुबेर और (४) स्थविर आर्य ऋषिपालित। इन चारों शिष्यों से क्रमशः चार शाखाएँ निकलीं—(१) आर्य श्रेणिका, (२) आर्य तापसी, (३) आर्य कुबेरी और (४) आर्य ऋषिपालिता।

स्थविर आर्य सिंहगिरि के चार शिष्य हुए—(१) स्थविर आर्य धन-गिरि, (२) स्थविर आर्य वज्र (३) स्थविर आर्य सुमित और (४) स्थविर आर्य अर्हद्दत्त। स्थविर आर्य सुमितसूरि से ब्रह्मदीपिका तथा स्थविर आर्य वज्रस्वामी से वज्रोशाखा निकली। आर्य वज्रस्वामी के तीन शिष्य हुए—(१) स्थविर आर्य वज्रसेन, (२) स्थविर आर्य पद्म और (३) स्थविर आर्यरथ। इन तीनों से क्रमशः तीन शाखाएँ निकलीं—(१) आर्य नागिला, (२) आर्य पद्मा और (३) आर्य जयन्ती।

महावीर निर्वाण के पश्चात् की आचार्य परम्परा का जो उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा मान्य ग्रन्थों में हुआ है, वह उसी रूप में दिगम्बर परम्परा को मान्य नहीं है। दिगम्बर विचारधारा को प्रस्तुत करने वाले प्राचीन ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति में महावीर निर्वाण के पश्चात्वर्ती आचार्यों की नामावली क्रमशः इस प्रकार उल्लिखित है^१—(१) गोतम, (२) सुधर्मा, (३) जम्बू, (४) विष्णु, (५) नन्दमित्र, (६) अपराजित, (७) गोवर्द्धन, (८) भद्रबाहु (प्रथम), (९) विशाखाचार्य, (१०) प्रोष्ठिल, (११) क्षत्रिय (कृतिकार्य), (१२) जयसेन, (१३) नागसेन, (१४) सिद्धार्थ, (१५) धृतसेन, (१६) विजय (विजयसेन), (१७) बुद्धिलिंग, (१८) देव (गंगदेव), (१९) धर्मसेन, (२०) क्षत्र, (२१) जयपाल, (२२) पाण्डु, (२३) ध्रुवसेन, (२४) कंस, (२५) सुभद्र, (२६) यशोभद्र, (२७) भद्रबाहु (द्वितीय)।

तिलोयपण्णत्ति में इन आचार्यों का समय बी० नि० सं० १२ से बी०

नि० सं० ५६५ तक बतलाया गया है। उक्त ग्रन्थ में इन आचार्यों के नामोल्लेख के साथ-साथ इनके पूर्व एवं अंग आगम सम्बन्धी ज्ञान का उल्लेख भी किया गया है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं को मान्य आचार्यों की इन नामावलियों को देखने से ज्ञात होता है कि दोनों परम्पराओं में प्रारम्भिक तीन आचार्य गणधर गोतम, आर्य सुधर्मा और आर्य जम्बू के नाम समान रूप से मान्य हैं, तत्पश्चात् आर्य विष्णु, आर्य यशोभद्र, आर्य भद्रबाहु आदि के कुछ नामों में समानता तो है, किन्तु क्रम आदि भिन्न हैं। इससे यही प्रतिफलित होता है कि आचार्यों को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में भिन्नता है, किन्तु दोनों परम्पराओं में बी० नि० सं० ६०० के पूर्व तक जैनधर्म में किसी प्रकार के सम्प्रदाय विभाजन की कोई चर्चा नहीं हुई है। इस आधार पर यह मानना चाहिए कि उस समय तक जैनधर्म विविध सम्प्रदायों में विभाजित नहीं हुआ, यद्यपि गण, कुल एवं शाखा आदि के भेद अस्तित्व में आ गये थे।

इस प्रकार यह विदित होता है कि जैनधर्म में सम्प्रदाय बहुलता परवर्ती विकास का परिणाम है। साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि ऋषभदेव से लेकर महावीर तक धार्मिक एवं आचार सम्बन्धी जो-जो भी परिवर्तन हुए हैं, वे सभी परिवर्तन तीर्थंकरों एवं आचार्यों की देशकालगत परिस्थितियों के आधार पर विकसित होकर हुए हैं। कारण यह है कि परिवर्तन चाहे धार्मिक हो, आचार सम्बन्धी हो अथवा संघ व्यवस्था सम्बन्धी हो, वे देशकालगत परिस्थितियों एवं पारस्परिक प्रभाव से प्रभावित होते हैं। प्रस्तुत अध्याय में दिये गये विवेचन से यह परिलक्षित होता कि जैन धर्मदर्शन और आचार स्थिर न होकर गतिशील (Dynamic) रहे हैं।

द्वितीय अध्याय

जैन सम्प्रदायों के ऐतिहासिक स्रोत

भगवान महावीर के काल में तथा उनके पश्चात् निर्ग्रन्थ परम्परा में जो भी मतभेद या मान्यता भेद हुए तथा उनके परिणाम स्वरूप जो विभिन्न सम्प्रदाय और उपसम्प्रदाय अस्तित्व में आये, उनको जानने का प्रथम आधार जैन आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य है। आगम एवं आगमिक व्याख्या साहित्य के अतिरिक्त अन्य आगमेतर साहित्य विशेष रूप से पट्टावलियाँ एवं एक-दूसरे सम्प्रदायों के खण्डन-मण्डन हेतु लिखे गये ग्रन्थ एवं उन सबकी हस्तलिखित प्रतियों की अन्त की प्रशस्तियाँ भी हमें इस विषयक जानकारी प्रदान करती हैं क्योंकि उनमें भी लेखक या प्रतिलिपिकार अपने सम्प्रदाय, गच्छ तथा गुरु-परम्परा का उल्लेख कर देते हैं। इसके साथ ही जैन परम्परा में उपलब्ध जैन मन्दिर एवं मूर्तियाँ, जैन गुफाएँ, जैन अभिलेख तथा जैन चित्रकला से भी जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक जानकारी प्राप्त होती है।

जैन आगम साहित्य :

जैन आगम साहित्य मुख्य रूप से अंग, उपांग, छेद, चूलिका, मूल और प्रकीर्णक ग्रन्थों में विभक्त है। अंग आगम ११ माने गए हैं—(१) आचारांग, (२) सूत्रकृततांग, (३) स्थानांग, (४) समवायांग, (५) व्याख्या-प्रज्ञप्ति, (६) ज्ञाताधर्मकथांग, (७) उपासकदशांग, (८) अन्तकृतदशांग, (९) अनुत्तरौपपातिकसूत्र, (१०) प्रश्नव्याकरण और (११) विपाकसूत्र। उपांग ग्रन्थ १२ माने गए हैं—(१) औपपातिक, (२) राजप्रश्नीय, (३) जीवाजीवाभिगम, (४) प्रज्ञापना, (५) सूर्यप्रज्ञप्ति, (६) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, (७) चन्द्रप्रज्ञप्ति, (८) निरयावलिका, (९) कल्पावर्तसिका, (१०) पुष्पिका, (११) पुष्पचूला और (१२) वृष्णिदशा। छेदसूत्र ६ माने गए हैं—(१) आचारदशा, (२) कल्प, (३) व्यवहार, (४) निशीथ, (५) महानिशीथ और (६) जीवकल्प। चूलिकासूत्र २ माने गए हैं—(१) नन्दी और (२) अनुयोगद्वार। मूलसूत्र ४ माने गए हैं—(१) उत्तराध्ययन, (२) दशवैकालिक, (३) आवश्यक और (४) पिण्डनियुक्ति। प्रकीर्णक १० माने गए

हैं—(१) चतुःशरण, (२) आतुरप्रत्याख्यान, (३) भक्तपरिज्ञा, (४) संस्तारक, (५) तंदुलवैचारिक, (६) चन्द्रवेद्यक, (७) देवेन्द्रस्तव (८) गणिविद्या, (९) महाप्रत्याख्यान और (१०) वीरस्तव ।

आगमों के उपर्युक्त वर्गीकरण में जैन आगमों की जो संख्या और नाम बतलाए गए हैं उनके सन्दर्भ में जैनधर्म के सभी सम्प्रदाय एकमत नहीं हैं । अंग और उपांग ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदायों को समान रूप से मान्य हैं, किन्तु ६ छेदसूत्रों को श्वेताम्बर परम्परा का मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय ही मान्य करता है । स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय प्रारम्भिक ४ छेदसूत्रों को तो मान्य करते हैं, किन्तु अन्तिम दो छेदसूत्र इन दोनों परम्पराओं में मान्य नहीं हैं । नन्दो और अनुयोगद्वार नामक दोनों चूलिकासूत्र श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदायों को मान्य हैं किन्तु स्थानकवासी और तेरापंथी इन्हें मूलसूत्रों के अन्तर्गत रखते हैं । मूलसूत्रों के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों की भिन्न-भिन्न मान्यताएँ हैं । कुछ आचार्यों ने उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, ओघनियुक्ति एवं पिण्डनियुक्ति को मूलसूत्र माना है तथा कुछ आचार्यों ने उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक एवं पिण्डनियुक्ति को मूलसूत्र माना है । स्थानकवासी तथा तेरापंथी सम्प्रदायों ने पिण्डनियुक्ति अथवा ओघनियुक्ति को मूलसूत्र के रूप में मान्य नहीं किया है । दस प्रकीर्णकों को यद्यपि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय ने मान्य किया है तथापि उनके नाम एवं क्रम में भिन्नता है जिसकी चर्चा हमने अपनी पुस्तक 'दीवसागरपण्णत्ति पइण्णयं' की भूमिका में विस्तारपूर्वक की है ।^१

सम्पूर्ण जैन आगम साहित्य को सम्प्रदायगत मान्यता की दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परा के स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदायों को बत्तीस आगम मान्य हैं । श्वेताम्बर परम्परा के ही मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के कुछ गच्छ पैतालीस आगम मानते हैं तथा कुछ गच्छ चौरासी आगम भी मानने हैं । दिगम्बर परम्परा आगमों के अस्तित्व को स्वीकार तो करती है, किन्तु उनके मतानुसार सभी आगम विलुप्त हो गए हैं । उनके स्थान पर शौरसेनी प्राकृत में रचित कुछ ग्रन्थों जैसे—कषायप्राभृत, षट्खण्डागम एवं कुन्दकुन्द के ग्रन्थों को वे आगम तुल्य मानते हैं । वे अपने साहित्य को प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग—इन चार अनुयोगों में विभक्त करते हैं ।

अंग, उपांग, छेद, चूलिका, मूल और प्रकीर्णक ग्रंथों के रूप में विभक्त श्वेताम्बर मान्य आगमों में सूत्रकृतांगसूत्र, स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, राजप्रश्नीयसूत्र तथा उत्तराध्ययनसूत्र आदि में पार्श्व और महावीर की परम्परा के मान्यता भेदों की जानकारी प्राप्त होती है। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में हमें महावीर से अलग हुए नियतिवादी विचारक गोशालक तथा महावीर के जामाता जमालि के द्वारा किये गए संघ भेद का भी उल्लेख मिल जाता है। इसी प्रकार स्थानांगसूत्र और कल्पसूत्र आदि से हमें महावीर की शिष्य परम्परा में आगे चलकर जो गणभेद हुए, उनकी सूचनाएँ मिलती हैं। जहाँ तक आगमिक व्याख्याओं का प्रश्न है उनमें नियुक्ति तथा भाष्य साहित्य से हमें सात निह्वनों और बोटिक मत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त आगमिक व्याख्या साहित्य विशेष रूप से चूर्णियों और टीकाओं से हमें न केवल महावीर की संघ व्यवस्था में हुए मतभेदों की सूचना मिलती है अपितु महावीर के संघ में हुए आचार-विचारगत परिवर्तनों की भी जानकारी मिल जाती है। इस प्रकार आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों की उत्पत्ति और विकास के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण सूचनाएँ प्रदान करता है।

जहाँ तक आगमेतर साहित्य का प्रश्न है उनमें चरितकाव्य मुख्य हैं, इनके अतिरिक्त स्तुतिपरक, आचारमूलक, साधनाप्रधान तथा उपदेशात्मक ग्रंथ भी पर्याप्त रूप से लिखे गए हैं, इनमें सामान्यतया सम्प्रदाय भेद आदि के सम्बन्ध में कोई विशेष जानकारी तो नहीं मिलती है, किन्तु इन ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियों में जो प्रशस्तियाँ मिलती हैं उनमें विविध सम्प्रदायों की गुरु-परम्परा, गच्छ, कुल एवं अन्वय आदि के उल्लेख मिल जाते हैं जो विविध सम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास को समझने में सहायक हैं।

आगमेतर साहित्य में अनेक ऐसे ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं जिनमें अन्य सम्प्रदायों की मान्यताओं की समीक्षा उपलब्ध होती है। इसके साथ ही जैन परम्परा में एक-दूसरे सम्प्रदाय के खण्डन-मण्डन के रूप में भी विपुल साहित्य निर्मित हुआ है। दर्शन संबंधी विविध ग्रन्थों में जहाँ दिग्म्बर आचार्यों ने श्वेताम्बर आचार्यों की स्त्रीमुक्ति एवं केवलभूक्ति सम्बन्धी अवधारणाओं की समीक्षा की है, वहीं श्वेताम्बर आचार्यों ने अपने ग्रन्थों में उसका प्रत्युत्तर देने का प्रयास किया है। कुछ कथा ग्रन्थों जैसे बृहद्कथाकोश आदि में भी श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय के

उत्पत्ति सम्बन्धी कथानक दिये गये हैं। इस प्रकार जैन साहित्य जैनधर्म के विविध सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों के इतिहास और मान्यताओं को समझने का एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

जैन मूर्तियाँ :

भारत में प्राचीनतम मूर्तियाँ सिन्धु सभ्यता (ई० पू० दो-तीन हजार वर्ष) के उत्खनन से उपलब्ध हुई हैं। प्रो० यू० पी० शाह लिखते हैं— “इस सभ्यता में प्राप्त मोहनजोदड़ों के पशुपति को यदि शैव धर्म का देव मानें तो हड़प्पा से प्राप्त नग्न घड़ को दिगम्बर मत की खण्डित प्रतिमा मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।”^१ इससे यह सिद्ध होता है कि दो-तीन हजार वर्ष ई० पू० में भी जैनधर्म का अस्तित्व था।

जैन परम्परा में महावीर के जीवन काल में ही उनकी चन्दन की एक प्रतिमा का निर्माण करने का उल्लेख मिलता है, जिन्हें जीवन्तस्वामी की संज्ञा दी गई है। प्रो० यू० पी० शाह ने जीवन्तस्वामी की दो गुप्तकालीन कांस्य प्रतिमाओं का उल्लेख किया है जो लगभग पाँचवीं-छठीं शताब्दी की हैं।^२ जीवन्तस्वामी की मूर्ति का उल्लेख सर्वप्रथम वसुदेवहिण्डी (६१० ई०) में मिलता है।^३ जीवन्तस्वामी की मूर्ति एवं उससे सम्बन्धित कथा का उल्लेख जिनदासकृत आवश्यकचूर्णि (६७६ ई०), त्रिषष्टिशलाका-पुरुषचरित्र (११६९-११७२ ई०) तथा क्षमाश्रमण संघदास रचित बृहत्कल्पभाष्य आदि में भी मिलता है।^४ जीवन्तस्वामी की इन प्रतिमाओं से यद्यपि जैनधर्म के विविध सम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास सम्बन्धी जानकारी तो नहीं मिलती है तथापि इनसे इतना तो सूचित होता है कि महावीर के जीवन काल में भी उनकी मूर्तियाँ बनने लगी थीं।

सर्वप्रथम हल्थीगुम्फा अभिलेख में यह उल्लेख है कि जो जिनप्रतिमा नन्दशासक (ई० पू० ४थी शती) उड़ीसा से मगध ले गया था, उसे खारवेल (ई० पू० प्रथम शती) वापस उड़ीसा लेकर आया।^५ तात्पर्य यह

१. स्टडीज इन जैन आर्ट, चित्रफलक क्रमांक १

२. शाह, यू० पी०-ए युनिक इमेज ऑफ जीवन्तस्वामी, जर्नल ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, खण्ड १, अंक १, पृष्ठ ७२-७९

३. वसुदेवहिण्डी (संघदासकृत) खण्ड १, पृष्ठ २५२-३२५

४. तिवारी, मारुतिनन्दनप्रसाद, जैन मूर्तिकला की परम्परा, केसरीमलसुराणा अभिनन्दन ग्रंथ, खण्ड ६, पृष्ठ १५२

५. तिवारी, मारुतिनन्दनप्रसाद, प्रतिमाविज्ञान, पृष्ठ १७

है कि नन्दों के काल (ई० पू० चतुर्थ शताब्दी) में भी जिनप्रतिमाएँ बनती थीं। लोहानीपुर से एक जिनप्रतिमा प्राप्त हुई है जो मौर्यकालीन (ई० पू० ३री शती) है। मथुरा में भी ई० पू० प्रथम शताब्दी से ही लेख-युक्त जिनप्रतिमाएँ मिलने लगती हैं।

जैन साहित्य के अतिरिक्त जैन मूर्तियाँ भी विविध जैन सम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास को समझने में सहायक हैं। ६ठीं-७वीं शताब्दी से श्वेताम्बर और दिगम्बर तीर्थङ्कर प्रतिमाएँ भिन्न रूपों में बनने लगी थीं। उनकी लक्षणगत विशेषताओं के आधार पर हम यह निर्धारित कर सकते हैं कि कौन-सी प्रतिमा श्वेताम्बर है और कौन-सी दिगम्बर? श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में जिनप्रतिमा के चक्षु खुले हुए प्रदर्शित करने की परम्परा है जबकि दिगम्बर परम्परा में जिनप्रतिमा के चक्षु अर्द्ध निमिलित ही दर्शाये जाते हैं। परवर्ती श्वेताम्बर प्रतिमाओं में लंगोट का अंकन भी पाया जाता है। पन्द्रहवीं शताब्दी से जो भी श्वेताम्बर आचार्य एवं मुनि प्रतिमाएँ उपलब्ध होती हैं, उन सभी में मुनियों को चोलपट्टक, उत्तरीय आदि के साथ दिखाया जाता है। ज्ञातव्य है कि दिगम्बर परम्परा की कुछ जिनमूर्तियाँ जो ग्वालियर किले पर उत्कीर्ण हैं, उनके चक्षु खुले हैं।

जिनप्रतिमाओं के नीचे जो अभिलेख उपलब्ध होते हैं उनसे हमें मुख्य रूप से उनके प्रतिष्ठाचार्यों एवं उनके गण, कुल, अन्वय और गच्छ आदि की जानकारी मिल जाती है। इस प्रकार जैन मूर्तियों पर उत्कीर्ण अभिलेख भी जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों के इतिहास को समझने के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं।

जिनप्रतिमाओं के अतिरिक्त आचार्य, उपाध्याय और मुनि प्रतिमाएँ भी उपलब्ध होती हैं। इन प्रतिमाओं की वेशभूषा एवं लक्षणगत विशेषताओं से भी हमें विभिन्न सम्प्रदायों को विकास कथा को समझने में सहायता मिलती है। उदाहरण के रूप में श्वेताम्बर परम्परा में वस्त्र, पात्र आदि का विकास किस प्रकार क्रमिक रूप से हुआ है, यह समझने हेतु मथुरा की मुनि प्रतिमाएँ विशेष उपयोगी हैं। मथुरा की इन प्रतिमाओं में हम पाते हैं कि एक ओर मुनि नग्न हैं तो दूसरी ओर उसके हाथ में कम्बल और मुखवस्त्रिका है। इसी प्रकार एक अन्य मुनि प्रतिमा में हम यह भी देखते हैं कि मुनि नग्न है किन्तु उसके एक हाथ में मयूर पिच्छी तथा दूसरे हाथ में पात्र-युक्त झोली भी है।^१ साथ ही इन प्रति-

माओं के नीचे गण, कुल आदि के जो विवरण उल्लिखित हैं, वे कल्पसूत्र की पट्टावली के अनुसार ही हैं। जैन मूर्तियों के इस समग्र विवेचन से हमें यह ज्ञात होता है कि जैनधर्म में श्वेताम्बर, दिग्म्बर और यापनीय सम्प्रदाय का जो भेद हुआ, वह वस्तुतः एक क्रमिक परिवर्तन का ही परिणाम है। अतः हम कह सकते हैं कि जैन मूर्तियां भी जैन सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास के अध्ययन के महत्वपूर्ण साधन हैं।

जैन गुफाएँ एवं मन्दिर :

प्राचीन काल से ही जैन मुनि नगर-ग्रामादि के निकट स्थित पर्वतों, बनों एवं गुफाओं में निवास करते थे क्योंकि ऐसे स्थल मुनियों की साधना में सहायक होते हैं। प्रारम्भ में मुनियों द्वारा प्राकृतिक गुफाओं के शिला-पट्टों का उपयोग ही निवास एवं शयन हेतु किया जाता था, किन्तु शनैः-शनैः इन गुफाओं के आकार एवं विस्तार आदि में वृद्धि की गयी और इस प्रकार मानव निर्मित गुफायें अस्तित्व में आयीं। भारत में सबसे प्राचीन एवं प्रसिद्ध जैन गुफाएँ बराबर एवं नागार्जुनी की पहाड़ियों पर स्थित हैं। बराबर पहाड़ी में चार तथा नागार्जुनी पहाड़ी में तीन गुफाएँ हैं। बराबर की गुफाओं का निर्माण सम्राट अशोक ने तथा नागार्जुनी की गुफाओं का निर्माण उसके पौत्र दशरथ ने करवाया था।^१

बराबर की गुफाओं में ब्राह्मी लिपि में अंकित (२५० ई० पू० के) लेख मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि सम्राट अशोक ने अपने राज्याभिषेक के पश्चात् इन गुफाओं को आजीविकों को दान में दिया था। नागार्जुन की पहाड़ी पर जो गुफाएँ हैं, उन पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होता है कि उनका निर्माण २१४ ई० पू० में हुआ था।^२ ई० पू० तीसरी शती की मौर्यकालीन इन गुफाओं के पश्चात् उदयगिरि तथा खण्डगिरि पर्वतों की गुफाएँ भी पर्याप्त रूप से प्राचीन मानी गई हैं। इन गुफाओं में प्राप्त अभिलेखों से ये गुफाएँ ई० पू० द्वितीय शती की सिद्ध होती हैं। उदयगिरि की 'हृत्योगुम्फा' गुफा में प्राकृत भाषा में एक सुविस्तृत लेख उत्कीर्ण है, जिसमें कर्लिंग नरेश सम्राट खारवेल का बाल्यकाल से लेकर

१. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ३०६

२. नामदेव, डॉ० शिवकुमार—भारत में प्राचीन जैन गुफाएँ, श्रमण, अक्टूबर

राज्यकाल के १३ वर्षों तक का जीवन-वृत्त वर्णित है।^१ सम्राट खारवेल ने १६० ई० पू० के लगभग शासन किया था इसलिए यही समय इन गुफाओं का भी मानना उपयुक्त है।

बराबर, नागार्जुनी, उदयगिरि और खण्डगिरि की इन गुफाओं के अतिरिक्त रानीगुम्फा, गणेशगुम्फा, अनन्तगुम्फा, राजगिरि की गुफाएँ, बादामी की गुफाएँ, धाराशिव की गुफाएँ, एहोल की गुफाएँ, एलोरा की गुफाएँ, अंकाई-तंकाई की गुफाएँ, उदयगिरि (विदिशा) की गुफाएँ, ग्वालियर किले पर स्थित गुफाएँ, त्रिगलवाड़ी दूर्ग पर स्थित गुफा तथा सित्तनवासल की गुफा आदि सभी जैन गुफाओं का निर्माण काल संभवतः पहली-दूसरी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के मध्य रहा है, क्योंकि इसी अवधि के अभिलेख इन गुफाओं में उत्कीर्ण मिलते हैं। इन गुफाओं में चट्टानों पर देव मंदिर, तीर्थंकर प्रतिमाएँ एवं जैन साधुओं की आकृतियाँ भी अंकित हैं। जिससे वे किस सम्प्रदाय से सम्बन्धित रही हैं, इसकी जानकारी मिल जाती है।

बराबर तथा नागार्जुनी की गुफाएँ सम्राट अशोक तथा उसके पौत्र दशरथ द्वारा आजीवक मुनियों को देने हेतु बनवाई गई थी। आजीवक सम्प्रदाय यद्यपि महावीर के जीवन काल में ही एक पृथक सम्प्रदाय बन गया था फिर भी अनेक आगमों एवं आगमिक व्याख्या ग्रन्थों से प्राप्त सूचनाओं से यह सिद्ध होता है कि आजीवक सम्प्रदाय का उद्भव एवं विलय निग्रन्थ परम्परा में ही हुआ था।

जैन गुफाओं का सम्बन्ध मुख्य रूप से वनवासी जैन आचार्यों से रहा है, किन्तु जब जैन मुनि एवं आचार्य पर्वतों एवं वनों के स्थान पर नगरों में रहने लगे तो चैत्यों एवं मन्दिरों का विकास हुआ। जो मुनि मन्दिरों या चैत्यों में रहने लगे, वे चैत्यवासी कहलाये। लगभग ई० सन् की तीसरी शती में वनवासी और चैत्यवासी—ऐसी दो परम्परायें बन गयीं। उनमें से चैत्यवासी परम्परा सुविधावादी बन गई। इन्हीं से आगे चलकर श्वेताम्बर परम्परा में यतियों एवं दिगम्बर परम्परा में भट्टारकों का विकास हुआ।

जिस प्रकार गुफा-शिल्प से हमें सम्प्रदायों के सम्बन्ध कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती है, उसी प्रकार मन्दिर-शिल्प से भी सम्प्रदायों के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिलती है। मन्दिरों की शिल्प-शैली में

१. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० ३०७

जो भेद है, वहाँ सम्प्रदायों के आधार पर नहीं, अपितु देश एवं काल के आधार पर है। जिस प्रकार दक्षिण के जैन मन्दिर दक्षिणात्य शैली में निर्मित हुए, उसी प्रकार उत्तर भारत के जैन मन्दिर भी नागर शैली में निर्मित हुए। सामान्यतया जिस प्रदेश में हिन्दू मन्दिरों की जो शैली रही उसे ही जैन आचार्यों ने अपनाया। इतना अवश्य है कि परवर्ती काल में जो अमूर्तिपूजक जैन सम्प्रदाय अस्तित्व में आये उनके उपासना स्थल या चैत्य मूर्ति रहित एवं सामान्य आवासों की शैली में ही बनें।

जैन अभिलेख :

जैन धर्म के विविध सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों का ऐतिहासिक अध्ययन करने हेतु जैन अभिलेखों का विशेष महत्व है। पूर्व में हत्थी-गुम्फा^१, पश्चिम में पूना^२, मध्यक्षेत्र में पभोसा^३, बारली^४ और विदिशा^५, उत्तर में मथुरा^६ तथा दक्षिण में तमिलनाडु^७ में उपलब्ध अभिलेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि ईस्वी सन् के पूर्व ही जैन धर्म का अस्तित्व सम्पूर्ण भारत में था।

अभिलेखीय साक्ष्य से ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व पहली-दूसरी शताब्दी में जैन धर्म को उड़ीसा में सम्राट खारवेल के रूप में एक महान संरक्षक मिल गया था। नन्दशासक उड़ीसा से जिस जिनप्रतिमा को मगध ले गए थे, सम्राट खारवेल न केवल उसे वापस उड़ीसा लाया, वरन् उसने उस प्रतिमा की स्थापना के लिए कुमारी पर्वत पर एक जिनमन्दिर का निर्माण भी करवाया था।^८ ज्ञातव्य है कि सम्राट खारवेल ने आगमों की वाचना हेतु एक संगीति भी बुलाई थी, जिसमें विभिन्न क्षेत्रों से जैन भिक्षु एकत्रित हुए थे।

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक २

२. वही, भाग ५, क्रमांक १

३. वही, भाग २, क्रमांक ७

४. वही, भाग ४, क्रमांक १

५. वही, भाग ५, क्रमांक ३

६. वही, भाग २, क्रमांक ४, ८९

७. ए, एकमवरनाथन—जैन इन्सक्रिपशन्स इम तमिलनाडु, पृ० १६-२४,

उद्धृत—दुबे, श्री नारायण—जैन अभिलेखों का सांस्कृतिक

अध्ययन, (शोध प्रबन्ध) पृ० २२०

८. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक २

जैन अभिलेखों में प्राचीनता की दृष्टि से खारवेल के हत्थीगुम्फा अभिलेख के पश्चात् मथुरा के अभिलेख माने गये हैं। मथुरा के अधिकांश अभिलेख ईसा की पहली एवं दूसरी शताब्दी के हैं। इन अभिलेखों के माध्यम से जैन धर्म के विविध गण, शाखा और कुलों के सन्दर्भ में पर्याप्त जानकारी मिलती है। मथुरा के अभिलेखों में कोट्टियगण^१ वारणगण^२ तथा उद्देहिकीयगण^३ का उल्लेख मिलता है। मथुरा के इन अभिलेखों में कोट्टियगण की तीन शाखाओं—उच्चनागरी शाखा, वइरी (वज्जी) शाखा और आर्य-वज्जीशाखा तथा तीन कुलों—ब्रह्मदासिककुल, स्थानीयकुल और वात्सली कुल का उल्लेख हुआ है। वारणगण की चार शाखाओं—ओदशाखा, वज्जनागरीशाखा, हारितमालागारिकशाखा और संकाशियाशाखा तथा सात-कुलों—पेतिवामिककुल, पुण्यमैत्रीयकुल, आर्यहाटीकीयकुल, आर्यवेद्वियकुल, अथ्यमिस्तकुल, कनियसिककुल और नाडियकुल का उल्लेख भी इन अभिलेखों में मिलता है। इन्हीं अभिलेखों में उद्देहिकीयगण की एक शाखा पेयपुत्तिकाशाखा तथा दो कुलों—आर्यनागभूतकीयकुल और परिधासिककुल का भी नामोल्लेख मिलता है। मथुरा के अभिलेखों में उल्लिखित विविध गणों, शाखाओं एवं कुलों के नाम कल्पसूत्र स्थविरावली में उल्लिखित हैं।^४ इस प्रकार इनकी पुष्टि साहित्यिक स्रोतों से भी हो जाती है। जैन संघ के विभाजन की प्रक्रिया एवं जैन सम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास को समझने की दृष्टि से ये अभिलेख अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

मथुरा के इन अभिलेखों में उल्लिखित विविध गणों, शाखाओं और कुलों के अलावा कई आचार्यों, मुनियों एवं आर्यिकाओं के नाम भी उल्लिखित हैं। इन अभिलेखों से इनके गण, शाखा एवं कुल का अभिज्ञान हो जाता है।^५ विशेष बात यह है कि मथुरा के अभिलेखों में हमें आर्यकण्ह (आर्य कृष्ण) का भी उल्लेख मिलता है, जो उत्तर भारत में हुए सम्प्रदाय भेद के प्रथम पुरुष रहे हैं। वस्त्र-नात्र को लेकर आर्य शिवभूति से इनका ही विवाद हुआ था।

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक १९, २०, २२, २३, २५
२. वही, भाग २, क्रमांक १७, ३४, ४१, ४४, ४५
३. वही, भाग २, क्रमांक २४, ६९
४. कल्पसूत्रम्-सम्पा० म० विनयसागर, सूत्र २१२-२१६
५. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक २२, २३, २४, २९, ३७, ४२, ४४, ४५, ५२, ५५, ५६, ६९ और ८२

पभोसा के एक अभिलेख में काश्यपीय अर्हन्तों के लिए गुफा बनाने का उल्लेख हुआ है।^१ यह अभिलेख ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी का है। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि काश्यपीय अर्हन्त कौन थे तथा उनका जैन धर्म से क्या संबन्ध रहा होगा ? समाधान के रूप में हम कहना चाहेंगे कि महावीर का गौत्र काश्यप माना जाता है इसलिए यहाँ काश्यपीय अर्हन्त का तात्पर्य महावीर की परंपरा से समझा जाना चाहिए। इसके अलावा भद्रबाहु के शिष्य गोदास को भी काश्यपगौत्रीय माना गया है, इसलिये भी इस कथन को बल मिलता है कि काश्यपीय अर्हन्त जैन धर्म से ही सम्बन्धित थे। साथ ही वहाँ से उपलब्ध जिनप्रतिमाएँ भी इसी तथ्य की सूचक हैं कि काश्यपीय अर्हन्त जैन धर्म सम्बन्धित थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में भी काश्यपीय शाखा का उल्लेख है।

दक्षिण भारत में संघ का नामोल्लेख करने वाले प्राचीनतम अभिलेख नोणमंगल^२ और देवगिरि^३ के हैं। नोणमंगल के अभिलेख में निग्रन्थ संघ, श्वेतपट्टमहाश्रमण संघ, कूर्चक संघ एवं यापनीय संघ के नाम उल्लिखित हैं।

उदयगिरि (विदिशा) के अभिलेख (वि० सं० ४२६) में पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित करने वालों ने अपने आपको आर्यकुल एवं भद्रान्वय के आचार्य गोशर्मा का शिष्य बतलाया है।^४ पहाडपुर (बंगाल) के एक अभिलेख में काशी की पंचस्तूपान्वय का उल्लेख हुआ है।^५ पंचस्तूपान्वय नाम बाद में भी प्रचलित रहा है। धवला के टीकाकर्त्ता वीरसेन ने अपने गुरु को पंचस्तूपान्वय का कहा है।

अभिलेखों में उल्लिखित गण, गच्छ, शाखा, कुल और अन्वय आदि से यह स्पष्ट होता है कि जैन धर्म के सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास को समझने हेतु जैन अभिलेख महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्रदान करते हैं।

जैन चित्रकला :

जैन परम्परा में ताडुपत्रों एवं कागजों पर चित्र तो विपुल मात्रा में मिलते हैं, किन्तु वे अधिक प्राचीन नहीं हैं। प्राचीनता की दृष्टि से भित्तिचित्र ही मुख्य हैं। सबसे प्राचीन भित्तिचित्र तंजोर के समीप सित्तनवासल

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक ७

२. वही, भाग २, क्रमांक ९०, ९४

३. वही, भाग २, क्रमांक ९८

४. वही, भाग २, क्रमांक ५७

५. जैन, डॉ० सागरमल—जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पृ० २०

की गुफा में मिलते हैं। इनका निर्माण पल्लव नरेश महेन्द्रवर्मा (प्रथम) के राज्यकाल (६२५ ई०) में हुआ था। ७वीं शताब्दी से पूर्व की चित्रकला के रूप में ऐसी कोई सामग्री हमें उपलब्ध नहीं हो सकी है, जिससे जैनधर्म के विविध सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास की जानकारी ज्ञात हो सकती हो।

मुडबिद्रि तथा पाटन के जैन भण्डारों में उपलब्ध ताडपत्रीय चित्र भी प्राचीन माने जाते हैं, इनका समय ११वीं से १४वीं शताब्दी माना जाता है। कागज पर चित्रित सबसे प्राचीन प्रति १४२७ ई० में लिखित कल्पसूत्र की है। सम्प्रति यह प्रति लन्दन की इण्डिया आफिस लाइब्रेरी में है।^१ इस प्रकार स्पष्ट है कागज पर चित्रित चित्र परवर्ती हैं। ताडपत्रीय चित्र भी ११वीं शताब्दी से अधिक प्राचीन नहीं हैं, इनकी अपेक्षा भित्तिचित्र ही अधिक प्राचीन है।

जैन चित्रों के आधार पर हम किसी सीमा तक जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की साम्प्रदायिक मान्यताओं को भी समझ सकते हैं। उदाहरण के रूप में दिगम्बर ग्रन्थों में सर्वत्र तीर्थंकरों एवं मुनियों को नग्न ही चित्रित किया जाता है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में तीर्थंकरों एवं मुनियों को नग्न रूप में प्रदर्शित नहीं किया जाता है। उनमें तीर्थंकर चित्र पद्मासन स्थिति में ही उपलब्ध होते हैं। साथ ही उन्हें आभूषणों से अलंकृत दर्शाया जाता है तथा मुनियों को चोलपट्टक एवं उत्तरीय आदि के साथ चित्रित किया जाता है। लगभग १८वीं शताब्दी से स्थानकवासी परम्परा के जो भी सचित्र ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, उनमें मुनियों एवं साधवियों के चित्रों में मुखवस्त्रिका प्रदर्शित की जाती है। मुनियों के कुछ चित्रों में मुखवस्त्रिका उनके हाथ में अथवा कंधे पर भी दिखाई जाती है। इस प्रकार जैन चित्रकला के माध्यम से भी हम जैन धर्म के विविध सम्प्रदायों, उपसम्प्रदायों एवं उनकी मान्यताओं को समझ सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन्दिर और गुफा-शिल्प को छोड़कर जैन साहित्य, जैन मूर्तियाँ, जैन अभिलेख और जैन चित्रकला जैन सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास को समझने के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं, इन्हीं के आधार पर जैन सम्प्रदायों का प्रामाणिक इतिहास लिखा जा सकता है।

१. नामदेव, डॉ० शिवकुमार—जैन कला विकास और परम्परा, केसरीमल सुराणा अभिनन्दन ग्रन्थ, खण्ड ६, पृ० १६२.

तृतीय अध्याय

जैन धर्म के सम्प्रदाय

प्रायः देखा जाता है कि किसी भी धर्म के संस्थापक एवं धर्म प्रवर्तक महापुरुष के निर्वाण अथवा देहावसान के पश्चात् उनके संघ अथवा सम्प्रदाय में नेतृत्व के प्रश्न को लेकर बिखराव होना प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु कभी-कभी यह बिखराव ऐसे महापुरुषों के जीवनकाल में भी हो जाता है, जिसका मुख्य कारण वैचारिक मतभेद होता है। जैन संघ भी बिखराव की इस प्रक्रिया से विलग नहीं रह सका। जैन आगमों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वैचारिक मतभेद की प्रक्रिया महावीर के जीवनकाल में ही प्रारम्भ हो चुकी थी, किन्तु जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय महावीर के निर्वाण के पश्चात् ही अस्तित्व में आये।

महावीर के जीवनकाल में एवं उसके पश्चात् भी उनसे वैचारिक मतभेद रखने वाले व्यक्ति निह्लव कहलाए। महावीर को परम्परा में कुल सात निह्लव ऐसे हुए थे, जिनका महावीर के विचारों से मतभेद था। जमालि और तिष्यगुप्त ये दो निह्लव ऐसे थे, जो महावीर के जीवनकाल में ही हुए थे। इन्होंने महावीर की मान्यता का विरोध करते हुए अपने नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। शेष पाँच निह्लव महावीर निर्वाण के पश्चात् हुए थे।^१

सात निह्लव और उनके सिद्धान्त :

महावीर के विचारों से मतभेद रखने वाले सात निह्लव कौन थे तथा वे कब और किन प्रश्नों को लेकर जैन धर्म से अलग हुए थे? इसकी संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है—

१. जमालि

महावीर के केवली होने के चौदहवें वर्ष के अन्त में सर्वप्रथम जमालि नामक एक शिष्य ने महावीर की मान्यता से असहमति प्रकट की थी।^२ महावीर क्रियमाण को कृत कहते थे, उनके अनुसार जो किया जा रहा

१. आवश्यकनियुक्ति, गाथा ७८३-७८४

२. (क) आवश्यकभाष्य, गाथा १२५

(ख) कल्याणविजयगणि-श्री पट्टावस्त्रे पताग संग्रह, पृ० ६८

है, उसे किया हुआ कहा जा सकता है। किन्तु जमालि का कहना था कि क्रियमाण को कृत नहीं कहा जा सकता।^१ अपने तर्क के पक्ष में वह बिछोना बिछाये जाने का सुन्दर दृष्टान्त देते हुए कहता है कि जो बिछोना बिछाया जा रहा हो, उसे बिछा हुआ कैसे कहा जा सकता है? जमालि के इस विचार से ही महावीर काल में सर्वप्रथम वैचारिक मतभेद का सूत्रपात हुआ। यह अलग बात है कि जमालि की तुलना में महावीर का व्यक्तित्व अधिक प्रभावशाली था, जिससे यह वैचारिक मतभेद महावीर के संघ को अधिक क्षति नहीं पहुँचा सका। जमालि अपने ५०० शिष्यों के साथ महावीर के संघ से अलग होकर अपने सिद्धान्त का प्रचार करता रहा। जमालि का सिद्धान्त “बहुतरवाद” के नाम से जाना जाता है।^२ प्रियदर्शना साध्वी, जो गृहस्थावस्था की दृष्टि से महावीर की पुत्री तथा जमालि की पत्नी थी, वह भी जमालि के प्रति राग के कारण उसके मत को स्वीकार कर अपनी एक हजार श्रमणियों के साथ महावीर के संघ से अलग हो गई थी। एक बार वह साध्वी समुदाय सहित श्रावस्ती नगरी में गईं। वहाँ वह श्रमणोपासक ढंक कुम्भकार को भांडशाला में ठहरी। साध्वी प्रियदर्शना को प्रतिबोध देने हेतु ढंक ने उसकी संघाटी (चद्दर) पर आग की एक चिनगारी फेंकी। जैसे ही संघाटी जलने लगी, प्रियदर्शनी ने कहा, श्रावक! यह तुमने क्या किया? मेरो संघाटी जला दी। ढंक ने कहा—आर्ये! आप असत्य बोल रही हैं। संघाटी जली नहीं है। जलते हुए को जला कहना तो महावीर का सिद्धान्त है। आपका सिद्धान्त तो जलते हुए को जला नहीं कहता, फिर आपने जलती हुई संघाटी के लिये “संघाटी जला दी” ऐसा कैसे कहा? इतना सुनकर प्रियदर्शना को सत्य का बोध हो गया और वह पुनः अपनी एक हजार श्रमणियों के साथ महावीर के संघ में सम्मिलित हो गईं।^३ किन्तु जमालि

१. (क) व्याख्याप्रज्ञप्ति, १।३३

(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २३०६-२३०८

२. (क) स्थानांगसूत्र, ७।१४०-१४१ (ख) औपपातिकसूत्र, १२२

(ग) उत्तराध्ययननियुक्ति-नियुक्तिसंग्रह (भद्रबाहु), गाथा १६५-१६८

(घ) आवश्यकभाष्य, गाथा १२५

(ङ) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २३०१

३. श्री पट्टावली पराग संग्रह, पृ० ६९

ने अपने 'बहुतरवाद' सिद्धान्त का त्याग नहीं किया और वह अन्त तक अपने सिद्धान्त पर दृढ़ रहा ।

२. तिष्यगुप्त :

महावीर के केवली होने के सौलह वर्ष पश्चात् उनके एक अन्य शिष्य तिष्यगुप्त ने उनके जीवप्रदेशी सम्बन्धी विचारों से असहमति प्रकट की थी । महावीर के अनुसार आत्म-प्रदेशों के पिण्ड में से एक भी प्रदेश कम हो तो उसको जीव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्पूर्ण लोकाकाश-प्रदेशतुल्य प्रदेश वाला जीव ही 'जीव' नाम से जाना जाता है । किन्तु तिष्यगुप्त महावीर के इस विचार से सहमत नहीं था । उसका कहना था कि जब अन्तिम प्रदेश के अभाव में जीव 'जीव' नहीं है—तो इससे तो यही प्रतिफलित होता है कि एक अन्तिम प्रदेश ही जीव है, शेष प्रदेश जीव नहीं है ।^१ तिष्यगुप्त का यह कथन 'जीवप्रादेशिकवाद' के नाम से जाना जाता है ।^२ तिष्यगुप्त को उसके गुरु ने कहा कि तुम्हारा कथन सही मानने पर तो जीव का ही अभाव मानना पड़ेगा । तुम्हारे मत से तो अन्त्य जीव-प्रदेश को भी अजीव मानना पड़ेगा, क्योंकि अन्य प्रदेशों से इसका कोई भेद नहीं है । ऐसे अनेक वक्तव्यों से तिष्यगुप्त को उसके गुरु ने समझाया, किन्तु उसने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा, तब गुरु ने उसे अपने संघ से पृथक कर दिया । तिष्यगुप्त स्वतन्त्र विचरण करते हुए एक बार आमलकल्या नगरी पहुँचा । वहाँ उसे महावीर के 'मित्रश्रो' नामक उपासक ने अपने घर आने का निमन्त्रण दिया । निमन्त्रण प्राप्त कर तिष्यगुप्त कुछ साधुओं के साथ मित्रश्रो के घर गया । मित्रश्री तिष्यगुप्त को प्रतिबोध देना चाहता था । उसने तिष्यगुप्त सहित सभी साधुओं को आसन पर बिठाया और अनेक प्रकार के खाद्य व्यंजन लाकर उनका एक-एक दाना उनके पात्र में रखा । यह देखकर साधु बोले—हे श्रावक ! क्यों हमारा मजाक कर रहे हो ? तब मित्रश्री ने कहा—मैंने तो आपके सिद्धान्तानुसार ही आपको आहार दिया है । यदि आप कहें तो महावीर

१. (क) औपपातिकसूत्र, १२२ व्याख्या-मधुकर मुनि

(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २३३६-२३५५

२. (क) स्थानांगसूत्र, ७/१४०-१४१ (ख) औपपातिकसूत्र, १२२

(ग) उत्तराध्ययननियुक्ति, गाथा १६५, १६८

(घ) आवश्यकभाष्य, गाथा १२७

(ङ) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २३०१

के सिद्धान्तानुसार आहार दूँ । मित्रश्री का यह कथन सुनकर तिष्यगुप्त अपनी भूल को समझ गया और पुनः महावीर के संघ में सम्मिलित हो गया ।^१

३. आषाढभूति के शिष्य :

महावीर निर्वाण के दो सौ चौदह वर्ष पश्चात् तीसरे निह्वव के रूप में आचार्य आषाढभूति के शिष्यों का उल्लेख मिलता है ।^२ इनका सिद्धांत “अव्यक्तवाद” के नाम से जाना जाता है । अव्यक्तवाद की उत्पत्ति के सन्दर्भ में कहा जाता है कि आचार्य आषाढभूति अपने शिष्यों को आगाढ-योग की साधना करवा रहे थे कि हृदयाघात से उनकी मृत्यु हो गई । मरकर वे “नलिनीगुल्म” नामक विमान में देव हुए । देव होते ही अवधि ज्ञान से उन्होंने उपयोग लगाया कि मेरे शिष्यों की आगाढयोग साधना अधूरी रह जाएगी । तब उन्होंने ‘नलिनीगुल्म’ से आकर पुनः अपने मृत शरीर में प्रविष्ट होकर शिष्यों को साधना पूरी करवाई । साधना पूरी करवाने के पश्चात् उन्होंने अपने शिष्यों को कहा कि अमुक रात्रि को मैं कालधर्म को प्राप्त हो गया था, किन्तु तुम्हारी साधना पूर्ण करवाने हेतु मैंने अपने मृत शरीर में पुनः प्रवेश किया था । इस अवधि में असंयत होते हुए भी मैंने तुमसे वन्दन करवाया, इसलिये मुझे क्षमा करें । यह कर आचार्य आषाढ जब पुनः देवलोक में चले गये तो उनके शिष्य सोचने लगे—कौन जानता है कि यह साधु है या देव ? यह संयत है या असंयत ? इस आधार पर तो किसी के विषय में कुछ भी व्यक्त नहीं किया जा सकता अर्थात् सब कुछ अव्यक्त है । यह मानकर उन्होंने परस्पर वन्दन करना भी छोड़ दिया । इस पर स्थविरो ने उन्हें कहा कि किसी संयत के विषय में देव होने की शंका तब तक उचित नहीं है जब तक कि देव अपना रूप बताकर कहे कि मैं देव हूँ । इसी प्रकार जब कोई साधु यह कहे कि मैं साधु हूँ तो आपका उसके विषय में शंका करना ठीक नहीं है । क्या देव वचन ही सत्य है ? साधु के सत्य वचन सत्य नहीं ? जो आपने परस्पर

१. (क) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २३५५
- (ख) श्री पट्टावली पराग संग्रह, पृष्ठ ७०-७१
२. (क) स्थानांगसूत्र, ७।१४०-१४१
- (ख) औपपातिकसूत्र, १२२
- (ग) उत्तराभयननियुक्ति, गाथा १६५-१६९
- (घ) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २३५६-२३८८

वन्दन-करना भी बन्द कर दिया है। इत्यादि अनेक युक्तियों से स्थविरों ने उन्हें समझाया, किन्तु आषाढभूति के शिष्यों ने स्थविरों की बात नहीं मानी। तब आचार्यों ने उन्हें संघ से पृथक कर दिया। एक बार वे अव्यक्तवादी साधु राजगृह नगर गये। वहाँ का राजा बलभद्र श्रमणोपासक था, उसने उन अव्यक्तवादी साधुओं को प्रतिबोध देने हेतु राजसेवकों को भेजकर अपने यहाँ बुलवाया और सेवकों को आदेश दिया कि इन्हें सैनिकों द्वारा मरवा दो। राजा की आज्ञा सुनकर वे अव्यक्तवादी साधु बोले— हे राजन् ! आप श्रावक हों फिर हम साधुओं को क्यों मरवा रहे हो ? राजा ने कहा—तुम साधु हो या चोर, यह कौन कह सकता है ? मैं भी श्रावक हूँ या नहीं, यह तुम कैसे कह सकते हो ? तुम कैसे साधु हो जो सामान्य शिष्टाचार के रूप में परस्पर वन्दन तक नहीं करते ? यह सुनकर उन अव्यक्तवादी साधुओं को अपनी गलती का बोध हो गया और अव्यक्तवाद को छोड़कर वे पुनः महावीर के संघ में सम्मिलित हो गये।^१

४. अश्वमित्र :

महावीर निर्वाण के दो सौ बौस वर्ष पश्चात् हुए चौथे निह्व के रूप में अश्वमित्र का नामोल्लेख उपलब्ध होता है।^२ इनका सिद्धांत "समुच्छेदवाद" के नाम से जाना जाता है।^३ समुच्छेदवाद की उत्पत्ति के संदर्भ में कहा जाता है कि आचार्य कौण्डिय अपने शिष्य अश्वमित्र को 'पूर्वज्ञान' का अध्ययन करवा रहे थे। पर्यायवाद का प्रकरण चल रहा था, आचार्य कौण्डिय समझा रहे थे कि नारकीय जीव की प्रथम समय की पर्याय समयान्तर में व्युच्छिन्न हो जाती है। इसी प्रकार द्वितीय, तृतीय आदि समयों में होने वाली पर्याय भी व्युच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार पर्याय को अपेक्षा से सारे नारकीय जीव व्युच्छिन्न स्वभाव वाले हैं। अश्वमित्र ने इस कथन को समग्र रूप में नहीं समझकर केवल व्युच्छिन्न

१. श्री पट्टावली पराग संग्रह, पृष्ठ ७२-७३

२. (क) स्थानांगसूत्र, ७।१४०-१४१

(ख) औपपातिकसूत्र, १२२

(ग) आवश्यकभाष्य, गाथा १३१

(घ) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २३८९

३. (क) औपपातिकसूत्र, १२२

(ख) उत्तराध्ययननियुक्ति, गाथा १६५, १७०

(ग) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २३९०-२४२०

शब्द को ही पकड़ लिया। आचार्य कौण्डिन्य ने तो मात्र पर्याय की अपेक्षा से ही नारकीय जीवों का व्युच्छेद होना बताया था, द्रव्य की अपेक्षा से नहीं। किन्तु अश्वमित्र ने इस कथन को यथार्थ रूप में नहीं समझा तथा उसने माना कि प्रत्येक पदार्थ का सम्पूर्ण विनाश हो जाता है। इस प्रकार वह दुराग्रही हो गया। तब आचार्य कौण्डिन्य ने उसे संघ से पृथक कर दिया। किसी समय अश्वमित्र समुच्छेदवाद का प्रचार करता हुआ अपने अनुयायियों सहित काम्पिल्यपुर नगर में पहुँचा। वहाँ “खंडरक्ष” नामक श्रावक रहता था। उसने सामुच्छेदियों को प्रतिबोध देने हेतु अपने लोगों से उन्हें पकड़वाया और कहा कि इन्हें मार डालो। तब वे बोले— तुम श्रावक हो, फिर क्यों हम साधुओं को मरवाते हो? तब खंडरक्ष श्रावक ने कहा— जो साधु थे वे उसी समय व्युच्छिन्न हो गए, तुम तो कोई चोर लगते हो। तुम्हारा ही तो यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थ का दूसरे समय सम्पूर्ण विनाश होता है।^१ इस घटना से अश्वमित्र को अपनी गलती का बोध हो जाता है। तब वह कहता है कि हमें मत मरवाओ, हम वे ही साधु हैं, जो पहले थे। इस प्रकार अश्वमित्र एकान्त समुच्छेदवाद का त्याग कर पुनः महावीर के संघ में सम्मिलित हो गया।

५. गंग :

महावीर निर्वाण के दो सौ अट्ठाईस वर्ष पश्चात् हुए पाँचवें निङ्गव के रूप में आचार्य गंग का उल्लेख मिलता है।^२ महावीर के अनुसार एक समय में एक साथ दो क्रियाओं की अनुभूति नहीं हो सकती, किन्तु आचार्य गंग महावीर के इस मंतव्य से सहमत नहीं थे। उनके अनुसार एक ही समय में एक साथ दो क्रियाओं की अनुभूति हो सकती है।^३ अपने तर्क के पक्ष में आचार्य गंग नदी पार करते हुए सिर पर सूर्य की उष्णता और पैरों में पानी की शीतलता—इन दोनों अनुभूतियों को एक ही समय में और

१. श्री पट्टावली पराग संग्रह, पृ० ७४-७५
२. (क) स्थानांगसूत्र, ७।१४०-१४१
(ख) औपपातिकसूत्र, १२२
(ग) उत्तराध्ययननियुक्ति, गाथा १६६, १७१
(घ) आवश्यकभाष्य, गाथा १३३
(ङ) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २४२४
३. (क) औपपातिकसूत्र, १२२ व्याख्या—मधुकर मुनि
(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २४२५-२४५०

एक ही साथ होना मानते हैं। आचार्य गंग को उनके गुरु आचार्य धनगुप्त ने कहा कि तुम्हारा यह मन्तव्य उचित नहीं है, क्योंकि समय और मन बहुत सूक्ष्म होते हैं। वे भिन्न-भिन्न होते हुए भी स्थूलबुद्धि के कारण मनुष्य को एक ही प्रतीत होते हैं, जबकि वस्तुतः ऐसा नहीं होता है। आचार्य धनगुप्त द्वारा समझाने पर आचार्य गंग को सत्य का बोध हो जाता है और वे अपने “द्विक्रियावादी” सिद्धान्त को त्यागकर पुनः महावीर के संघ में सम्मिलित हो जाते हैं।

६. रोहगुप्त :

महावीर निर्वाण के पाँच सौ चर्वालोस वर्ष पश्चात् हुए छठे निह्वव के रूप में रोहगुप्त का उल्लेख मिलता है।^१ जैन सिद्धान्त के अनुसार इस जगत में दो ही राशियाँ हैं—(१) जीवराशि और (२) अजीवराशि। किन्तु रोहगुप्त ने जैन सिद्धान्त के विपरीत जीव, अजीव और नोजीव—इन तीन राशियों की स्थापना की थी। उनका सिद्धान्त “त्रैराशिकवाद” के नाम से जाना जाता है।^२

त्रैराशिकवाद की उत्पत्ति की कथा बड़ी रोचक है। कहा जाता है कि पोट्टशाल नामक एक परिद्वाराजक अपने से वाद करने हेतु सभी को चुनौती देता था। एकबार रोहगुप्त ने पोट्टशाल की चुनौती स्वीकार कर ली। जब राज्यसभा में वाद प्रारम्भ हुआ तो चालाक पोट्टशाल ने रोहगुप्त के पक्ष को ही अपना पक्ष बना लिया और कहा कि जगत में दो ही राशियाँ हैं—(१) जीव राशि और (२) अजीव राशि। रोहगुप्त को पोट्टशाल के मत का खण्डन करना था, इसलिये उसने जीव, अजीव के साथ नोजीव राशि की भी स्थापना कर दी। वस्तुतः त्रैराशिकवाद की स्थापना रोहगुप्त ने मात्र चालाक पोट्टशाल को वाद में पराजित करने के लिए ही की थी। किन्तु एक बार जब त्रैराशिकवाद की स्थापना रोहगुप्त ने कर दी तो फिर उसने उसका प्रतिवाद नहीं किया और वह आजोवन “त्रैराशिकवाद” को ही मानता रहा।

१. (क) स्थानांगसूत्र, ७।१४०-१४१, (ख) औपपातिकसूत्र, १२२
- (ग) आवश्यकभाष्य, गाथा १३५ (घ) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २४५१
२. (क) औपपातिकसूत्र, १२२ व्याख्या—मधुकर मुनि
- (ख) उत्तराध्ययननियुक्ति, गाथा १६६-१७२
- (ग) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २४५२-२५०८

७. गोष्ठामाहिल :

महावीर निर्वाण के पाँच सौ चौरासी वर्ष पश्चात् हुए सातवें निह्वन्न के रूप में गोष्ठामाहिल का उल्लेख उपलब्ध होता है।^१ जैन सिद्धान्त के अनुसार कर्म जोव के साथ बँधते हैं। महावीर की मान्यता थी कि कर्म पुद्गल और आत्म-प्रदेश उसी प्रकार एक-दूसरे में समाहित होकर रहते हैं जिस प्रकार लौह-पिण्ड में अग्नि समाहित होकर रहता है। किन्तु गोष्ठामाहिल का कहना था कि कर्मवर्गणा के पुद्गल आत्म-प्रदेशों का स्पर्श मात्र करते हैं, वे उनके साथ उसी प्रकार एकीभूत नहीं होते जिस प्रकार सर्प के शरीर से कँचुली एकीभूत नहीं होती।^२ गोष्ठामाहिल का यह कथन “अबद्धिकवाद” के नाम से जाना जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द का मन्तव्य भी अबद्धिकवाद से निकटता रखता है।

इन सातों निह्वन्नों में से जमालि, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल—ये तीनों निह्वन्न अन्तिम समय तक महावीर परम्परा से अलग रहे और अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते रहे, जबकि शेष चारों निह्वन्नो ने महावीर के विचारों में सन्देह तो किया, किन्तु कुछ समय पश्चात् जब उनकी शंका का समाधान हो गया तो वे पुनः महावीर के संघ में सम्मिलित हो गये।

शिवभूति निह्वन्न :

स्थानांगसूत्र और औपपातिकसूत्र आदि आगम ग्रन्थों में सात निह्वन्नो का ही नामोल्लेख उपलब्ध होता है, किन्तु उत्तराध्ययननियुक्ति एवं विशेषावश्यकभाष्य में आठवें निह्वन्न के रूप में शिवभूति का उल्लेख हुआ है।^३ श्वेताम्बर परम्परा का तो यह भी मानना है कि शिवभूति निह्वन्न से ही दिग्म्बर परम्परा की उत्पत्ति हुई है। इस कथन की ऐतिहासिक सत्यता कितनी है? यह चर्चा हम दिग्म्बर सम्प्रदाय को उत्पत्ति

१. (क) स्थानांगसूत्र ७।१४०-१४१ (ख) औपपातिकसूत्र, १२२
(ग) उत्तराध्ययननियुक्ति, गाथा १६६
(घ) आवश्यकभाष्य, गाथा १४१
(ङ) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २५०९
२. (क) औपपातिकसूत्र, १२२ व्याख्या—मधुकर मुनि
(ख) उत्तराध्ययननियुक्ति, गाथा १७५-१७६
(ग) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २५१०-२५४९
३. (क) उत्तराध्ययननियुक्ति, गाथा १७८
(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २५५१

के प्रसंग में विस्तारपूर्वक करेंगे। विशेषावश्यकभाष्य के अनुसार महावीर निर्वाण के छः सौ नौ वर्ष पश्चात् बोटिक शिवभूति द्वारा बोटिक मत की उत्पत्ति हुई।^१ वे मुनि के लिये वस्त्र त्याग (अचेलता) आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार समर्थ मुनि को अचेल (नग्न) रहना चाहिए, क्योंकि अचेलता (नग्नता) ही उत्सर्ग मार्ग है। वस्त्रग्रहण करना तो आपवादिक मार्ग है।

चैत्यवासी प्रथा :

चौथी शताब्दी के लगभग जैन धर्म में चैत्यवासी प्रथा भी विकसित हो चुकी थी। आचार्य धर्मसागरजी ने चैत्यवासी प्रथा का उद्भव काल ३५५ ई० माना है।^२ मुनि कल्याणविजयजी के अनुसार इससे पूर्व ही यह प्रथा प्रारम्भ हो गई थी, किन्तु ३५५ ई० तक तो यह बहुत ही व्यापक रूप से स्थापित हो गई।^३ इस प्रथा के श्रमण चैत्यों एवं मठों में रहते थे। प्रतिमा पूजा में श्रावक लोग जो देव-द्रव्य चढ़ाते थे, उसका वे उपभोग करते थे। वे दिन में दो-तीन बार भोजन करते थे और भोजन में सचित्त द्रव्य का भी उपभोग करते थे। वे रंग-बिरंगे तथा सुगन्धित वस्त्र पहनते थे तथा स्नान-श्रृंगार आदि करते थे। इतना ही नहीं वे मूहूर्त आदि निकालते थे तथा लोगों को भभूत आदि भी देते थे। तन्त्र-मन्त्र आदि के वे जानकार होते थे तथा ताबीज आदि भी बनाते थे। वस्तुतः चैत्यवासी श्रमणों का आचार जैन शास्त्रों में उल्लिखित श्रमणाचार से कोई संगति नहीं रखता है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में पाँचवीं-छठीं शताब्दी के बाद से चैत्यवास पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया था और अपरिग्रही जैन श्रमण चाहे वे सचेल परम्परा के हों या अचेल परम्परा के, मठाधीश बन गये थे। चैत्यवासी प्रथा के विरुद्ध सर्वप्रथम दिगम्बर परम्परा में छठीं शताब्दी के लगभग आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्धाचार का बिगुल बजाया था।^४ दूसरी ओर श्वेताम्बर परम्परा में आठवीं शताब्दी के लगभग आचार्य हरिभद्र ने इन मठाधीश जैन मुनियों को खुब खबर ली, किन्तु कोई भी इन्हें नामशेष नहीं कर सके।^५ सुविहित मुनियों के साथ-साथ दोनों ही परम्पराओं में चैत्यवासी प्रथा भी अपने ढंग से चलती रही।

१. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २५५०-२६०९

२. प्रेमी, नाथुराम—जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३५१

३. वही, पृ० ३५१

४. लिंगपाहुड-अष्टपाहुड, गाथा ४-२१

५. संबोध प्रकरण (हरिभद्रसूरि), पत्र १३-१५

जैनधर्म में सम्प्रदाय विभाजन का जो रूप सामने आया है उसमें न तो निह्लव कारण बने हैं और न ही चैत्यवासी प्रथा के श्रमण। चैत्यवासी प्रथा जैनधर्म में सम्प्रदाय विभाजन के पूर्व ही अस्तित्व में आ चुकी थी और बाद में जब जैनधर्म श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय परम्पराओं में विभक्त हो गया तो चैत्यवासी प्रथा के श्रमण तो इन सभी परम्पराओं में भी बने रहे। ८वीं शताब्दी के बाद तो चैत्यवासी श्रमणों के आचार में उत्तरोत्तर शिथिलता बढ़ती गई और चैत्यालय शिथिलाचार के अड्डे बन गये। चैत्यवासी प्रथा का अस्तित्व लगभग १५वीं शताब्दी तक रहा, इन्हीं से आगे चलकर श्वेताम्बर परम्परा में यतियों तथा दिगम्बर परम्परा में भट्टारकों का विकास हुआ।

सम्प्रदाय विभाजन :

महावीर के केवलज्ञान प्राप्त करने के चौदहवें वर्ष से लेकर उनके निर्वाण प्राप्त करने के पाँच सौ चौरासी वर्ष पश्चात् तक जैन परम्परा में जो वैचारिक मतभेद उत्पन्न हुए उनकी चर्चा हमने पूर्व में सात निह्लवों के रूप में की है, किन्तु इन वैचारिक मतभेदों के कारण जैनधर्म में विभिन्न सम्प्रदायों की उत्पत्ति नहीं हो सकी थी। महावीर निर्वाण के पाँच सौ चौरासी वर्ष पश्चात् कब, किस प्रकार एवं किन कारणों से जैन संघ विभिन्न सम्प्रदायों में विभक्त हो गया तथा श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदाय अस्तित्व में आये तथा इन अलग-अलग सम्प्रदायों की क्या अलग-अलग मान्यताएँ बनीं ? इत्यादि चर्चा हम आगे करेंगे।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय :

श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार महावीर के समय में श्रमणों में सचेल एवं अचेल या स्थविरकल्पी और जिनकल्पी दोनों प्रकार की श्रमण परम्पराएँ अस्तित्व में थीं। यह महावीर का प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं सहिष्णु दृष्टि थी जो एक ही संघ में ऐसा द्विविध कल्प होते हुए भी लम्बे समय तक उनकी परम्परा को कोई विभाजित नहीं कर सका, किन्तु अधिक समय तक ऐसा द्विविध कल्प एक संघ में चलना सम्भव नहीं था इसलिये जब सचेलता और अचेलता के विवाद के कारण यह संघ विभाजित हुआ तो जो श्रमण सचेलता के पोषक थे, वे श्वेताम्बर कहे जाने लगे और जिन्होंने अचेलता का पक्ष लिया, वे दिगम्बर कहलाये। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के श्रमण-श्रमणो श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। दर्शन

एवं आचार सम्बन्धी इनकी कुछ मान्यताएँ दिगम्बर सम्प्रदाय से भिन्न हैं, जिनका उल्लेख हम यथास्थान आगे करेंगे ।

दिगम्बर मतानुसार श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति :

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति के विषय में दिगम्बर मान्यता यह है कि मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त के समय श्रुतकेवली भद्रबाहु ने भयंकर अकाल की भविष्यवाणी की थी । जिसे सुनकर मुनि वर्ग का एक समूह उनके नेतृत्व में दक्षिण भारत चला गया और अचेल धर्म का पालन करता रहा । इधर उत्तर भारत में भद्रबाहु की अनुपस्थिति में स्थूलिभद्र ने संघ का नेतृत्व ग्रहण किया और दुष्काल की स्थिति में श्रमणोचित आचार-नियमों में कुछ ढील देते हुए भिक्षुओं को वस्त्र, पात्र, दण्ड आदि रखने की अनुमति दे दी । बाद में जब भद्रबाहु का संघ दक्षिण धारत से लौटकर आया तो इन सवस्त्र भिक्षुओं को पुनः अचेल धर्म का पालन कराने में उन्हें सफलता नहीं मिली । परिणामस्वरूप साधुओं में संघभेद हो गया । इस प्रकार वस्त्र, पात्र आदि रखने वाले साधु श्वेताम्बर साधु के रूप में पहचाने जाने लगे और जिन्होंने वस्त्र, पात्र आदि का त्याग कर दिया था, वे दिगम्बर साधु कहलाने लगे । दिगम्बर परम्परानुसार यह घटना वि० सं० १३६ (वीर निर्वाण संवत् ६०६) की है ।^१ दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ भावसंग्रह में भी श्वेताम्बर परम्परा की उत्पत्ति का कथन इससे मिलता-जुलता ही है ।^२

दिगम्बर सम्प्रदाय :

दिगम्बर परम्परा ने अपने अपरिग्रह सिद्धान्त को थोड़ा कठोर बनाते हुए श्रमणों के सीमित वस्त्र-पात्रादि को भी परिग्रह की सीमा में गिन लिया । यही कारण है कि इस सम्प्रदाय के साधु निर्वस्त्र ही रहते हैं एवं हाथ में ही भोजन ग्रहण करते हैं अर्थात् पाणि-पात्री होते हैं ।

श्वेताम्बर परम्परा की अपेक्षा दिगम्बर परम्परा का एक मुख्य भेद यह है कि इस परम्परानुसार स्त्री मुक्त नहीं हो सकती तथा केवली कवलाहार नहीं करते हैं । श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं को दर्शन तथा आचार सम्बन्धी अधिकांश मान्यताएँ समान हैं, किन्तु कुछ भिन्न भी हैं । इन सबका उल्लेख हम यहाँ नहीं करके इन दोनों परम्प-

१. बृहत्कथाकोश (हरिवेण), पृ० ४-६

२. भावसंग्रह—देवसूरि, गाथा ५२-६२

राओं को दर्शन तथा आचार सम्बन्धी मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन करते समय आगे के अध्यायों में विस्तारपूर्वक करेंगे।

श्वेताम्बर मतानुसार दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति :

श्वेताम्बर आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के अनुसार महावीर निर्वाण के ६०९ वर्ष पश्चात् (अर्थात् वि० सं० १२९) रथवीरपुर में बोटिक मत (दिगम्बर मत) की उत्पत्ति हुई थी। इस कथन की पुष्टि उत्तराध्ययननियुक्ति, विशेषावश्यकभाष्य और आवश्यकचूर्ण जैसे प्राचीन ग्रंथों से भी होती है। सामान्य मान्यता यह है कि आठवें निहव के रूप में शिवभूति द्वारा जिस बोटिक मत की उत्पत्ति हुई थी वही बोटिक मत आगे चलकर दिगम्बर कहलाया है। कथा के अनुसार रथवीरपुर में शिवभूति नामक एक सामन्त (क्षत्रिय) रहता था। जिसने अनेक युद्धों में बहादुरी के कारण अपने राजा से सम्मान पाया था। राजा के द्वारा सम्मानित होने के कारण वह स्वेच्छारी हो गया था। एकबार काफी रात बीत जाने के पश्चात् शिवभूति जब घर पर आया तो उसकी माँ ने घर का दरवाजा नहीं खोला और उसे फटकार लगाते हुए कहा—इस समय जहाँ तुम्हारे लिये द्वार खुले हों, वहाँ चले जाओ। यह कथन सुनकर शिवभूति वापस मुड़ा और भाग्यवश ऐसे स्थान पर जा पहुँचा, जहाँ जैन साधु ठहरे हुए थे। पहले तो शिवभूति ने श्रमणों से दीक्षा देने का बहुत आग्रह किया, किन्तु जब श्रमणों ने दीक्षा देने से इन्कार कर दिया तो शिवभूति स्वयं अपने हाथों से केशलोच करने लगा। उसे केशलोच करता देखकर ही आर्यकृष्ण ने संभवतः यह अनुमान लगाया कि इसकी वैराग्य भावना प्रबल है और शायद यही सोचकर उन्होंने उसे दीक्षा भी दे दी।

कुछ समय व्यतीत हो जाने के पश्चात् एकबार जब शिवभूति मुनि वेश में पुनः अपने नगर आया तो राजा ने उसे एक मूल्यवान् रत्न-कम्बल भेंटस्वरूप दिया, जिसे शिवभूति ने ग्रहणकर लिया। शिवभूति के गुरु आर्यकृष्ण ने जब उसके पास यह मूल्यवान् रत्न-कम्बल देखा तो उसे समझाया कि ऐसे वस्त्र रखना साधुओं के लिए उचित नहीं है इसलिए इस वस्त्र को पुनः लौटा देना चाहिये। किन्तु शिवभूति ने अपने गुरु की इस आज्ञा का पालन नहीं किया। आर्यकृष्ण ने एक दिन शिवभूति की अनुपस्थिति में उस कम्बल के छोटे-छोटे टुकड़े करके बैठने के आसन बना दिए। जब शिवभूति ने यह देखा तो वह अत्यधिक क्रोधित हुआ, उसने

घोषणा की कि यदि यह कम्बल रखना परिग्रह है तो वह ऐसी कोई भी वस्तु अपने पास नहीं रखेगा, जो ममत्व का कारण बने। ऐसा कहकर उसने अपने सभी वस्त्रों का त्याग कर दिया और निर्वस्त्र विचरण करने लगा। शिवभूति द्वारा इस प्रकार किया गया वस्त्र त्याग ही श्वेताम्बर मतानुसार दिगम्बर परम्परा की उत्पत्ति का कारण बना है।

इसी कथा के सन्दर्भ में श्वेताम्बर परम्परा का यह भी कहना है कि शिवभूति की बहिन भी नग्न होकर उसके संघ में शामिल हो गई, किन्तु उसे नग्न विचरण करते हुए देखकर एक वेश्या ने उप पर एक वस्त्र डाल दिया। तब शिवभूति ने उससे कहा कि इसे देवदुष्य समझकर ग्रहण कर लो। इस प्रकार शिवभूति ने स्त्रियों के लिये सवस्त्रता स्वीकार करली।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर सम्प्रदायों की उत्पत्ति सम्बन्धी मान्यताओं का निष्कर्ष :

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर इन दोनों सम्प्रदायों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो कथाएँ प्रचलित हैं, उनका हमने यहाँ उल्लेख किया है उस आधार पर यद्यपि यह निर्णय कर पाना सहज नहीं है कि इनमें से कौनसा कथन सत्य है और कौनसा असत्य ? तथापि मतभेद से सम्बन्धित इन कथाओं के आधार पर यह निष्कर्ष तो निकाला हो जा सकता है कि दोनों सम्प्रदायों की उत्पत्ति का समय लगभग एक ही है। यह समय चाहे महावीर निर्वाण के ६०६ वर्ष पश्चात् माना जाए, चाहे ६०९ वर्ष पश्चात्। मात्र तीन वर्ष का अन्तर कोई ऐसा बड़ा अन्तर नहीं है, जिसे प्रामाणिक मानते हुए किसी एक सम्प्रदाय को प्राचीन मान लिया जाये और दूसरे को अर्वाचीन।

हमारे अनुसार संघ भेद की यह परिणति किसी एक घटना का परिणाम नहीं है। इसलिए यह मानना प्रासंगिक होगा कि जैनधर्म में यह परम्परा भेद बहुत समय पहले से चला आ रहा था जो महावीर निर्वाण के ६०६ वर्ष अथवा ६०९ वर्ष पश्चात् स्पष्ट रूप से संघभेद के रूप में सामने आ गया।

यापनीय सम्प्रदाय :

यद्यपि वर्तमान में विद्वत्त्वर्ग और जनसाधारण जैनधर्म के दो प्रमुख सम्प्रदायों—श्वेताम्बर एवं दिगम्बर से ही परिचित हैं, किन्तु इस धर्म का एक अन्य महत्वपूर्ण सम्प्रदाय “यापनीय” सम्प्रदाय भी था, जो ई०

सन् की पाँचवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी तक अस्तित्व में रहा था। यह सम्प्रदाय कुछ वर्षों पूर्व तक जैन समाज के लिये भी पूर्णतः अज्ञात बना हुआ था, किन्तु विगत कुछ वर्षों की शोधात्मक प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित कुछ अभिलेख एवं ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं। सर्वप्रथम डॉ० ए० एन० उपाध्ये एवं पं० नाथुरामजी प्रेमी ने इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित कुछ लेख प्रकाशित किये थे^१, उसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए प्रो० सागरमल जैन एवं श्रीमती कुसुम पटोरिया ने इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं की चर्चा अपने ग्रन्थों में की है^२ जिससे इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति, आचार-संहिता, इसके विभिन्न गण, अन्वय तथा इनके साहित्य आदि की जानकारी प्राप्त होती है। यापनीय संघ का सर्वप्रथम उल्लेख पलाशिका के ४७५ ई० के एक अभिलेख में मिलता है। इस अभिलेख में यापनीय, निर्ग्रन्थ एवं कूर्चकों को दिए गये भूमिदान का उल्लेख है।^३

आचार की दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि इस परम्परा के साधु दिग्म्बर साधुओं की तरह नग्न रहते थे, मयूर पिच्छी रखते थे, पाणिपल भोजी (करपात्री) थे तथा नग्न प्रतिमाओं की पूजा करते थे, किन्तु सिद्धान्त की दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि इस परम्परा के साधु श्वेताम्बर परम्परा के अधिक निकट थे। श्वेताम्बर साधुओं के समान ये भी स्त्रीभक्ति तथा केवलीभक्ति मानते थे। श्वेताम्बरों की तरह इस परम्परा में भी सवस्त्र की भक्ति होना संभव माना गया है।^४ ललित विस्तरा के कर्ता हरिभद्र और षड्दर्शनसमुच्चय के टीकाकार गुणरत्न ने भी इस कथन का समर्थन किया है। यापनीय संघ श्वेताम्बर और दिग्म्बर दोनों परम्पराओं का मिला-जुला रूप था।^५

१. जैन, सागरमल—जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पृ० १

२. (क) जैन, सागरमल—जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय

(ख) पटोरिया, श्रीमती कुसुम—यापनीय और उनका साहित्य

३. “श्री विजयपलाशिकायां यापनि (नी) य निर्ग्रन्थकूर्चकानां स्ववर्जयिके अष्टमे वैशाखे संवत्सरे कार्तिकपौष्ठार्मास्याम् ।”

—जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक ९९

४. जैन, सागरमल—जैन एकता का प्रश्न, पृ० १५

५. प्रेमी, नाथुराम—जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृ० ५९

यापनीय सम्प्रदाय के बारे में श्री अगरचन्द नाहटा लिखते हैं कि कई शताब्दियों तक अस्तित्व में रहने के पश्चात् यापनीय सम्प्रदाय लुप्त हो गया। अब इनके द्वारा मान्य जैन आगम आदि भी उपलब्ध नहीं होते हैं। इनके कुछ ग्रन्थों को दिगम्बरों ने अपना लिया तो कुछ ग्रन्थों को श्वेतांबरों ने अपना लिया है।^१ हमें नाहटाजी का यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता। श्वेताम्बर परम्परा ने तो अपने पूर्वजों के ग्रन्थों को ही अपनाया है। यापनीयों के सारे ग्रन्थ शौरसेणी भाषा में हो लिखित हैं। जबकि श्वेतांबर परम्परा के मान्य सभी ग्रन्थ अर्द्धमागधी अथवा महाराष्ट्री प्राकृत में हो लिखित हैं, इसलिये श्वेताम्बर परम्परा के सन्दर्भ में नाहटाजी के इस कथन की सत्यता को स्वीकारने में आपत्ति आती है। हाँ, दिगम्बर परम्परा के सन्दर्भ में नाहटाजी के कथन को किसी सीमा तक सत्य माना जा सकता है, क्योंकि दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य ग्रन्थ भी शौरसेणी भाषा में ही लिखित हैं।

यापनीय सम्प्रदाय की उत्पत्ति संबंधी मान्यतायें :

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य विशेषावश्यकभाष्य और आवश्यक-चूर्णि (लगभग ६ठीं-७वीं-शताब्दी) जैसे अति प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित कथनानुसार बोटिक शिवभूति से ही यापनीय सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई थी। बोटिक मत एवं उससे संबंधित कथा का उल्लेख हमने पूर्व में विस्तारपूर्वक किया है, इसलिए उस कथा का उल्लेख हम पुनः यहाँ नहीं कर रहे हैं।

दिगम्बर परम्परा में यापनीय सम्प्रदाय की उत्पत्ति का उल्लेख करने वाले दो कथानक उपलब्ध होते हैं। पहला-आचार्य देवसेन अपने ग्रन्थ दर्शनसार (लगभग १०वीं शताब्दी) में यापनीय सम्प्रदाय की उत्पत्ति का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि श्रीकलश नामक श्वेताम्बर साधु ने वि० सं० २०५ में यापनीय संघ प्रारम्भ किया था।^२ दूसरा कथानक रत्ननन्दी के भद्रबाहुचरित (ईसा की लगभग १५वीं शताब्दी) में उपलब्ध होता है।^३ उसमें यापनीयों की उत्पत्ति के बारे में लिखा है कि करहाटक

१. जैन एकता का प्रश्न, पृ० ३८

२. कल्लाणेवरणयरे दुणिसए पंच-उत्तरे जादे।

जावणियसंघभावो सिरिकलसावो हु सेवडवो ॥—दर्शनसार, गाथा २९.

३. भद्रबाहुचरित, ४।१५३-१५४

(करहाटाक्ष) के राजा भूपाल की पत्नी रानी नृपुलादेवी ने एक बार राजा से कहा कि मेरे पैतृक नगर से आए हुए आचार्यों को आप आदरपूर्वक अपने यहाँ आने का निवेदन करें। राजा का निमन्त्रण प्राप्त कर जब आचार्यगण नगर में पधारें तो राजा ने देखा कि वे साधु संवस्त्र हैं और उनके पास भिक्षा पात्र और दण्ड भी है। यह देखकर राजा ने उन्हें अनादारपूर्वक लौटा दिया। जब रानी नृपुलादेवी को यह सब वृत्तांत ज्ञात हुआ तो उसने उन मुनियों से पिच्छी-कमण्डलु लेकर नगर में प्रवेश करने की प्रार्थना की। साधुओं ने रानी की प्रार्थना स्वीकार करके तदनु रूप दिग्म्बर मुद्रा धारणा की और नगर में प्रवेश किया। इस प्रकार आचार की दृष्टि से दिग्म्बर और सिद्धान्त रूप में श्वेताम्बर-इन्हीं साधुओं से यापनीय संघ का प्रादुर्भाव हुआ।

यापनीय सम्प्रदाय की उत्पत्ति संबंधी मान्यताओं का निष्कर्ष :

यापनीय सम्प्रदाय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में श्वेताम्बर एवं दिग्म्बर दोनों सम्प्रदायों में जो कथानक प्रचलित हैं, उनका हमने यहाँ उल्लेख किया है। यद्यपि उनसे यह निष्कर्ष तो नहीं निकलता कि यापनीय सम्प्रदाय की उत्पत्ति श्वेताम्बर सम्प्रदाय से हुई अथवा दिग्म्बर सम्प्रदाय से, किन्तु इन कथानकों के आधार पर यह अवश्य ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर और दिग्म्बर सम्प्रदायों की उत्पत्ति के साथ ही जैन धर्म की इस तीसरी शाखा “यापनीय सम्प्रदाय” का भी प्रादुर्भाव हो चुका था। प्रारम्भ में संभवतः यापनीय सम्प्रदाय ने श्वेताम्बर एवं दिग्म्बर इन दोनों धाराओं को जोड़ने का प्रयास किया होगा, किन्तु इसमें सफलता नहीं मिलने पर यह शाखा एक तीसरे सम्प्रदाय के रूप में ही पहचानी जाने लगी।

जिस प्रकार श्वेताम्बर एवं दिग्म्बर दोनों सम्प्रदाय कई उप-सम्प्रदायों में विभाजित हो गए, उसी प्रकार यह सम्प्रदाय भी कई उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गया। अब हम श्वेताम्बर, दिग्म्बर एवं यापनीय-इन तीनों सम्प्रदायों के विभिन्न उपसम्प्रदायों के उपलब्ध विवरण प्रस्तुत करेंगे।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के उपसम्प्रदाय :

१७वीं शती के लगभग श्वेताम्बर सम्प्रदाय में मूर्तिपूजक एवं अमूर्ति-पूजक ऐसी दो परंपराएँ विकसित हुई हैं। तीर्थंकरों की मूर्तियाँ स्थापित करवाकर उनकी पूजा-अर्चना आदि पर बल देने वाला वर्ग मूर्तिपूजक

कहलाया है, जबकि मूर्तिपूजा का विरोध करने वाली लोकाशाह की परंपरा अमूर्तिपूजक कही जाती है। अमूर्तिपूजक लोकागच्छ से १७वीं शताब्दी के लगभग लवजीऋषिजी, धर्मसिंहजी, और धर्मदासजी के नेतृत्व में स्थानकवासी परंपरा विकसित हुई। स्थानकवासी परंपरा से ही १८वीं शताब्दी के लगभग आचार्य भिक्षु के नेतृत्व में तेरापंथ संप्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ है। ये सभी संप्रदाय किस प्रकार उप-संप्रदायों में विभाजित हो गये हैं? अब हम इसकी चर्चा करेंगे।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय :

मूर्तिपूजक, चैत्यवासी अथवा मन्दिरमार्गी कुछ भी कह लें, जिन-प्रतिमा की उपासना करने वाला यह सम्प्रदाय आगे चलकर कई गच्छों में विभाजित हो गया। यह विभाजन चाहे सैद्धान्तिक मतभेदों से हुआ हो, चाहे व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा इसके लिए उत्तरदायी रही हो, चाहे किसी घटना विशेष या स्थान विशेष के कारण यह हुआ हो, वस्तुस्थिति यह है कि मूर्तिपूजक संप्रदाय अब कई गच्छों में विभाजित हो गया है। इनमें से कुछ गच्छ तो ऐसे हैं जो आज भी अपने अस्तित्व को न केवल बनाए हुए हैं, वरन् उसमें अभिवृद्धि ही कर रहे हैं, किन्तु साथ ही कुछ गच्छ ऐसे भी हैं जो कुछ समय प्रभाव में रहने के पश्चात् लुप्त प्रायः हो गए हैं। अब उनके उल्लेख मात्र ही अवशिष्ट रह गए हैं। यहाँ हम श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संप्रदाय के विभिन्न गच्छों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. बृहद् गच्छ :

बृहद् गच्छ का एक अन्य नाम वडगच्छ भी मिलता है। इस गच्छ का प्राचीनतम अभिलेख ९५४ ई० का उपलब्ध है जिसमें बृहद् गच्छ के आचार्य परमानन्दसूरि के शिष्य यक्षदेवसूरि का उल्लेख हुआ है।^१ इसके अलावा १२५९ ई० से १५०२ ई० तक के लगभग ४० अभिलेख और उपलब्ध होते हैं, जिनमें इस गच्छ तथा इसके आचार्यों के नामोल्लेख मिलते हैं।^२

१. संवत् १०११ बृहद्गच्छीय श्रीपरमानन्दसूरि शिष्य श्री यक्षदेवसूरिभिः प्रतिष्ठितं ।

—लोढा, दौलतसिंह-श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक ३३१

२. (क) श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक २१९, २२०, २९२ (ख)

(ग) विनयसागर—प्रतिष्ठा लेख संग्रह, परिशिष्ट २, पृ० २२६

१२ वीं शताब्दी से लेकर १७ वीं-१८ वीं शताब्दी तक के उपलब्ध अभिलेखों में इस गच्छ के आचार्यों द्वारा जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा एवं जिनालयों की स्थापना आदि करने के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। इस गच्छ के आचार्य साहित्य-सृजन में भी पर्याप्त रुचि रखते थे। इस गच्छ के प्रमुख आचार्य और उनके द्वारा रचित साहित्य का उपलब्ध विवरण इस प्रकार है—

१. नेमिचन्द्रसूरि :

आचार्य नेमिचन्द्रसूरि द्वारा रचित साहित्य इस प्रकार है—

- (१) आख्यानमणिकोष, (मूल) (२) आत्मबोधकुलक
(३) उत्तराध्ययनवृत्ति (सुखबोधा) (४) रत्नचूडकथा
(५) महावीरचरियं ।

२. मुनिचन्द्रसूरि :

मुनिचन्द्रसूरि ने कुल ३१ ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें से वर्तमान में निम्न १० ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं—

- (१) अनेकान्तजयपताकाटिप्पनक, (२) ललितविस्तरापञ्जिका,
(३) उपदेशपद-सुखबोधावृत्ति, (४) धर्मबिन्दु-वृत्ति, (५) योगबिन्दु-वृत्ति,
(६) कर्मप्रवृत्ति-विशेषवृत्ति, (७) आवश्यक (पाक्षिक) सप्ततिका, (८) रसा-
उलगाथाकोष, (९) सार्धशतकचूर्णी, (१०) पार्श्वनाथस्तवनम् ।

३. वादिदेवसूरि :

आचार्य वादिदेवसूरि द्वारा रचित साहित्य इस प्रकार है—

- (१) प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार, (२) स्याद्वादरत्नाकर (टीका ग्रंथ),
(३) मुनिचन्द्रसूरिगुरुस्तुति, (४) मुनिचन्द्रगुरुविरहस्तुति, (५) यतिदिन-
चर्या, (६) उपधानस्वरूप, (७) प्रभातस्मरण, (८) उपदेशकुलक, (९) संसा-
रोदिग्गमनोरथकुलक, (१०) कर्लिकुडपार्श्वस्तवनम् आदि ।

४. हरिभद्रसूरि :

आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा रचित चार ग्रन्थों की जानकारी मिलती है—

- (१) बंध स्वामित्व [वृत्ति], (२) आगामिकवस्तुविचारसारप्रकरण
[वृत्ति], (३) श्रेयांसनाथचरित, (४) प्रशमरतिप्रकरण [वृत्ति] ।

१. डॉ० शिवप्रसाद-बृहद् गच्छ का संक्षिप्त इतिहास, उद्धृत-Aspects of Jainology, Vol. 3, p. 105-113

५. रत्नप्रभसूरि :

आचार्य रत्नप्रभसूरि द्वारा रचित साहित्य निम्नानुसार है—

(१) रत्नाकरावतारिका [टीका] , (२) दोषट्टीवृत्ति, (३) नेमिनाथ-चरित, (४) मतपरीक्षापंचाशत, (५) स्याद्वादरत्नाकर [लघु टीका] ।

६. हेमचन्द्रसूरि :

आप आचार्य अजितदेवसूरि के शिष्य थे और आपने नेमिनाभेय काव्य की रचना की थी ।

७. हरिभद्रसूरि :

हरिभद्रसूरि ने चौबीस तीर्थंकरों के चरित्र ग्रन्थों की रचना की थी, किन्तु चंद्रप्रभचरित्र, मल्लिनाथचरित्र और नेमिनाथचरित्र—इन तीन चरित्र ग्रन्थों के अतिरिक्त शेष २१ चरित्र ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं ।

८. सोमप्रभसूरि :

आचार्य सोमप्रभसूरि ने चार ग्रन्थों की रचना की थी—(१) कुमार-पालप्रतिबोध, (२) सुमतिनाथचरित्र, (३) सूक्तमुक्तावली और (४) सिंदूर-प्रकरण ।

९. नेमिचन्द्रसूरि :

नेमिचन्द्रसूरि आचार्य आम्रदेवसूरि के शिष्य थे । इन्होंने प्रवचन-सारोद्धार नामक महत्वपूर्ण दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की थी ।

बृहद्गच्छ का उल्लेख करने वाली प्राचीनतम प्रशस्तियाँ १२ वीं शताब्दी की हैं । इस गच्छ की उत्पत्ति के विषय में प्रकाश डालने वाली चार प्रशस्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) रत्नप्रभसूरि द्वारा रचित उपदेशमालाप्रकरणवृत्ति [ई० सन् ११८१]

(२) मुनि सुन्दरसूरि द्वारा रचित गुर्वावली [ई० सन् १४०९]

(३) धर्मसागरसूरि द्वारा रचित तपागच्छ पट्टावली [ई० सन् १५९१]

(४) मुनिमाल द्वारा रचित बृहद्गच्छगुर्वावली [ई० सन् १६९४]

इन प्रशस्तियों के अनुसार अर्बुद पर्वत पर ई० सन् ९३७ में एक वट

१. डॉ० शिवप्रसाद-बृहद्गच्छ का संक्षिप्त इतिहास :

वृद्धत-Aspects of Jainology, Vol. 3, P. 105-106

वृक्ष के नीचे आचार्य उद्योतनसूरि ने सर्वदेवसूरि सहित आठ मुनियों को आचार्य पद प्रदान किया था। वट वृक्ष के नीचे इस गच्छ को आचार्य पद प्रदान किए जाने के कारण ही यह गच्छ वडगच्छ के रूप में पहचाना जाने लगा। सर्वदेवसूरि वडगच्छ के प्रथम आचार्य हुए। बृहद्गच्छ नाम इसी वडगच्छ का कालक्रमानुसार परिवर्तित नाम है। कालान्तर में बृहद्गच्छ से भी अनेक शाखाओं एवं उपशाखाओं का आविर्भाव हुआ, किन्तु वर्तमान समय में यह गच्छ अस्तित्व में नहीं है।

२. संडेरगच्छ :

संडेरगच्छ १०वीं शताब्दी के लगभग संडेर (वर्तमान सांडेराव) से अस्तित्व में आया। इस गच्छ का सबसे प्राचीन अभिलेख ९९२ ई० का है।^१ ११४७ ई० से १५३१ ई० तक के लगभग ४० मूर्तिलेखों में इस गच्छ का तथा इसके प्रभावक आचार्यों का भी उल्लेख मिलता है।^२ ज्ञातव्य है कि भण्डारी गोत्र के पूर्वज द्रवराव ने संडेरगच्छ के यशोभद्रसूरि से ही जैन धर्म अंगीकार किया था।^३

इस गच्छ के प्रथम आचार्य ईश्वरसूरि माने जाते हैं। उनकी शिष्य परंपरा में यशोभद्रसूरि, शालिसूरि, सुमतिसूरि, शान्तिसूरि और ईश्वरसूरि (द्वितीय) आदि प्रभावक आचार्यों के नामों का उल्लेख मिलता है।^४ इस गच्छ में गच्छनायक आचार्यों को ये ही पाँच परम्परागत नाम क्रमशः दिये जाते थे, शेष मुनियों के नाम तो जीवन पर्यन्त वे ही बने रहते थे, जो उन्हें दीक्षा के समय दिये जाते थे।^५

साहित्यिक साक्ष्य के रूप में १२२८ ई० से १५९३ ई० तक की इस गच्छ की निम्न ६ दाता प्रशस्तियाँ उपलब्ध हैं^६ जिनमें इस गच्छ के आचार्यों तथा उनके द्वारा रचित साहित्य की जानकारी मिलती है—

१. नाहर, पुरनचन्द-जैन लेख संग्रह, भाग २, लेख क्रमांक १९४८
२. (क) लोढ़ा, दौलतसिंह—श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक १७३, २०८
(ख) विनयसागर-प्रतिष्ठा लेख संग्रह, परिशिष्ट २, पृ० २२८
३. जैन, (श्रीमती) डॉ० राजेश-मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म, पृ० १३७
४. डॉ० शिवप्रसाद-संडेरगच्छ का इतिहास;
उद्धृत—Aspects of Jainology, Vol. 3, P. 194
५. वही, पृष्ठ १९७
६. वही, पृष्ठ १९४-१९७

१. षट्पञ्चासकविवरण की दाता प्रशस्ति (लेखन समय १२२८ ई०)
२. महावीरचरित्र की दाता प्रशस्ति (लेखन समय १२६७ ई०)
३. परिशिष्टपर्व के प्रतिलेखन को दाता प्रशस्ति (लेखन समय १४२२ ई०)
४. कल्पसूत्र के प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति (लेखन समय १५२९ ई०)
५. भोजचरित्र के प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति (लेखन समय १५३९ ई०)
६. षट्पञ्चासिकास्तवन के प्रतिलेखन की दाता प्रशस्ति (लेखन समय १५९३ ई०)

१०वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए इस गच्छ का गौरवपूर्ण अस्तित्व १७वीं-१८वीं शताब्दी तक बना रहा, तत्पश्चात् इस गच्छ के अनुयायी तपागच्छ में सम्मिलित हो गये।^१

३. धर्मघोषगच्छ :

श्वेताम्बर परम्परा में चन्द्रकुल का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। इस कुल से समय-समय पर अनेक शाखाएँ-उपशाखाएँ निकली हैं, जो बाद में विविध गच्छों के रूप में अस्तित्व में आयीं। १०वीं शताब्दी के आसपास चन्द्रकुल की एक शाखा धर्मघोषगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई। आचार्य धर्मघोषसूरि इस गच्छ के प्रथम प्रभावक आचार्य माने जाते हैं।

धर्मघोषगच्छ की ऐतिहासिक जानकारी के लिए साहित्यिक एवं अभिलेखीय दोनों प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। साहित्यिक साक्ष्य के रूप में ग्रन्थ प्रशस्तियों, प्रतिलिपि प्रशस्तियों तथा राजगच्छ की पट्टावली में इस गच्छ का उल्लेख हुआ है। अभिलेखीय साक्ष्यों में १२४७ ई० से १५३४ ई० तक के लगभग २०० लेख मिलते हैं^२, जो प्रायः जिनप्रतिमाओं पर उत्कीर्ण हैं। इनके आधार पर इस गच्छ के मुनिजनों की साहित्य सेवा, तीर्थोद्धार, नूतन जिनालयों के निर्माण एवं जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा आदि कराने की जानकारी मिलती है।

उपलब्ध अभिलेखों में इस गच्छ के निम्नलिखित आचार्यों के नाम प्राप्त होते हैं^३—

चन्द्रसूरि, भुवनचंद्रसूरि, धर्मघोषसूरि, देवेन्द्रसूरि, आनन्दसूरि, मुनिचंद्रसूरि, गुप्तचंद्रसूरि, ज्ञानचंद्रसूरि आदि।

१. त्रिपुटी महाराज—जैन परम्परानो इतिहास, भाग १, पृ० ५५८-५६९

२. डॉ० शिवप्रसाद—धर्मघोषगच्छ का संक्षिप्त इतिहास,

उद्धृत-श्रमण, जनवरी-मार्च १९९०, पृ० ६२-१०२

३. वही, पृ० ६२-१०२

६८ : जैनधर्म के सम्प्रदाय

पर्याप्त साहित्यिक साक्ष्य के अभाव में इस गच्छ के सम्बन्ध में अन्क जानकारियाँ ज्ञात नहीं हो सकी हैं।

४. आम्नदेवाचार्यगच्छ :

यह गच्छ निवृत्तिकुल की एक शाखा है। इस गच्छ को निवृत्तिकुल के आचार्य आम्नदेव से सम्बन्धित माना जाता है। उपलब्ध स्रोतों से ज्ञात होता है कि यह गच्छ ११वीं शताब्दी में अस्तित्व में था।^१ इस गच्छ की उत्पत्ति कब, कहाँ एवं किसके द्वारा हुई तथा इसकी विशेष मान्यताएँ क्या थीं ? इत्यादि जानकारियाँ उपलब्ध नहीं होती हैं।

५. खरतरगच्छ :

वर्तमान समय में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संप्रदाय के जो गच्छ अस्तित्व में हैं, उनमें खरतरगच्छ का महत्वपूर्ण स्थान है। इस गच्छ का प्रारम्भ १०१७ ई० में होना माना जाता है।^२ इस गच्छ की स्थापना में चौलुक्य नरेश दुर्लभराज (वि० सं० १०६६-१०८२) का विशेष योगदान रहा है। इस गच्छ के प्रवर्तक आचार्य जिनेश्वरसूरि हुए, जो वर्द्धमानसूरि के शिष्य थे।^३

विभिन्न सम्प्रदायों की तरह खरतरगच्छ भी धीरे-धीरे कई शाखाओं में विभक्त हो गया, जो इस प्रकार हैं^४—

१. मधुकर खरतर शाखा, २. रुद्रपल्लीय खरतर शाखा, ३. लघु खरतर शाखा, ४. वैकट खरतर शाखा, ५. पिप्पलक खरतर शाखा, ६. आचार्यिया खरतर शाखा, ७. भावहर्षीय खरतर शाखा, ८. लघु आचार्यिया खरतर शाखा, ९. रंगविजय खरतर शाखा, १०. सारीय खरतर शाखा, ११. साधु शाखा, १२. माणिक्यसूरि शाखा, १३. क्षेमकीर्ति शाखा, १४. जिनरंगसूरि शाखा, १५. खरतरगच्छ का चन्द्रकुल, १६. खरतरगच्छ का नन्दिगण, १७. वर्द्धमान स्वामी अन्वय, १८. जिन-वर्द्धमानसूरि शाखा और १९. रंगविजय शाखा।

१. जयन्तविजय—अबुंदाचलप्रदक्षिणा जैन लेख संदीह, क्रमांक ३९६,

४७०-४७३

२. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म, पृ० ८४

३. (क) चन्द्रप्रभसागर—खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास, पृ० ८१-८३

(ख) शास्त्री, कैलाशचन्द्र—जैनधर्म, पृ० ३१२

४. मध्यकालीन राजस्थान में जैनधर्म, पृ० ८४-८५

खरतरगच्छ का उल्लेख करने वाले सैकड़ों लेख उपलब्ध होते हैं।^१ श्री अग्रचन्द नाहटा के अनुसार तपागच्छ, अंचलगच्छ आदि प्राचीन गच्छों का प्रादुर्भाव खरतरगच्छ के बाद हुआ है।^२ इस गच्छ की आचार्य परम्परा का उल्लेख मुनि चन्द्रप्रभसागर ने अपने ग्रन्थ “खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास” में विस्तारपूर्वक किया है।^३ विस्तारभय के कारण हम वह उल्लेख यहाँ नहीं कर रहे हैं। खरतरगच्छ में वर्तमान समय में लगभग २२५ साधु-साधवियाँ हैं।

इस गच्छ की आचार्य विषयक कुछ मान्यताएँ अन्य गच्छों से भिन्न हैं, जिनका उल्लेख हम विभिन्न सम्प्रदायों की दर्शन एवं आचार सम्बन्धी मान्यताओं का विवेचन करते समय आगे के पृष्ठों में करेंगे।

६. कासहृद गच्छ :

राजस्थान में सिरोही राज्य के कासिन्द्रा गाँव में उत्पन्न यह गच्छ विद्याधरगच्छ का उपगच्छ माना जाता है। इस गच्छ का उल्लेख १०३४ ई० के एक अभिलेख में उपलब्ध होता है।^४

इस गच्छ का प्रादुर्भाव कब, कहाँ एवं किसके द्वारा हुआ तथा इनकी मान्यताएँ क्या थीं? इत्यादि जानकारियाँ अज्ञात हैं।

७. ओसवाल गच्छ :

यह गच्छ सम्भवतः ओसवाल जाति से सम्बन्धित है। इस गच्छ का उल्लेख १०४३ ई० के एक प्रतिमा लेख में मिलता है।^५ इस गच्छ से सम्बन्धित कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है।

८. निवृत्तिगच्छ :

इस गच्छ की उत्पत्ति भी निवृत्तिकुल से मानी जाती है। यह गच्छ सम्भवतः ११ वीं शताब्दी से लेकर १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक अस्तित्व में रहा होगा, क्योंकि इसी अवधि के प्रतिमा लेखों में इस गच्छ

१. प्रतिष्ठालेख संग्रह, परिशिष्ट २, पृ० २२३
२. खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास, भूमिका पृ० ६
३. खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास, पृ० ८१-८३
४. मध्यकालीन राजस्थान में जैनधर्म, पृ० ८८
५. प्राचीन जैन लेख संग्रह, भाग २, क्रमांक ३१६; उद्धृत—मध्यकालीन राजस्थान में जैनधर्म, पृ० ८७

का उल्लेख हुआ है।^१ १०७३ ई० की एक पाषाण-प्रतिमा राजस्थान के लोटाणा तीर्थ से प्राप्त हुई है, जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है। इस प्रतिमा पर निवृत्तिकुल का तथा किन्हीं शेखरसूरि का नाम उत्कीर्ण है।

अन्य गच्छों की तरह इस गच्छ के विषय में भी ऐसी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है जिससे यह ज्ञात किया जा सके कि इस गच्छ की उत्पत्ति कब, कहाँ एवं किसके द्वारा हुई तथा इनकी मान्यताएँ क्या थीं ?

९. राजगच्छ :

चन्द्रकुल से समय-समय पर अनेक गच्छों का प्रादुर्भाव हुआ, राज-गच्छ भी उनमें से एक है। ११वीं शती के आसपास इस गच्छ का प्रादुर्भाव माना जाता है। चन्द्रकुल के आचार्य प्रद्युम्नसूरि के प्रशिष्य धनेश्वरसूरि (प्रथम) दीक्षा लेने के पूर्व राजा थे, अतः उनकी शिष्य परंपरा राजगच्छ के नाम से विख्यात हुई। ११वीं से १५वीं शती के कुछ प्रतिमा लेखों में इस गच्छ का उल्लेख हुआ है।^२ इस गच्छ में धनेश्वरसूरि (द्वितीय), पार्श्वदेवगणि, सिद्धसेनसूरि, देवभद्रसूरि, माणिक्यचन्द्रसूरि, प्रभाचन्द्रसूरि आदि कई प्रभावक और विद्वान् आचार्य हुए हैं। इस गच्छ से सम्बद्ध साहित्यिक साक्ष्यों का प्रायः अभाव है, अतः इसके बारे में विशेष जानकारी ज्ञात नहीं होती है।

१०. वायटगच्छ :

इस गच्छ के विषय में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है, किन्तु १०७८ ई० और ११०४ ई० के दो प्रतिमालेखों में इस गच्छ का नामोल्लेख अवश्य मिलता है।^३ जिससे यह प्रतिफलित होता है कि ११वीं शताब्दी के अन्त में एवं १२वीं शताब्दी के प्रारम्भ में यह गच्छ अस्तित्व में रहा होगा।

११. वात्पीय गच्छ :

११०५ ई० और १२८१ ई० के दो अभिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।^४ किन्तु इस गच्छ की उत्पत्ति कब, कहाँ एवं किसके

१. (क) श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक ३१८

(ख) प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ७१२, ९३७

२. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ३७९, ४४१, ४५८

३. वही, क्रमांक ७, १२

४. Jain, Kailash Chandra-Jainism in Rajasthan, P. 68.

द्वारा हुई तथा इनकी आचार्य परम्परा एवं मान्यताएँ क्या थीं? यह सब जानकारियाँ अज्ञात हैं।

१२. देवाचार्य गच्छ :

पल्लिका (वर्तमान पाली) से प्राप्त ११२१ ई० के एक अभिलेख में इस गच्छ का उल्लेख उपलब्ध है।^१ इसी अभिलेख में महेश्वराचार्य आमनाय के उद्योतन आचार्य का भी उल्लेख मिलता है। साहित्यिक साक्ष्य के अभाव में इस गच्छ से संबंधित और अधिक जानकारी ज्ञात नहीं हो सकी है।

१३. आरासणा गच्छ :

संभवतः आचार्य यशोदेवसूरि के द्वारा ११२७ ई० में इस गच्छ की उत्पत्ति हुई थी। इसी गच्छ के आचार्य देवचन्द्रसूरि द्वारा विविध जैन मन्दिरों में बहुत-सी मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराने के उल्लेख मिलते हैं।^२ इस गच्छ के संबंध में भी अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

१४ कोरंट गच्छ :

यह गच्छ उपदेशगच्छ की एक शाखा के रूप में पहचाना जाता है। उपलब्ध अभिलेखों में इस गच्छ के तीन आचार्यों-कक्कसूरि, सावदेवसूरि और नन्नसूरि के नाम मिलते हैं।

इस गच्छ की उत्पत्ति राजस्थान के प्राचीन नगर एवं प्रसिद्ध जैन तीर्थ कोरटा से हुई। इस गच्छ के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए साहित्यिक एवं अभिलेखीय दोनों प्रकार के साक्ष्य उपलब्ध हैं।

साहित्यिक साक्ष्य के रूप में इस गच्छ की तीन प्रशस्तियाँ उपलब्ध होती हैं।^३

१. महावीर चरित्र की दाता प्रशस्ति :

महावीर चरित्र की वि० सं० १३६८ में की गयी प्रतिलिपि की दाता प्रशस्ति में कोरंटगच्छीय आचार्य कृष्णवि और आचार्य नन्नसूरि का नामोल्लेख उपलब्ध होता है।

१. नाहर, पूरनचन्द-जैन लेख संग्रह, भाग ३, क्रमांक ८१३

२. अबु दमदल का सांस्कृतिक वैभव, पृ० २२५;

उद्धृत-मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म, पृ० ८८

३. डॉ० शिवप्रसाद-कोरंट गच्छ,

धमण, वर्ष ४० अंक ५ (मार्च १९८९), पृ० १६

२. अजितनाथ चरित्र की दाता प्रशस्ति :

कोरंट गच्छ का उल्लेख करने वाला यह साहित्यिक साक्ष्य त्रिशष्टि-शालाकापुरुषचरित्र के द्वितीय सर्ग की वि० सं० १४३६ में तैयार की गयी प्रतिलिपि को दाता प्रशस्ति है। ९ श्लोकों की इस प्रशस्ति में प्रथम चार श्लोकों में दाता श्रावक देवसिंह और उसके परिवार का परिचय है तथा अन्तिम पांच श्लोकों में आचार्य नन्नसूरि का प्रशंसात्मक विवरण है।

३. राजप्रश्नीयसूत्र की दाता प्रशस्ति :

राजप्रश्नीयसूत्र की वि०सं० १६९१ में तैयार की गयी प्रतिलिपि को यह दाता प्रशस्ति कोरंटगच्छ के इतिहास का अध्ययन करने के लिए उपलब्ध तीसरा और अन्तिम साहित्यिक साक्ष्य है। इस प्रशस्ति में कोरंटगच्छोय वाचक परम्परा की गुर्वावली भी दी गयी है।

अभिलेखीय साक्ष्य :

इस गच्छ के आचार्यों द्वारा विभिन्न स्थानों पर प्रतिष्ठापित प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण लेखों से इस गच्छ से सम्बन्धित पर्याप्त जानकारो मिलती है। ११४४ ई० से १५५५ ई० तक के लगभग १४० अभिलेख उपलब्ध होते हैं, जिनमें इस गच्छ का उल्लेख हुआ है।^१

उपलब्ध साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि यह गच्छ १२वीं शताब्दी के मध्य में अस्तित्व में आया और १६वीं शताब्दी तक अस्तित्व में रहा। ४०० वर्षों तक विद्यमान रहकर भी इस गच्छ के आचार्यों ने कोई विशेष साहित्यिक योगदान नहीं देकर स्वयं को मात्र नूतन जिनालयों के निर्माण एवं नवीन जिन-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा तक ही सीमित रखा।

१६वीं शताब्दी के बाद का ऐसा कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता है जिसमें इस गच्छ का उल्लेख मिलता हो, इसलिए यह कहना उपयुक्त होगा कि १६वीं शताब्दी के बाद इस गच्छ के अनुयायी भी उस समय में विद्यमान अन्य प्रभावशाली गच्छों में सम्मिलित हो गए होंगे।

१५. देवाभिवृत्त गच्छ :

११४४ ई० के एक अभिलेख में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।^२ जिससे ज्ञात होता है कि १२वीं शताब्दी के लगभग यह गच्छ अस्तित्व में

१. डॉ० शिवप्रसाद-कोरंट गच्छ; श्रमण, मार्च १९८९, पृ० १८-४३

२. जैन लेख संग्रह, क्रमांक १९९८

रहा होगा। इस गच्छ की उत्पत्ति कब, कहाँ एवं किसके द्वारा हुई तथा इनकी मान्यताएँ क्या थीं? इत्यादि प्रश्नों के उत्तर साक्ष्यों के अभाव में अनुत्तरित हैं।

१६. रुद्रपल्लीयगच्छ

यह गच्छ खरतरगच्छ की एक शाखा है। रुद्रपल्ली नामक स्थान पर ११४७ ई० में जिनेश्वरसूरि के द्वारा इस गच्छ की उत्पत्ति हुई। ११४७ ई० से १४९६ ई० तक के १० प्रतिमालेखों में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।^१ इन प्रतिमालेखों से ज्ञात होता है कि इस गच्छ में देवमुन्दरसूरि, सोममुन्दरसूरि, गुगसमुद्रसूरि, हर्षदेवसूरि, हर्षमुन्दरसूरि आदि कई आचार्य हुए हैं। श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार वि० सं० को १७वीं शती तक इस गच्छ का अस्तित्व था।^२

१७. पिशपालाचार्यगच्छ :

इस गच्छ की उत्पत्ति आचार्य पिशपाल के नाम से हुई है। ११५१ई० के एक प्रतिमा लेख में इस गच्छ का नामोल्लेख मिलता है।^३ इस गच्छ के सन्दर्भ में और अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती है।

१८. नाणकीय गच्छ :

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के चैत्यवासी गच्छों में नाणकीय गच्छ प्रमुख रहा है। यह गच्छ १२वीं शताब्दी के लगभग अस्तित्व में आया। इस गच्छ की उत्पत्ति 'नाणा' नामक प्राचीन तीर्थ से हुई थी। इस गच्छ का उल्लेख मूर्तिलेखों में नाणकीय एवं ज्ञानकीय दोनों नामों से मिलता है।^४ इसके अलावा इस गच्छ के नाणगच्छ, नाणागच्छ और नाणावालगच्छ आदि नाम भी मिलते हैं।

नाणकीय गच्छ के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए साहित्यिक एवं अभिलेखीय दोनों ही साक्ष्य उपलब्ध हैं।

१. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, परिशिष्ट २, पृष्ठ २२७

२. नाहटा, अगरचन्द-पल्लीवालगच्छ पट्टावली—श्री आत्मारामजी शताब्दी ग्रन्थ, पृष्ठ १५५-१५६

३. Jainism in Rajasthan p. 62

४. (क) प्रतिष्ठालेख संग्रह, क्रमांक ६८, ८९, १३९, ३०१

(ख) वही, क्रमांक ३४९, ३८१, ४६७, ५१९, ६७८, ६९७, ७७९, ८३२, ८४२, ८७४, ९१४

साहित्यिक साक्ष्य :

इस गच्छ के ऐतिहासिक अध्ययन के लिए साहित्यिक साक्ष्य के रूप में मात्र दो प्रशस्तियाँ उपलब्ध हैं^१—

१. बृहत्संग्रहणीपुस्तिका की दाता प्रशस्ति :

यह दाता प्रशस्ति १२१५ ई० में लिखी गई। इसमें गोसा श्रावक का बहन पवइणी द्वारा नाणकीय गच्छ के जयदेव उपाध्याय को उक्त पुस्तिका की प्रतिलिपि भेंट में देने का उल्लेख मिलता है।

(२) षट्कर्मअवचूरि के प्रतिलेखन की दाताप्रशस्ति :

१० पंक्तियों में लिखित यह दाता प्रशस्ति नाणकीय गच्छ से सम्बन्धित दूसरा और अन्तिम साहित्यिक साक्ष्य है। यह प्रशस्ति १५३५ ई० में लिखी गई थी। इस प्रशस्ति में इस गच्छ के चार परम्परागत आचार्यों-आचार्य शांतिसूरि, सिद्धसेनसूरि, धनेश्वरसूरि और महेन्द्रसूरि का नामोल्लेख होने से इसे महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है।

अभिलेखीय साक्ष्य :

यद्यपि इस गच्छ का उल्लेख करने वाले साहित्यिक साक्ष्य की उपलब्धता बहुत कम है तथापि ११५५ ई० से १५४२ ई० तक के लगभग १५० अभिलेख उपलब्ध होसकें हैं, जिनमें इस गच्छ से सम्बन्धित जानकारी प्राप्त होती है।^२ उपलब्ध साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्यों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि १२वीं शताब्दी में अस्तित्व में आया यह गच्छ १६वीं शताब्दी के मध्य तक विद्यमान रहा। १६वीं शताब्दी के बाद का ऐसा कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, जिसमें इस गच्छ का उल्लेख हुआ हो। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि १६वीं शताब्दी के पश्चात् इस गच्छ के अनुयायी अन्य गच्छों में सम्मिलित हो गए होंगे।

१९. जलयोधर गच्छ :

जोराउद्र गांव में उत्पन्न इस गच्छ का उल्लेख ११५६ ई० से १३६६ ई० तक के प्रतिमा लेखों में उपलब्ध होता है।^३ इस गच्छ से सम्बद्ध

१. डॉ० शिवप्रसाद—नाणकीय गच्छ, अमण, मई १९८९, पृ० २-३

२. वही, पृ० ६-३०

३. डॉ० शिवप्रसाद—जालिहर गच्छ का संक्षिप्त इतिहास; अमण, वर्ष ४३, अंक ४-६, पृ० ४१-४६

मात्र दो प्रशस्तियाँ—नन्दिपददुर्गवृत्ति की दाता प्रशस्ति (११६० ई०) तथा पद्मप्रभचरित की प्रशस्ति (११९८ ई०) ही मिलती हैं। पद्मप्रभचरित की प्रशस्ति से यह भी ज्ञात होता है कि यह गच्छ विद्याधर गच्छ की एक शाखा थी।

२०. आगमिक गच्छ :

चन्द्रकुल की एक शाखा वृहद्गच्छ के नाम से प्रसिद्ध थी। इसी वृहद्गच्छ से १०९२ ई० में पूर्णिमा गच्छ का प्रादुर्भाव हुआ और उसी पूर्णिमा गच्छ की एक शाखा के रूप में ११५७ ई० अथवा ११९३ ई० में आगमिक गच्छ उत्पन्न हुआ।^१ इस गच्छ का एक अन्य नाम आगम गच्छ भी मिलता है। इस गच्छ का सर्वप्रथम अभिलेखीय उल्लेख १३६४ ई० के एक प्रतिमालेख में हुआ है।^२ इसके अतिरिक्त १४१४ ई० से १५२४ ई० तक के ११ अन्य लेखों में भी इस गच्छ के विविध आचार्यों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।^३

पूर्णिमा गच्छ के प्रवर्तक आचार्य चन्द्रप्रभसूरि के शिष्य आचार्य शीलगुणसूरि इस गच्छ के संस्थापक आचार्य माने जाते हैं। आगमिक गच्छ और उसकी शाखाओं को उपलब्ध विविध पट्टावलियों में इस गच्छ के प्रवर्तक आचार्य के रूप में शीलगुणसूरि का ही नामोल्लेख उपलब्ध होता है।^४

आचार्य शीलगुणसूरि के साथ ही इस गच्छ के कई प्रभावक आचार्यों के नाम भी इन पट्टावलियों में उपलब्ध होते हैं, यथा—देवभद्रसूरि, धर्मघोषसूरि, यशोभद्रसूरि, सर्वाणदसूरि, अभयदेवसूरि, वज्रसेनसूरि, जिनचन्द्रसूरि, हेमसिंहसूरि, रत्नाकरसूरि, विजयसिंहसूरि, गुणसमुद्रसूरि, अभयसिंह-

१. नाहटा, अमरचन्द "जैन धर्मियों के गच्छों पर संक्षिप्त प्रकाश";

उद्धृत—यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १३५-१६५

२. श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक ३०४ (अ)

३. (क) वही, क्रमांक १, ७५, ८२, २४७

(ख) प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक २१५, ४२०, ५३१, ५७२, ६३९,
७४५, ८८७

४. डॉ० शिवप्रसाद—आगमिक गच्छ/प्राचीन त्रिस्तुतिक गच्छ का संक्षिप्त इतिहास; उद्धृत—Aspects of Jainology, Vol. 3, p. 241-245

७६ : जैनधर्म के सम्प्रदाय

सूरि, सोमतिलकसूरि, सोमचन्द्रसूरि, गुणरत्नसूरि, मुनिसिंहसूरि, शोलरत्नसूरि, आणंदप्रभसूरि और मुनिरत्नसूरि आदि ।

उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर जहाँ एक ओर यह स्पष्ट होता है कि यह गच्छ १३वीं शताब्दी के प्रारम्भ अथवा मध्य में कभी अस्तित्व में आया होगा, वहीं दूसरी ओर विक्रम संवत् की १७वीं शताब्दी के पश्चात् इस गच्छ से सम्बन्धित साक्ष्यों का सर्वथा अभाव है । इस आधार पर यह मानना उपयुक्त होगा कि ४०० वर्ष की अवधि तक अस्तित्व में रहने के पश्चात् १७वीं शताब्दी के बाद इस गच्छ का स्वतन्त्र अस्तित्व समाप्त हो गया होगा और इसके अनुयायी उस समय में विद्यमान विविध गच्छों में सम्मिलित हो गये होंगे ।

इस गच्छ की विशेष मान्यतायें क्या थीं ? यह उल्लेख हम आगे यथास्थान करेंगे । सामान्यतया इस गच्छ के अनुयायियों की एक विशिष्टता यह थी कि ये क्षेत्रपाल (भैरव) की पूजा का निषेध करते थे ।^१

२१. भावदेवाचार्य गच्छ :

इस गच्छ का प्रारम्भ आचार्य भावदेव से होना माना जाता है । ११५७ ई० के एक प्रतिमा लेख में इस गच्छ का उल्लेख उपलब्ध होता है ।^२ इस गच्छ की उत्पत्ति कब एवं कहाँ हुई तथा इस गच्छ की मान्यताएँ क्या थीं ? इत्यादि प्रश्न साक्ष्यों के अभाव में अनुत्तरित हैं ।

२२. ब्रह्माण गच्छ :

इस गच्छ का उत्पत्ति स्थल राजस्थान के सिरोही में स्थित ब्रह्माणक (वरमाण तीर्थ) को माना जाता है । इस गच्छ के आचार्य प्रद्युम्नसूरि का नामोल्लेख ११६० ई० और ११८५ ई० के लेखों में हुआ है । ११६० ई० से १५११ ई० तक के लगभग ५० प्रतिमा लेखों में इस गच्छ का उल्लेख उपलब्ध होता है ।^३ इन लेखों में विमलसूरि, बुद्धिसागरसूरि, उदयप्रभसूरि आदि आचार्यों के नाम पुनः पुनः आये हैं । यद्यपि अभिलेखीय साक्ष्य

१. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म, पृ० ९५

२. प्रतिष्ठालेख संग्रह, क्रमांक २४

३. (क) श्री जैन प्रतिमालेख संग्रह, पृ० ५३-५४

(ख) प्रतिष्ठा लेख संग्रह, परिशिष्ट २, पृ० २२६

पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं तथापि साहित्यिक साक्ष्यों के अभाव में इस गच्छ के संबंध में विशेष जानकारी ज्ञात नहीं हो सकी है।

२३. बृहत् तपागच्छ :

इस गच्छ को तपागच्छ की ही एक शाखा माना जाता है, किन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि इस गच्छ के आचार्य हेमचन्द्र का उल्लेख ११६३ ई० के एक प्रतिमा लेख में मिलता है।^१ जबकि तपागच्छ की उत्पत्ति १२२८ ई० हुई थी।^२ इस आधार पर यह तो कहा हो जा सकता है कि बृहत् तपागच्छ, तपागच्छ से पूर्व ही अस्तित्व में था। १३५४ ई० से १८३५ ई० तक के लगभग ५० मूर्तिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख हुआ है।^३ इस गच्छ का एक अन्य नाम "वृद्धतपा" भी मिलता है।

१२वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक लगभग ७०० वर्षों तक अस्तित्व में रहकर भी इस गच्छ के आचार्यों ने कोई विशेष साहित्यिक योगदान नहीं देकर स्वयं को मात्र नूतन जिनालयों के निर्माण एवं नवोन जिन-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करवाने तक ही सीमित रखा, इसलिए इस गच्छ की विशेष मान्यतायें ज्ञात नहीं हो सकी हैं।

२४. धारा गच्छ :

राजस्थान में सिरौही के अजितनाथ मन्दिर में उपलब्ध ११७७ ई० के एक मात्र प्रतिमालेख में इस गच्छ का उल्लेख उपलब्ध है।^४ पर्याप्त अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों के अभाव में इस गच्छ के संबंध में भी कोई विशेष जानकारी ज्ञात नहीं हो सकी है।

२५. पूर्णमिया गच्छ और सार्धपूर्णमिया गच्छ :

इस गच्छ की उत्पत्ति ११०२ ई० में हुई थी।^५ १३७५ ई० से १४७६ ई० तक के ५ प्रतिमालेखों में इस गच्छ के कई प्रभावक आचार्यों के नाम :

१. श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक ८५
२. नाहर, पुरनचन्द-जैन लेख संग्रह, भाग २, क्रमांक ११९४
३. श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, पृष्ठ ४३-४५
४. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ३६
५. श्रमण भगवान महावीर, भाग ५, खंड २, पृष्ठ २३; उद्धृत-मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म, पृ० ९६

उपलब्ध हैं^१, यथा—आचार्य धर्मघोषसूरि, देवसूरि, चक्रेश्वरसूरि, समुद्र-घोषसूरि, विमलगणि, देवभद्रसूरि तथा तिलकाचार्य आदि ।

अन्य गच्छों की तुलना में इस गच्छ की विशेषता यह रही कि इस गच्छ के अनुयायी प्रतिमापूजा फलों से नहीं करते थे ।^२ तथा पाक्षिक प्रतिक्रमण चतुर्दशी के स्थान पर पूर्णिमा को करते थे ।

२६. चन्द्रगच्छ :

चन्द्रकुल से उत्पन्न इस गच्छ के संस्थापक आचार्य चन्द्रसूरि माने जाते हैं । इस गच्छ का उल्लेख करने वाले दो लेख जालौर और सिरोही से प्राप्त होते हैं, जो ११२५ ई० और ११८२ ई० के हैं ।^३ १२३५ ई० के एक अन्य अभिलेख में इस गच्छ के नामोल्लेख के साथ ही इस गच्छ के प्रभावक आचार्य परमानन्दसूरि और उनके शिष्य रत्नप्रभुसूरि का भी उल्लेख मिलता है ।^४ इस गच्छ के सन्दर्भ में और अधिक जानकारो उपलब्ध नहीं है ।

२७. अंचल गच्छ :

अंचल गच्छ का नामोल्लेख करने वाला प्राचीनतम साक्ष्य १२०६ ई० का एक प्रतिमा लेख है ।^५ इसके अलावा १२७६ ई० से १६१४ ई० तक के लगभग ३० प्रतिमा लेखों में भी इस गच्छ का उल्लेख उपलब्ध है ।^६

इस गच्छ का “अंचल गच्छ” नाम पड़ने की एक कथा इस प्रकार है कि एक बार कोती नामक किसी व्यापारी ने प्रतिक्रमण के समय मुँह पर मुँहपत्ती नहीं लगाकर अंचल (वस्त्र के टुकड़े) का प्रयोग किया था । यह देखकर कुमारपाल ने अपने गुरु विजयचन्द्र से ऐसा करने का कारण पूछा तो गुरु ने इस नये पक्ष के बारे में समझाया, कहते हैं तभी से कुमार-

१. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक १५८, ३५९, ३६१, ७०९, ७६५

२. Jainism in Rajasthan, page 59

३. मध्यकालीन राजस्थान में जैनधर्म, पृष्ठ ८७

४- (क) अबुदाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदीह, भाग ५, क्रमांक २४,

(ख) Uttam Kamal Jain muni—Jain Sects and schools.

P. 53

५. श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक ३०८

६. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, परिशिष्ट २, पृ० २२२

पाल भी मुँहपत्ती के स्थान पर अंचल का ही प्रयोग करने लगा।^१ इस प्रकार मुँहपत्ती के स्थान पर अंचल (उत्तरीय के एक छोर) का प्रयोग करने के कारण ही इस गच्छ का नाम अंचल गच्छ पड़ा है। वर्तमान समय में इस गच्छ में दो आचार्य एवं लगभग २५० साधु-साधवियाँ हैं।

२८. तपा गच्छ :

उपलब्ध साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि जगचन्द्रसूरि की कठोर तपस्या से प्रभावित होकर तत्कालीन मेवाड़ नरेश जैत्रसिंह ने १२२८ ई० में उन्हें "तपा" नामक उपाधि से अलंकृत किया था। इसी कारण से इनका गच्छ तपागच्छ नाम से विख्यात हो गया।^२

अन्य गच्छों को तरह तपागच्छ से भी कई उपशाखाएँ निकली हैं। कर्नल मार्डिस ने तपागच्छ की निम्न शाखाएँ बतलाई हैं^३—

१. विजयदेवसूरि तपाशाखा, २. विजयराजसूरि तपा शाखा, ३. कमल कलश तपा शाखा, ४. वृहत् पोसाल तपा शाखा. ५. लघु पोसाल तपा शाखा, ६. सागर गच्छ तपा शाखा, ७. कुतुबपुरा गच्छ तपा शाखा, ८. विजयानन्दसूरि तपा शाखा, ९. विजयरत्नसूरि तपा शाखा, १०. आगमीय तपा शाखा, ११. ब्राह्मी तपा शाखा और १२. नागौरी तपा शाखा।

उपलब्ध अभिलेखीय साक्ष्यों में तपागच्छ की निम्नलिखित शाखाओं का भी उल्लेख मिलता है^४—

१. वृद्ध तपा शाखा, २. विजय तपा शाखा, ३. चन्द्रकुल तपाशाखा और ४. संकिष्ण तपा शाखा।

आचार्य सुधर्मा से लेकर वर्तमान समय तक की जो आचार्य परंपरा इस गच्छ को मान्य है, उसका विस्तृत उल्लेख "श्रीमदराजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ" में हुआ है।^५ विस्तारभय के कारण हम वह विवरण यहाँ नहीं दे रहे हैं।

तपागच्छ की विविध मान्यताएँ अन्य गच्छों से कई बातों में भिन्न

१. श्रमण भगवान महावीर, भाग ५, खंड २, स्थविरावली, पृ० ६५;

उद्धृत—मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म पृ० ९४-९५

२. जैनलेख संग्रह, भाग २, क्रमांक ११९४

३. Jain sects and sethools, p. 60

४. मध्यकालीन राजस्थान में जैनधर्म, पृ० ९५

५. श्रीमदराजेन्द्रसूरिस्मारकग्रन्थ, पृ० १४७-१५१

८० : जैनधर्म के सम्प्रदाय

हैं इसका उल्लेख हम विभिन्न सम्प्रदायों की दर्शन तथा आचार सम्बन्धी मान्यताओं का अध्ययन करते समय आगे के पृष्ठों में करेंगे, किन्तु इस गच्छ की एक विशेषता यह है कि इनके मत में "इरियावही" (मार्गालोचना) सामायिक पाठ उच्चारण करने से पहले की जाती हैं जबकि खरतरगच्छ के अनुसार "इरियावही" सामायिक पाठ ग्रहण करने के पश्चात् की जाती है।^१ तपागच्छ में वर्तमान समय में लगभग १०० आचार्य एवं ५००० साधु-साध्वियाँ हैं।

२९. पिप्पल गच्छ :

१२३५ ई० से १५०४ ई० तक के लगभग ५० अभिलेखों में इस गच्छ का नामोल्लेख मात्र मिलता है^२, किन्तु इस गच्छ का उद्भव कब, कहाँ एवं किसके द्वारा हुआ तथा आचार विषयक इनकी मान्यताएँ क्या थीं ? इत्यादि प्रश्न पर्याप्त साक्ष्यों के अभाव में अनुत्तरित हैं।

३०. नागेन्द्र गच्छ :

इस गच्छ की उत्पत्ति नागेन्द्र कुल से हुई थी, ऐसा माना जाता है। इस गच्छ का उल्लेख १२३८ ई० से १५६० ई० तक के लगभग २० मूर्तिलेखों में हुआ है।^३ इस गच्छ का उल्लेख करने वाला कोई साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, इसलिए इस गच्छ के विषय में भी पर्याप्त जानकारी ज्ञात नहीं हो सकी है।

३१. चैत्रगच्छ:

इस गच्छ का उल्लेख १२४३ ई० से १५३५ ई० तक के २० मूर्तिलेखों में मिलता है।^४ धनेश्वरसूरि इस गच्छ के आदिम आचार्य माने जाते हैं। इस गच्छ से कई अवान्तर शाखाओं का जन्म हुआ, जैसे—भर्तृपुरीय शाखा, धारणपद्रीय शाखा, चतुर्दशीय शाखा, चान्द्रसामीय शाखा, सलषणपुरा शाखा, कंबोइया शाखा, अष्टापद शाखा तथा शार्दूल शाखा आदि।

१. चन्द्रप्रभासागर—महोपाध्याय समयसुन्दर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, पृ० ४४९-४५०
२. श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, पृ० ४७-५०
३. (क) श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, पृ० ४६-४७
(ख) प्रतिष्ठा लेख संग्रह, परिशिष्ट २, पृ० २२६
४. (क) श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक १०६, ६७, १७, ३७, २१३, ३६७
(ख) प्रतिष्ठा लेख संग्रह, परिशिष्ट २, पृ० २२४

३२. हस्तीकुण्डी गच्छ :

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मूर्तिपूजक परम्परा में ऐसे गच्छ बहुतायत में मिलते हैं जिनके नामोल्लेख मात्र यत्र-तत्र मिल जाते हैं, किन्तु उनसे संबंधित और कोई उल्लेख नहीं मिलता है। ऐसा ही एक गच्छ हस्ती-कुण्डी गच्छ है। इस गच्छ का नामोल्लेख उदयपुर से प्राप्त १२८१ ई० के एक लेख में मिलता है।^१ इस गच्छ से संबंधित अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं होती है।

३३. काछोली गच्छ :

काछोली गच्छ पूर्णिमा गच्छ की एक शाखा है। राजस्थान के सिरोही राज्य में काछोली गांव है, ऐसा माना जाता है कि यहीं से इस गच्छ की उत्पत्ति हुई है। इसी गांव में १२८६ ई० के उपलब्ध एक प्रतिमा लेख में इस गच्छ के किन्हीं भेरूमुनि का नाम उल्लेखित है।^२

३४. उपकेश गच्छ :

इस गच्छ की उत्पत्ति राजस्थान में स्थित ओसिया (उपकेश नगर) से हुई थी, ऐसा माना जाता है। इस गच्छ का नामोल्लेख १२८७ ई० से १५३५ ई० तक के लगभग ६० प्रतिमा लेखों में मिलता है।^३

उपकेशगच्छ से संबंधित प्रतिमालेखों में कक्कसूरि, देवगुप्तसूरि और सिद्धसूरि—इन तीन पट्टधर आचार्यों के नामों की प्रायः पुनरावृत्ति होती रही है। इस गच्छ के कई प्रभावक आचार्य हुए हैं, जिन्होंने साहित्योपासना के साथ-साथ नूतन जिनालयों के निर्माण, प्राचीन जिनालयों के जीर्णोद्धार तथा जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा द्वारा पश्चिम भारत में श्वेताम्बर श्रमण परम्परा को जीवन्त बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

अन्य गच्छों की भांति उपकेशगच्छ से भी कई अवान्तर शाखाओं का जन्म हुआ। इस गच्छ से द्विवंदनीक शाखा (१२१० ई०), खरतरतपाशाखा (१२५२ ई०) तथा खादिरीशाखा (१४४२ ई०) अस्तित्व में आयीं। इन शाखाओं के अतिरिक्त इसी गच्छ की दो अन्य शाखाओं—ककुदाचार्य-संतानीय तथा सिद्धाचार्यसंतानीय शाखा की भी जानकारी मिलती है, किन्तु इनके उत्पत्ति काल की कोई जानकारी नहीं मिलती है।

१. प्राचीन लेख संग्रह, क्रमांक ४३

२. श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक ३३२

३. प्रतिष्ठालेख संग्रह—परिशिष्ट, २ पृ० २२२

साहित्यिक साक्ष्य के रूप में इस गच्छ के मुनिजनों की कृतियों की प्रशस्तियाँ, प्राचीन ग्रन्थों की दाता प्रशस्तियाँ, कुछ पट्टावलियाँ तथा दो प्रबन्ध—उपदेशगच्छ प्रबन्ध और नाभिनन्दनजिनोद्धार प्रबन्ध उपलब्ध हैं। ज्ञातव्य है कि अन्य सभी गच्छ जहाँ भगवान् महावीर से अपनी परम्परा को जोड़ते हैं, वहीं यह गच्छ अपना सम्बन्ध भगवान् पार्श्वनाथ से जोड़ता है।

३५. भावहार गच्छ :

१२९२ ई० से १४८१ ई० तक के लगभग २५ मूर्तिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख उपलब्ध होता है।^१ जिससे ज्ञात होता है कि यह गच्छ १३वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी के मध्य तक अस्तित्व में रहा होगा। इस गच्छ की उत्पत्ति कब, कहाँ एवं किसके द्वारा हुई तथा इनकी मान्यताएँ क्या थीं ? इत्यादि जानकारियाँ अज्ञात हैं।

३६. मडाहड गच्छ :

ऐसा माना जाता है कि इस गच्छ की उत्पत्ति मदाहड (नामक) स्थान से हुई थी। १३१० ई० से १५२६ ई० तक के कुल ९ मूर्तिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख हुआ है।^२ साहित्यिक साक्ष्य के अभाव में इस गच्छ से सम्बन्धित विशेष जानकारियाँ ज्ञात नहीं हो सकी हैं।

३७. जीरापल्ली गच्छ :

यह गच्छ 'जीरापल्ली' तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ था। इस गच्छ का उल्लेख १३५४ ई० से १४७० ई० तक के ५ मूर्तिलेखों में मिलता है।^३ साथां पार्श्वनाथ मन्दिर से प्राप्त १४२६ ई० के एक मूर्तिलेख में इस गच्छ के उल्लेख के साथ किन्हीं शालिभद्रसूरि का भी नामोल्लेख मिलता है।

३८. पल्ली गच्छ :

इस गच्छ का उत्पत्ति स्थल पाली नगर माना जाता है। १३७८ ई० से १५१८ ई० तक के लगभग १० अभिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख

१. (क) श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, पृ० ५४-५५
(ख) प्रतिष्ठा लेख संग्रह, परिशिष्ट २, पृ० २२७
२. (क) श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक ३३४, १०३
(ख) प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक २१०, ६०३, ६७२, ७८८, ७८९,
८३१, ९७२
३. (क) श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक ३१०, ३०९, २५६, १३८
(ख) प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक २४५

उपलब्ध होता है।^१ साहित्यिक साक्ष्यों के अभाव में इस गच्छ से संबंधित और अधिक जानकारी ज्ञात नहीं हो सकी है।

३९. वृद्ध थारापद्रीय गच्छ :

सम्भवतः यह गच्छ थारापद्रीय गच्छ से ही संबंधित रहा होगा। रतलाम (मध्य प्रदेश) तथा जयपुर (राजस्थान) के मन्दिरों से प्राप्त १३८३ ई. एवं १४७० ई. के मात्र दो प्रतिमालेखों में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।^२ उपलब्ध अभिलेखों के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह गच्छ थारापद्रीय गच्छ से भी प्राचीन रहा होगा, किन्तु विवेच्यकाल में इसका विलय थारापद्रीय गच्छ में हो गया होगा। पर्याप्त अभिलेखों एवं साहित्यिक साक्ष्यों के अभाव में इस गच्छ से संबंधित विस्तृत जानकारी ज्ञात नहीं हो सकी है।

४०. द्विवंदनीक गच्छ :

इस गच्छ को उपकेशगच्छ की एक शाखा माना जाता है। १३९० ई०, १४६६ ई० और १४६८ ई० के प्रतिमालेखों में इस गच्छ का उल्लेख उपलब्ध होता है।^३ लगभग एक शताब्दी तक अस्तित्व में रहे इस गच्छ से संबंधित कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है।

४१. जीराडला गच्छ :

१३९६ ई० की एक धातुप्रतिमा में इस गच्छ का उल्लेख हुआ है।^४ १४९२ ई० एवं १५०० ई० के दो अन्य अभिलेखों में भी इस गच्छ का नामोल्लेख मिलता है।^५ पर्याप्त अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों के अभाव में इस गच्छ की उत्पत्ति एवं मान्यता संबंधी जानकारी ज्ञात नहीं हो सकी है।

४२. मलघारी गच्छ

इस गच्छ का उल्लेख १४०१ ई० से १५२७ ई० तक के ३० प्रतिमालेखों में मिलता है।^६ साहित्यिक साक्ष्यों के अभाव में यह ज्ञात नहीं हो

१. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, परिशिष्ट २, पृ० २२६
२. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक १६६, ६८७
३. वही, क्रमांक १७३, ३७२, ६५३
४. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ८५५, ८९२
५. श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक ६२
६. (क) वही, क्रमांक २९२ (ब)
(ख) प्रतिष्ठा लेख संग्रह, परिशिष्ट २, पृ० २२७

८४ : जैनधर्म के सम्प्रदाय

सका है कि इस गच्छ की उत्पत्ति कब, कहाँ एवं किसके द्वारा हुई तथा इनकी प्रमुख मान्यताएँ क्या थीं ?

४३. रामसेनीय गच्छ :

१४०१ ई० के एक मूर्तिलेख में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।^१ इस लेख में इस गच्छ को बोकड़िया गोत्र से सम्बन्धित बतलाया है। मात्र एक मूर्तिलेख की उपलब्धता से यही प्रतिफलित होता है कि यह गच्छ अधिक समय तक अस्तित्व में नहीं रह सका।

४४. कृष्णर्षि गच्छ :

इस गच्छ की उत्पत्ति कब, कहाँ, किसके द्वारा तथा क्यों हुई ? इत्यादि विवरण अनुपलब्ध हैं। किन्तु १४१६ ई०, १४४४ ई०, १४६७ ई० तथा १४७७ ई० के ४ मूर्तिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख अवश्य हुआ है।^२ इन लेखों में इस गच्छ के जयसिंहसूरि, प्रसन्नचन्दसूरि तथा नयचन्दसूरि—इन तीन पट्टधर आचार्यों के नामों की पुनरावृत्ति मिलती है।

४५. पिप्पलगच्छेत्रिभवीया :

इस शाखा को पिप्पलगच्छ की एक शाखा के रूप में जाना जाता है। इस शाखा का उल्लेख १४१९ ई०, १४६७ ई० और १४६८ ई० के प्रतिमालेखों में हुआ है।^३ अन्यान्य गच्छों की तरह इस गच्छ के विषय में भी पर्याप्त जानकारी का अभाव है।

४६. थारापद्रीय गच्छ :

१४२२ ई० से १४७५ ई० तक के ८ मूर्तिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।^४ मूर्तिलेखों में इस गच्छ का नाम 'थिरापद्रीय' भी उल्लिखित है। इस गच्छ की उत्पत्ति एवं मान्यता संबंधी विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है।

४७. कृष्णर्षि तपागच्छ :

यह गच्छ भी तपागच्छ की एक शाखा मानी जाती है। इस गच्छ

१. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक १८२

२. वही, क्रमांक, २११, ३५१, ६४८, ७८२

३. वही, क्रमांक २१७, ६४०, १७७

४. श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक २०६, २६८, ६५, १४२, २२९, ६१,

१६५, १७२

का उल्लेख १४२६ ई०, १४५० ई०, १४६८ ई०, १४७३ ई० और १४७७ ई० के प्रतिमालेखों में मिलता है।^१ इस गच्छ का उल्लेख करने वाले पाँचों प्रतिमालेख १५वीं शताब्दी के हैं। इससे यही प्रतिफलित होता है कि यह गच्छ मात्र १५वीं शताब्दी में ही अस्तित्व में बना रहा। पर्याप्त साक्ष्यों के अभाव में इस गच्छ के विषय में और अधिक जानकारी ज्ञात नहीं हो सकी है।

४८. मडाहड रत्नपुरीय गच्छ :

यह गच्छ संभवतः मडाहड गच्छ की ही एक शाखा रही होगी। इस गच्छ का उल्लेख १४२८ ई०, १४४४ ई० और १५०० ई० के ३ अभिलेखों में उपलब्ध होता है।^२ इस गच्छ के संदर्भ में भी कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है।

४९. पुरन्दर गच्छ :

यह गच्छ बृहत् तपागच्छ से उत्पन्न हुआ है, यह संकेत १४३९ ई० के एक अभिलेख में मिलता है।^३ इस अभिलेख में इस गच्छ के अनुयायियों द्वारा किये गये विविध प्रकार के परोपकारी कार्यों का उल्लेख हुआ है। अभिलेख में इस गच्छ के मुनि जगतचंदसूरि, देवेन्द्रसूरि और देवसुन्दरसूरि सहित पुरन्दर गच्छ के अधिपति आचार्य सोमदेवसूरि का भी नामोल्लेख हुआ है।

५०. बोकड़िया गच्छ :

१४३९ ई० से १५०५ ई० तक के ४ मूर्तिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख उपलब्ध होता है।^४ पर्याप्त अभिलेखों एवं साहित्यिक साक्ष्यों के अभाव में इस गच्छ की उत्पत्ति एवं मान्यता संबंधी विशेष जानकारियाँ ज्ञात नहीं हो सकी हैं।

५१. चित्रवाल गच्छ :

१४४४ ई० से १४५६ ई० तक के ५ मूर्तिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख उपलब्ध होता है।^५ मात्र १२ वर्ष की अल्पावधि के उपलब्ध इन मूर्ति-

१. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक २४१, ४१६, ६५९, ७२२, ७८०

२. वही, क्रमांक २५३, ३३९, ८९१

३. जैन लेख संग्रह, भाग १, क्रमांक ७००

४. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ३१५, ७१४, ७१६, ९१६

५. वही, क्रमांक ३४६, ३७०, ३९६, ४३४, ५०५

लेखों से यही प्रतिफलित होता है कि जिस किसी आचार्य ने इस गच्छ की उत्पत्ति की होगी, संभवतः उनके देहावसान के साथ ही यह गच्छ अन्य गच्छों में विलीन हो गया होगा। अधिकांश गच्छों की तरह इस गच्छ से संबंधित अन्य कोई भी जानकारी ज्ञात नहीं होती है।

५२. सैद्धांतिक गच्छ :

१४४४ ई० से १५४१ ई० तक के ७ मूर्तिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख उपलब्ध होता है।^१ साहित्यिक साक्ष्यों की अनुपलब्धता तथा उपलब्ध मूर्तिलेखों में इस गच्छ के नामोल्लेख के अलावा अन्य कोई जानकारी नहीं मिलती है। अतः इस गच्छ की उत्पत्ति कब, कहाँ एवं किसके द्वारा हुई तथा इनकी मान्यताएँ क्या थीं? इस सन्दर्भ में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

५३. ज्ञानकल्प गच्छ :

इस गच्छ के सन्दर्भ में भी कोई विशेष जानकारी तो उपलब्ध नहीं होती है, किन्तु १४४४ ई० के एक अभिलेख में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।^२ इसी अभिलेख में किन्हीं मुनि शान्तिसूरि का नामोल्लेख उपलब्ध है। मात्र एक अभिलेख के अतिरिक्त अन्य कोई अभिलेखीय अथवा साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह गच्छ बहुत कम समय तक ही विद्यमान रहा होगा।

५४. पूर्णिमापक्षेभीमपल्लीयगच्छ :

१५वीं शताब्दी के लगभग पूर्णिमा गच्छ से कई शाखाएँ निकली थीं। यह गच्छ भी पूर्णिमा गच्छ की एक शाखा रही होगी। इस गच्छ का उल्लेख १४५६ ई० और १५१९ ई० के २ अभिलेखों में मिलता है।^३ मात्र इन दो अभिलेखों को उपलब्धता से ऐसा लगता है कि यह गच्छ एक शताब्दी तक भी अस्तित्व में नहीं रहा होगा।

५५. पूर्णिमापक्षे कछोलीवाल गच्छ :

यह गच्छ भी संभवतः पूर्णिमा गच्छ की ही एक शाखा रही होगी।

१. (क) प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ९९९

(ख) श्री जैन प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ४, १९, ४५, १५३, २१२, २५२

२. जैन लेख संग्रह, भाग २, क्रमांक ११४८

३. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ५२१, ९६२,

इस गच्छ का उल्लेख १४५६ ई० और १४६८ ई० के एक-एक तथा १४७० ई० के दो प्रतिमालेखों—इस प्रकार कुल ४ लेखों में उपलब्ध होता है।^१ इस गच्छ के संदर्भ में भी कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है।

५६. वृहद्गच्छे जिनेरावटके :

वृहद्गच्छ की इस शाखा का एक मात्र उल्लेख १४५६ ई० के एक अभिलेख में मिलता है।^२ अन्य कोई अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होने के कारण इस गच्छ की उत्पत्ति एवं मान्यता संबंधी सभी प्रश्न अनुत्तरित हैं।

५७. भीनमाल गच्छ :

भीनमाल से उत्पन्न इस गच्छ का उल्लेख १४५६ ई० के एक मात्र अभिलेख में मिलता है।^३ इस गच्छ के संदर्भ में भी अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

५८. विमल गच्छ :

१४६० ई० के एक मूर्तिलेख में इस गच्छ का नामोल्लेख मात्र उपलब्ध होता है।^४ इस गच्छ से सम्बन्धित और कोई विवरण उपलब्ध नहीं है।

५९. वृहद्गच्छे जीरापल्ली गच्छ :

१५वीं शताब्दी के लगभग वृहद्गच्छ से कई शाखाएँ विकसित हुई थीं, उन्हीं में से एक शाखा वृहद्गच्छे जीरापल्ली गच्छ भी थी। १४६२ ई० के एक अभिलेख में इस गच्छ का नामोल्लेख उपलब्ध होता है।^५ इस गच्छ से सम्बन्धित अन्य जानकारियाँ अज्ञात हैं।

६०. विद्याधरगच्छ :

विद्याधर कुल से उत्पन्न इस गच्छ का नामोल्लेख १४६३ ई० के एक अभिलेख में मिलता है।^६ अन्य कोई अभिलेखीय एवं साहित्यिक

१. जैन लेख संग्रह, क्रमांक ५३२, ६५७, ६८४, ६८५
२. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ५१४
३. वही, क्रमांक ५०९
४. श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक ३५९
५. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ५९४
६. वही, क्रमांक ६०८

८८ : जैनधर्म के सम्प्रदाय

साक्ष्य उपलब्ध नहीं होने के कारण इस गच्छ के संदर्भ में भी विशेष जानकारी ज्ञात नहीं हो सकी है।

६१. पूर्णमापक्षे वटपट्टीय गच्छ :

यह गच्छ भी पूर्णमा गच्छ से ही सम्बन्धित रहा है। १४६६ ई० के एक मूर्तिलेख में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।^१ इस गच्छ से सम्बन्धित अन्य जानकारियाँ अज्ञात हैं।

६२. बोकड़िया वृहद् गच्छ :

यह गच्छ वृहद्गच्छ अथवा बोकड़िया गच्छ से संबंधित रहा होगा। इस गच्छ का उल्लेख १४७३ ई० के एक अभिलेख में मिलता है।^२ इस गच्छ की उत्पत्ति एवं मान्यता विषयक अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

६३. कोमल गच्छ :

इस गच्छ के संस्थापक आचार्य, उत्पत्ति समय एवं स्थान आदि विषयक जानकारी अनुपलब्ध है। १४७७ ई० के एक अभिलेख में इस गच्छ का नामोल्लेख मात्र उपलब्ध होता है।^३

६४. खरतर मधुकर गच्छ :

यह गच्छ खरतर गच्छ की ही एक शाखा के रूप में जाना जाता है। १४९० ई० के एक अभिलेख में इस गच्छ का उल्लेख उपलब्ध होता है।^४ इस गच्छ के संदर्भ में भी अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

६५. नागौरी तपागच्छ :

इस गच्छ के नामोल्लेख से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह गच्छ तपागच्छ की ही एक शाखा है। यह गच्छ नागौर में अस्तित्व में आया था। १४९४ ई० तथा १६१० ई० के २ मूर्तिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।^५ नामोल्लेख के अतिरिक्त इस गच्छ से सम्बन्धित और कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

१. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ६२६

२. वही, क्रमांक ७२५

३. वही, क्रमांक ७७०

४. वही, क्रमांक ८४८

५. वही, क्रमांक ८६५, १०९२

६६. हर्षपुरीय गच्छ :

इस गच्छ की उत्पत्ति हरसूर (वर्तमान हर्षपुरा) से हुई थी, ऐसा माना जाता है। राजस्थान में नागौर स्थित बड़ा मन्दिर को अजितनाथ पंचतीर्थी पर अंकित १४९८ ई०के एक मूर्तिलेख में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।^१ उत्पत्ति स्थल के अतिरिक्त इस गच्छ से सम्बन्धित अन्य जानकारियाँ अज्ञात हैं।

६७. प्रभाकर गच्छ :

१५२० ई० के एक मात्र अभिलेख में इस गच्छ के नामोल्लेख के साथ ही किन्हीं भट्टारक पूज्यकीर्ति और उनके पट्टधर लक्ष्मीसागरसूरि का नाम भी उपलब्ध होता है।^२ इस गच्छ की उत्पत्ति एवं मान्यता संबंधी अन्य कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

६८. निगम प्रभावक गच्छ :

राजस्थान के सिरोही राज्य से प्राप्त १५२४ ई० के २ प्रतिमालेखों में इस गच्छ का उल्लेख मिलता है।^३ इन दोनों ही लेखों में इस गच्छ के मुनि आणन्दसागरसूरि का नाम उल्लिखित है। कई गच्छों को तरह इस गच्छ के सन्दर्भ में भी विस्तृत जानकारी अनुपलब्ध है।

६९. सुबिहित पक्ष गच्छ :

ऐसा माना जाता है कि इस गच्छ की उत्पत्ति चैत्यवास परम्परा के विरोधस्वरूप हुई थी। १५५५ ई० के एक अभिलेख में इस गच्छ के नामोल्लेख के साथ ही किन्हीं भावसागरसूरि और उनके पट्टधर धर्ममूर्तिसूरि का भी नाम उपलब्ध होता है।^४ इस गच्छ के सन्दर्भ में भी और अधिक जानकारी ज्ञात नहीं होती है।

७०. सुषर्म गच्छ :

१६०१ ई० के एक मात्र मूर्तिलेख में इस गच्छ का उल्लेख उपलब्ध होता है।^५ यह लेख भैंसरोडगढ़ स्थित ऋषभदेव मन्दिर की अजितनाथ

१. प्रतिष्ठालेख संग्रह, क्रमांक ८७९
२. जैन लेख संग्रह, भाग १, क्रमांक ८१३
३. श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक ८०, २४१
४. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक १०११
५. वही, क्रमांक १०७४

पंचतीर्थी पर अंकित है। इस लेख से अन्य कोई विशेष जानकारी तो ज्ञात नहीं होती है, किन्तु लेख में किन्हीं विनयकीर्तिसूरि का नाम अवश्य उल्लिखित है जो सम्भवतः इस गच्छ के ही कोई प्रभावक आचार्य रहे होंगे।

७१. कदुआभति गच्छ :

१४२६ ई० से १७२८ ई० तक के कुल चार अभिलेखों में इस गच्छ का नामोल्लेख मात्र मिलता है।^१ इस गच्छ की उत्पत्ति एवं मान्यता सम्बन्धी कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

७२. उद्योतनाचार्य गच्छ :

पल्लीकीय गच्छ से उत्पन्न इस गच्छ का उल्लेख १६२९ ई० के एक अभिलेख में मिलता है।^२ इस अभिलेख में तपागच्छाधिराज भट्टारक-हीरविजयसूरि, पट्टधर विजयसेनसूरि और भट्टारक विजयदेवसूरि आदि मुनियों के नाम मिलते हैं। इस गच्छ के सन्दर्भ में और अधिक जानकारी ज्ञात नहीं हो सकी है।

७३. भावहर्ष गच्छ :

राजस्थान में बालोतरा से एक अभिलेख प्राप्त हुआ है^३, जिसको आधार बनाकर कुछ विद्वानों ने भावहर्ष गच्छ को एक स्वतन्त्र गच्छ माना है। इस अभिलेख को मुनि उत्तमकमल ने संवत् १०९ का ममा है^४ जो कि सही नहीं है। यह अभिलेख देवनागरी लिपि में लिखा हुआ है। जबकि संवत् १०९ अर्थात् ई० सन् ५२ के समय देवनागरी लिपि का प्रचलन ही नहीं था। उस समय तो ब्राह्मी लिपि का प्रचलन था।

हमें ऐसा लगता है कि अभिलेख उत्कीर्णक अथवा पुस्तक मुद्रक को त्रुटि को ही यथार्थ मानने के कारण मुनिजी को यह भ्रान्ति हुई है। इस अभिलेख का समय संवत् १००९ अर्थात् ई० सन् ९५२ होना चाहिए। श्रीमती (डॉ०) राजेश जैन ने बालोतरा से प्राप्त इसी अभिलेख के आधार पर इस गच्छ को न केवल स्वतन्त्र गच्छ माना है वरन् उन्होंने

१. श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, क्रमांक २६५, १०९, १०८, २२३

२. जैन लेख संग्रह, भाग १, क्रमांक ८२५

३. वही, क्रमांक ७३६

४. Jain sects and schools, p. 52

तो यहाँ तक कह दिया है कि भुमि भावहर्ष से इस गच्छ की उत्पत्ति हुई थी।^१ जिस अभिलेख को आधार बनाकर विद्वानों ने इस गच्छ का उल्लेख किया है, वह अभिलेख इस प्रकार है^२—

“३० ११ सं० १०९—वैशाख वदि ५...प्रतिमा कारितेति ॥”

बाणोतरा से प्राप्त इस अभिलेख में कहीं पर भी इस गच्छ का नामोल्लेख तक नहीं हुआ है। इस अभिलेख को ही आधार बनाकर कुछ विद्वानों ने भावहर्षगच्छ को स्वतन्त्र गच्छ मानने की जो कल्पना की है, वह उचित नहीं है। वस्तुतः इस नाम का कोई गच्छ था ही नहीं।

७४. धनेश्वर गच्छ :

अभिलेखों का सावधानीपूर्वक अध्ययन नहीं कर पाने के कारण कुछ विद्वानों ने धनेश्वर गच्छ को भी एक स्वतन्त्र गच्छ मान लिया है, जबकि धनेश्वर किसी आचार्य का नाम था, गच्छ का नाम नहीं। धनेश्वर गच्छ की कल्पना मुनि उत्तम कमल और श्रीमती (डॉ०) राजेश जैन ने घटियाल से प्राप्त एक अभिलेख के आधार पर की है। यद्यपि मुनि उत्तम-कमल ने इस गच्छ का नामोल्लेख करने वाले अभिलेख की तिथि के सन्दर्भ में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा है^३, किन्तु श्रीमती जैन ने इस अभिलेख का समय ८६१ ई० माना है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि इस गच्छ की उत्पत्ति धनेश्वरसूरि के नाम पर की गई होगी।^४

घटियाल से प्राप्त इस अभिलेख का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इस अभिलेख में ‘धनेश्वर’ के साथ षष्ठी विभक्ति तथा ‘गच्छ’ के साथ सप्तमी विभक्ति का प्रयोग हुआ है।^५ इसका अर्थ ‘धनेश्वरगच्छ’ नहीं है, अपितु “धनेश्वर के गच्छ में” ऐसा अर्थ है। इससे यही फलित होता है कि धनेश्वर किसी आचार्य का नाम रहा होगा, गच्छ का नहीं।

खोज करते-करते आचार्य धनेश्वरसूरि का नामोल्लेख हमें १४६१ ई०

१. मध्यकालीन राजस्थान में जैनधर्म, पृ० ८७
२. जैन लेख संग्रह, भाग १, क्रमांक ७४६
३. Jain sects and schools, p. 52
४. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म, पृ० ८७
५. “अभिलेखसंग्रहः—धनेश्वरस गच्छम्भि”
—जैन लेख संग्रह, भाग १, क्रमांक १४५

से लेकर १४९६ ई० तक के १० अभिलेखों में मिला है।^१ इनमें से कुछ अभिलेख ऐसे हैं जिनमें आचार्य धनेश्वरसूरि को नाणावाल गच्छ का आचार्य बतलाया गया है और कुछ अभिलेखों में इन्हें नाणकीय गच्छ का आचार्य बतलाया गया है। किन्तु एक भी ऐसा अभिलेख उपलब्ध नहीं हुआ है, जिसमें धनेश्वरसूरि को धनेश्वर गच्छ का आचार्य बतलाया गया हो। अतः कुछ विद्वानों द्वारा कपोलकल्पित इस गच्छ को स्वतन्त्र गच्छ मानना उचित नहीं है।

श्वेताम्बर अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय :

श्वेताम्बर परम्परा में जब मूर्तिपूजक सम्प्रदाय जिन-प्रतिमाओं की पूजा एवं प्रतिष्ठा आदि करने तक ही सीमित होकर रह गये तो अमूर्ति-पूजक सम्प्रदाय अस्तित्व में आये। इन सम्प्रदायों ने जैन श्रमणों के तप-त्यागमय जीवन पर विशेष बल दिया। साथ ही इन्होंने साधना एवं आचार-मर्यादा में आई शिथिलता एवं कर्मकाण्डी प्रवृत्ति का विरोध किया। अमूर्तिपूजक परम्परा में श्वेताम्बरों में स्थानकवासी एवं तेरापंथी सम्प्रदाय अस्तित्व में आये हैं। यहाँ हम इन्हीं अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों की उत्पत्ति एवं इनके विविध उपसम्प्रदायों की चर्चा करेंगे।

लोकाशाह काल :

अमूर्तिपूजक परम्परा में लोकाशाह का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। इनका जन्म ई० सन् १४१५ में अहमदाबाद में हुआ था। लोकाशाह के समय चैत्यवासी श्रमणों द्वारा जिनपूजा और जिनभक्ति के नाम पर जो कुछ किया जा रहा था उससे जैन धर्म कर्मकाण्डों में सिमट कर रह गया था। तब तत्कालीन स्थिति को सुधारने और धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप की प्रतिष्ठा के लिए लोकाशाह ने धर्मक्रान्ति की। अमूर्तिपूजक परम्परा का उद्भव एवं विकास उनकी इसी क्रान्ति का परिणाम है।

अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय की उत्पत्ति के सन्दर्भ में कहा जाता है कि लोकाशाह जब अहमदाबाद में थे तो एक बार अरहट्टवाड़ा, सिरौही, पाटन और सुरत—इन चार नगरों के श्रावक संघ अहमदाबाद आए। वहाँ आकर उन्होंने आगम मर्मज्ञ लोकाशाह के विचारों को सुना, सुनकर

१. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ६८, ५८८, ६७५, ६९७, ७१३, ७७९, ७८३, ८१९, ८३२, ८७४

वे इतने प्रभावित हुए कि उनमें से ४५ व्यक्तियों ने इनकी मान्यतानुसार ज्ञानमुनिजो द्वारा दीक्षा ग्रहण कर ली और अपने गच्छ का नाम लोकागच्छ रखा। लोकागच्छ का उत्पत्ति समय ई० सन् १४९० माना जाता है।^१

मूर्तिपूजा के विरोध स्वरूप १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विकसित हुई लोकाशाह की इस परम्परा का वर्तमान समय में भी काफी प्रभाव है। आज भले ही यह सम्प्रदाय भी स्थानकवासी, तेरापंधी एवं पुनः उनके विविध उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गया हो, फिर भी साहित्य एवं साधना के क्षेत्र में इसका अपना विशिष्ट स्थान है। आज जैन जनसंख्या का लगभग एक चौथाई भाग इन्हीं सम्प्रदायों एवं उपसम्प्रदायों से जुड़ा है।

लोकागच्छ का विभाजन :

लोकाशाह के नाम से पहचाने जाने वाले लोकागच्छ में भी कुछ समय पश्चात् बीजामति सम्प्रदाय उत्पन्न हो गया। तपागच्छ की एक पट्टावली में लिखा है—“१५५७ वर्षे लुकांमतमता निर्गत्य बीजाख्य वेषधरेण बीजामति नाममतं प्रवर्तितं।” लोकाशाह के उपरान्त लगभग एक शतक में ही लोकागच्छ निम्न तीन उपगच्छों में विभक्त हुआ—

(१) गुजराती लोकागच्छ, (२) नागौरी लोकागच्छ और (३) उत्तरार्द्ध लोकागच्छ।

कुछ समय पश्चात् इस मत में भी शिथिलाचार बढ़ने लगा तो १७वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में तीन मुनि—१. लवजीऋषिजी महाराज, २, धर्मसिंहजी महाराज और ३. धर्मदासजी महाराज लोकागच्छ से पृथक् हो गये। इसी विभाजन के परिणाम स्वरूप स्थानकवासी सम्प्रदाय अस्तित्व में आये।

इन तीनों मुनियों की शिष्य-परम्परा में धर्मदासजी महाराज की शिष्य-सम्पदा सर्वाधिक थी। उनके ९९ शिष्य थे, जो कुछ समय पश्चात् २२ उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गये और बावीसटोला के नाम से पहचाने जाने लगे। इनके अतिरिक्त लवजीऋषिजी से ऋषि सम्प्रदाय एवं धर्मसिंहजी से कुछ गुजराती सम्प्रदाय अस्तित्व में आये। धर्मदासजी महाराज की शिष्य-सम्पदा से विकसित बावीसटोला इस प्रकार है—

१. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—धम्मण परम्परा के दिव्य नक्षत्र,

१. धर्मदासजी महाराज, २. धन्नाजी महाराज, ३. लालचन्दजी महाराज, ४. मनाजी महाराज, ५. बड़े पृथ्वीराजजी महाराज, ६. छोटे पृथ्वीराजजी महाराज, ७. बालचन्दजी महाराज, ८. ताराचन्दजी महाराज, ९. प्रेमचन्दजी महाराज, १०. खेतशीजी महाराज, ११. पदार्थजी महाराज, १२. लोकमलजी महाराज, १३. मवानीदासजी महाराज, १४. मूलकचन्दजी महाराज, १५. पुरुषोत्तमजी महाराज, १६. मुकुटरायजी महाराज, १७. मनोहरदासजी महाराज, १८. रामचन्दजी महाराज, १९. गुरुसहायजी महाराज, २०. बाघजी महाराज, २१. रामरमनजी महाराज और २२. मूलचन्दजी महाराज ।

१७वीं शताब्दी से लेकर वर्तमान समय तक स्थानकवासी परम्परा में जो भी सम्प्रदाय हैं उनमें से अधिकांश सम्प्रदाय अपनी आचार्य परंपरा इन २२ आचार्यों में से ही किसी एक आचार्य से जोड़ते हैं, यद्यपि इनमें से अधिकांश की परम्परा विलुप्त हो गई हैं । स्थानकवासी परम्परा में जो भी उपसम्प्रदाय विकसित हुए हैं उनका विवेचन हम आगे के पृष्ठों में करेंगे । यहाँ इतना ही उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि मूर्तिपूजा में आई विकृतियों के खिलाफ लोकाशाह के नेतृत्व में क्रांति की लहर उठी थी और उसी के परिणामस्वरूप कई अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों का उद्भव एवं विकास समय-समय पर हुआ था । क्रांति में इन सम्प्रदायों में भी शिथिलाचार एवं बाह्याडम्बरों का प्रवेश हुआ है ।

आज अमूर्तिपूजक सम्प्रदायों में से कौनसे सम्प्रदाय आगम निर्दिष्ट आचार का निष्ठापूर्वक पालन कर रहे हैं और कौनसे नहीं कर रहे हैं ? यह उल्लेख करना हमारा प्रतिपाद्य विषय नहीं है, इसलिए हम इस विषय को यहीं विराम देकर यहाँ अमूर्तिपूजक परम्परा में विकसित हुए विभिन्न सम्प्रदायों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं ।

१. धमण संघ :

जैनधर्म का स्थानकवासी सम्प्रदाय जब अनेक उपसम्प्रदायों में विभक्त हो गया तो उसे पुनः एक करने की पहल अखिल भारतवर्षीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेंस ने की । कान्फ्रेंस के कार्यकर्ताओं ने सभी स्थानकवासी सन्तों से सम्पर्क किया । परिणामस्वरूप स्थानकवासी सम्प्रदाय के आचार्यों एवं मुनियों का सन् १९३२ में अजमेर में एक सम्मेलन हुआ । वहाँ स्थानकवासी परम्परा के सभी उपसम्प्रदायों को पुनः एक करने का प्रयास किया गया, किन्तु कान्फ्रेंस का यह प्रयास सफल नहीं हो सका

और एक संघ, एक आचार्य एवं एक समाचारी की कल्पना मूर्तरूप नहीं ले सकी। किन्तु कान्फेस ने अपना यह प्रयास आगे भी जारी रखा और सन् १९५२ में सादड़ी मारबाड़ में पुनः एक ऐसे ही सम्मेलन का आयोजन किया। इस सम्मेलन में स्थानकवासी परम्परा के ३२ सम्प्रदायों में से २२ सम्प्रदायों के आचार्य, प्रवर्तक एवं साधु-साध्वियाँ सम्मिलित हुए, तत्पश्चात् उन्होंने अपनी-अपनी पदवियों को छोड़कर एक आचार्य के अधीन एक समाचारी का पालन करने हेतु सन् १९५२ में श्रमण संघ की स्थापना की थी।

इस संघ के प्रथम आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज एवं उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज बने थे।^१ किन्तु कुछ समय पश्चात् जब श्रमण संघ में साधु-साध्वियों में समाचारो एवं प्रायश्चित्त व्यवस्था के प्रश्न पर विवाद उत्पन्न हुए तो उसमें सम्मिलित कुछ सम्प्रदायों ने इस संघ से अलग होकर अपने-अपने पूर्व सम्प्रदायों को पुनर्जीवित किया। श्रमण संघ से अलग होने वालों में उपाचार्य श्री गणेशीलालजी म० सा०, उपाध्याय श्री हस्तीमलजी म० सा०, प्रवर्तक श्री पन्नालालजी म० सा० एवं प्रवर्तक श्री मदनलालजी म० सा० के नाम प्रमुख हैं।

श्रमणसंघ की स्थापना के पूर्व की स्थानकवासी सम्प्रदाय की आचार्य परम्परा का उल्लेख श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री एवं श्री सौभाग्यमुनि 'कुमुद' ने विस्तारपूर्वक किया है^२ इसलिए हम वह विवरण यहाँ नहीं दे रहे हैं। श्रमण संघ की स्थापना से वर्तमान काल तक तीन आचार्य हुए हैं— (१) आचार्य श्री आत्मारामजी म० सा०, (२) आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी म० सा० और (३) वर्तमान आचार्य श्री देवेन्द्रमुनिजी।

अमूर्तिपूजक परम्परा के साधु-साध्वियों को दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि यह सम्प्रदाय उसका सबसे बड़ा घटक है। इस समय श्रमण संघ में लगभग ९०० सन्त-सतियाँजी हैं।

२. साधुमार्गी संघ :

जैन धर्म के चतुर्विध संघ में समय-समय पर ऐसे दृष्टान्त देखने को

१. अमृत महोत्सव गौरव ग्रन्थ, परिच्छेद १, पृष्ठ ८-९

२. (क) शास्त्री, देवेन्द्र मुनि—जैन परम्परा और इतिहास,

उद्धृत—पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, खण्ड ८, पृ० ६८-८८

(ख) सौभाग्यमुनि "कुमुद"—जैन परम्परा एक ऐतिहासिक यात्रा,

उद्धृत—श्री अम्बालालजी अ० सा० अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ४८५-५३०

मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि आचारगत मतभेदों के कारण विभिन्न संघ एवं सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती रही है। शताब्दियों पूर्व लोकाशाह ने शिथिलाचार के विरुद्ध आवाज उठाकर श्रमण संस्कृति की धारा को अविरल प्रवाहित करने में अविस्मरणीय योगदान दिया था, उसी परम्परा में आचार्य हुकमीचन्दजी म० सा० का नाम विशेष स्थान रखता है। हुकमीचन्दजी म० सा० की दीक्षा ई० सन् १८२२ में हुई थी तथा उनका स्वर्गवास १८६० ई० में हुआ था।^१ साधुमार्गी जैन संघ आचार्य हुकमीचन्दजी म० सा० को अपना आद्य आचार्य मानता है।

आचार्य हुकमीचन्दजी म० सा० ने अपने समय में व्याप्त शिथिलाचार को हटाने के लिए, संयम पालन की अक्षुण्णता बनाये रखने के लिए तथा आत्मशुद्धि के लिये संघ तथा समाज में शुद्धाचार का एक विशिष्ट आदर्श प्रस्तुत किया था। इसके अनुसार आपने स्वयं ने तो शुद्धाचार के नियमोपनियमों का कठोरतापूर्वक पालन किया ही था, साथ ही अपनी नेत्राय में रहने वाले साधु-साध्वियों से भी उसी रूप में उसका पालन करवाया। फलतः साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविकाओं का एक विशाल समूह आपका अनुयायी हो गया था। यह समूह आज साधुमार्गी जैन संघ के नाम से पहचाना जाता है। इस संघ में वर्तमान में लगभग ३०० साधु-साध्वियाँ हैं।

इस संघ की स्थापना से पूर्व की आचार्य परम्परा का उल्लेख श्री ज्ञानमुनिजी म० सा० ने अपने ग्रन्थ "अष्टाचार्य गौरव गंगा" में विस्तारपूर्वक किया है। विस्तारभय के कारण हम वह उल्लेख यहाँ नहीं कर रहे हैं। पूज्य हुकमीचन्दजी म० सा० से लेकर वर्तमान तक निम्न आठ आचार्य हुए हैं—

(१) आचार्य श्री हुकमीचन्दजी म० सा०, (२) आचार्य श्री शिवलालजी म० सा०, (३) आचार्य श्री उदयसागरजी म० सा०, (४) आचार्य श्री चौथमलजी म० सा०, (५) आचार्य श्री श्रीलालजी म० सा०, (६) आचार्य श्री जवाहरलालजी म० सा०, (७) आचार्य श्री गणेशीलालजी म० सा० और (८) वर्तमान आचार्य श्री नानालालजी म० सा०।

३. रत्नवंशीय परम्परा :

ई० सन् १९५२ में श्रमण संघ की स्थापना के समय रत्नवंशीय परंपरा

के श्रमण-श्रमणी भी आचार्य हस्तीमल जी म० सा० के नेतृत्व में श्रमण संघ में सम्मिलित हो गये थे, किन्तु कालान्तर में श्रमण संघ की आचार-गत मान्यताओं से असहमत होकर जब कुछ सम्प्रदायों ने अपने पूर्व सम्प्रदायों को पुनर्जीवित किया तो आचार्य हस्तीमल जी म० सा० ने भी नवगठित श्रमण संघ से अलग होकर अपनी पूर्व परम्परा (रत्नवंशीय) को ही पुनर्जीवित किया। रत्नवंशीय परम्परा में इस समय लगभग ५० संत-सतियाँजी हैं।

रत्नवंशीय परम्परा के आदि प्रवर्तक आचार्य कुशलो जी माने जाते जाते हैं, किन्तु इनके बारे में विस्तृत जानकारी का अभाव है। आचार्य कुशलो जी के पश्चात् इस संघ में आठ आचार्य हुए हैं—(१) आचार्य गुमानचंद जी म० सा०, (२) आचार्य रतनचंदजी म० सा०, (३) आचार्य हूमोरमल जी म० सा०, (४) आचार्य कजोडीमल जी म० सा० (५) आचार्य विनयचंद जी म० सा०, (६) आचार्य शोभाचंद जी म० सा० (७) आचार्य हस्तीमल जी म० सा० तथा (८) वर्तमान आचार्य हीरामुनि जी।

इस सम्प्रदाय के सप्तम पट्टधर आचार्य श्री हस्तीमल जी म० सा० प्रभावक आचार्य रहे हैं, उनका जन्म १९१० ई० में जोधपुर के पीपाड़ शहर में हुआ था तथा १० वर्ष की आयु में दीक्षा और २० वर्ष की आयु में आचार्य पद प्राप्त करके ६१ वर्षों तक आप इस गरिमामय पद पर बने रहे थे। ई० सन् १९९१ में १३ दिन के संथारे के साथ आपका महा-प्रयाण हुआ था।

४. ज्ञानचन्द जी म० सा० का सम्प्रदाय :

यह सम्प्रदाय धर्मदास जी म० सा० की परम्परा से संबंधित है। ज्ञानचन्द जी म० सा० के बाद इस सम्प्रदाय में पं० समरथमलजी म० सा० संघ प्रमुख बने थे। इस सम्प्रदाय के वर्तमान संघ प्रमुख चम्पालाल जी म० सा० हैं। इस सम्प्रदाय को पंडित जी म० सा० के सम्प्रदाय के नाम से भी जाना जाता है। इस सम्प्रदाय में वर्तमान में लगभग ३२० संत-सतियाँ जी हैं।

५. जयमल जी म० सा० का सम्प्रदाय :

इस सम्प्रदाय के वर्तमान आचार्य श्री शुभचन्द्र जी म० सा० हैं। इस सम्प्रदाय में अभी लगभग ४० संत-सतियाँ जी हैं। इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित विस्तृत जानकारी हम ज्ञात नहीं कर सके हैं।

६. मदनलाल जी म० सा० का सम्प्रदाय :

इस सम्प्रदाय के वर्तमान में संघ प्रमुख श्री सुदर्शनलालजी म० सा० है। श्वेताम्बर स्थानकवासी परंपरा में यही एकमात्र ऐसा सम्प्रदाय है जिसमें केवल मुनि ही हैं, साध्वियाँ नहीं हैं। इस सम्प्रदाय में वर्तमान में २५ संत हैं।

७. धर्मदास जी म० सा० का सम्प्रदाय :

इस सम्प्रदाय के अधिकांश संत-सतियाँ जी तो श्रमण संघ में सम्मिलित हैं, किन्तु श्री लालचन्द जी म० सा० का समुदाय श्रमण संघ से अलग रहा। लालचन्द जी म० सा० प्रतिवर्ष अपने चातुर्मास की आज्ञा श्रमण संघीय प्रवर्तक श्री उमेशमुनि जी म० सा० से मंगवाते रहे।^१ इस सम्प्रदाय के वर्तमान आचार्य श्री मानमुनि जी म० सा० हैं। वर्तमान में लगभग २५ संत-सतियाँ जी इस सम्प्रदाय में हैं।

८. उपाध्याय अमरमुनि जी म० सा० का सम्प्रदाय .

स्थानकवासी परम्परा में उपाध्याय अमरमुनि जी म० सा० का सम्प्रदाय भी विशिष्ट स्थान रखता है। उपाध्याय अमरमुनि जी म० सा० विगत कई वर्षों से वीरायतन-राजगृह में ही स्थिर-वास कर रहे थे, किन्तु वर्ष १९९२ में ही आपका स्वर्गवास हुआ है। इस सम्प्रदाय में अब पं० विजयमुनिजी म० सा० आदि कुछ संत हैं किन्तु उपाध्याय श्रीअमरमुनि जी म० सा० द्वारा विदुषी साध्वी चन्दना श्री जी को आचार्य पद प्रदान किये जाने के पश्चात् वे इस समूह से निरपेक्ष हैं। किसी साध्वी को आचार्य पद पर प्रतिष्ठापित करने का श्रेय संभवतः इसी सम्प्रदाय को है। इस सम्प्रदाय में वर्तमान में लगभग २५ संत-सतियाँ जी हैं।

९. बृहद् गुजरात सम्प्रदाय :

स्थानकवासी परम्परा में बृहद् गुजरात में कुछ स्वतन्त्र सम्प्रदाय वर्तमान में अस्तित्व में हैं।^२ पर्याप्त साक्ष्यों के अभाव में इन सम्प्रदायों की आचार्य परम्परा तथा मान्यताओं संबंधी जानकारी हमें ज्ञात नहीं हो सकी है। अतः यहाँ हम इन सम्प्रदायों का नामोल्लेख मात्र कर रहे हैं।

(१) गोंडल पक्ष सम्प्रदाय, (२) लिम्बडो छः कोटी मोटा पक्ष सम्प्र-

१. जैन, बाबुलाल-समग्र जैन चातुर्मास सूची, पृ० ४१; प्रकाशन वर्ष १९९१

२. वही, वर्ष १९१२

दाय, (३) दरियापुरी आठ कोटी सम्प्रदाय, (४) लिम्बडी संघवी (गोपाल) सम्प्रदाय, (५) कच्छ आठ कोटी मोटा पक्ष सम्प्रदाय, (६) कच्छ आठ कोटी छोटा पक्ष सम्प्रदाय, (७) संभात सम्प्रदाय, (८) बोटाद सम्प्रदाय, (९) गोंडल संघाणी सम्प्रदाय, (१०) बरवाला सम्प्रदाय, (११) सायला सम्प्रदाय । (१२) हालारी सम्प्रदाय और (१३) वर्धमान सम्प्रदाय ।

वृहद् गुजरात सम्प्रदायों में गोंडल मोटा पक्ष सम्प्रदाय तथा लिम्बडी मोटा पक्ष सम्प्रदाय के साधु-साधवियों की संख्या ही अधिक है। अधिकांश सम्प्रदायों के साधु-साधवियों की संख्या तो अत्यल्प ही है। वर्तमान समय में वृहद् गुजरात सम्प्रदाय के सभी सम्प्रदायों के कुल साधु-साध्वी लगभग ११०० हैं।

श्वेताम्बर तेरापन्थ सम्प्रदाय

श्वेताम्बर परम्परा में तेरापन्थ सम्प्रदाय की स्थापना ई० सन् १७६० में आचार्य भिक्षु के द्वारा हुई थी।^१ तेरापन्थ सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य भिक्षु स्वामी स्वयं स्थानकवासी परम्परा में ई० सन् १७५१ में दीक्षित हुए थे, किन्तु ९ वर्ष पश्चात् आचार एवं विचार संबंधी मतभेदों के कारण वे इस परंपरा से अलग हुए और उन्होंने तेरापन्थ नाम से एक पृथक सम्प्रदाय की स्थापना की। तेरापन्थ सम्प्रदाय के उद्भव के प्रथम दिन ही आचार्य भिक्षु ने नये सिरे से महाव्रत ग्रहण किये थे, इस प्रकार उनकी नवीन दीक्षा के साथ ही तेरापन्थ का प्रवर्तन हुआ था।^२

आचार्य भिक्षु ने तेरापन्थ की सैद्धान्तिक व्याख्या इस प्रकार दी थी कि जहाँ पांच व्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति ये तेरह नियम पाले जाते हैं—वह तेरापन्थ है।^३

श्वेताम्बर परंपरा के इस सम्प्रदाय का स्थानकवासी सम्प्रदायों से मुख्यविवाद दया-दान के प्रश्न को लेकर है। इस परंपरा की मान्यता थी कि जीवों के रक्षण के प्रयत्न में कहीं न कहीं रागात्मकता का भाव होता है और राग-भाव चाहे किसी भी रूप में हो वह हेय है, उपादेय नहीं। दूसरे दया-दान अर्थात् जीवों के रक्षण अथवा उन्हें सुख पहुँचाने के प्रयत्न में भी कहीं न कहीं हिंसा अवश्य जुड़ी रहती है। अतः जिस प्रवृत्ति में हिंसा

१. मुनि नथमल-भिक्षु विचार दर्शन, भूमिका पृ० ९, प्रकाशन वर्ष १९६०

२. भिक्षु जस रसायन : ८ दोहा ३-४ ;

उद्घृत-भिक्षु विचार दर्शन, भूमिका पृ० १५

३. जय अनुशासन-त्रयाचार्य, श्लोक ६२५-६२७, प्रकाशन वर्ष १९८१

हो, उसे धर्म नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार इस सम्प्रदायने हिंसा-अहिंसा के प्रश्न पर अल्प-बहुत्व का विचार नहीं करके निरपेक्ष रूप से अहिंसा की अवधारणा पर ही अधिक बल दिया। इस प्रकार यह सम्प्रदाय अहिंसा के सकारात्मक पक्ष को अस्वीकार करता है क्योंकि इनके मतानुसार इसमें किसी न किसी रूप में हिंसा और राग नोहित रहते हैं। इस सम्प्रदाय की आचार संबन्धी मान्यताओं की चर्चा हम आगे के पृष्ठों में करेंगे।

संघ व्यवस्था की दृष्टि से यह सम्प्रदाय काफी व्यवस्थित है। अनुशासन तो इनका मूल उद्घोष ही है। स्वयं आचार्य भिक्षु का लिखा हुआ यह कथन दृष्टव्य है—“सभी साधु-साध्वियाँ एक ही आचार्य की आज्ञा में रहें, यह परम्परा मैंने की है।”^१ आचार्य भिक्षु द्वारा उपदिष्ट इस परम्परा का पालन तब से आज तक इस सम्प्रदाय में निर्बाध रूप से हो रहा है। ज्ञातव्य है कि बीच में नव तेरापन्थ नाम से कुछ श्रमणों ने इस सम्प्रदाय को भी विभाजित करना चाहा था, किन्तु श्रावकों ने उन्हें मान्यता नहीं दी और इस प्रकार तेरापन्थ सम्प्रदाय में नव तेरापन्थ विकसित नहीं हो सका। दो-चार मुनियों के अतिरिक्त नव तेरापन्थ का समाज में कोई स्थान नहीं है।

तेरापन्थ सम्प्रदाय की स्थापना से लेकर वर्तमान तक ९ आचार्य हुए हैं, यथा—

(१) आचार्य भिक्षुजी, (२) आचार्य भारोमेलजी, (३) आचार्य ऋषिराजजी, (४) आचार्य जीतमलजी, (५) आचार्य मधवाजी, (६) आचार्य माणिकलालजी, (७) आचार्य डालचन्दजी, (८) आचार्य कालुरामजी और (९) वर्तमान आचार्य तुलसीजी।

इस सम्प्रदाय में वर्तमान में लगभग ७०० संत-सतियाँ जी हैं।

दिगम्बर परम्परा के उपसम्प्रदाय :

अचेल परम्परा के पोषक पूर्णतः निर्वस्त्र रहने वाले साधु दिगम्बर कहलाते हैं। सम्प्रदाय विभाजन की प्रक्रिया को दिगम्बर परम्परा को भी स्वीकारना ही पड़ा है। श्वेताम्बर परम्परा की तरह दिगम्बर परम्परा में भी मूर्तिपूजक एवं अमूर्तिपूजक दोनों ही मान्यताओं के संप्रदाय विक-

१. (क) लिखित, १८३२ (ख) जय अनुशासन, श्लोक ६४४;
उद्धृत-भिक्षु विचार दर्शन, पृष्ठ १३०

सित हुए हैं, किन्तु इस परंपरा में मूर्तिपूजक सम्प्रदाय का प्रभाव ही अधिक दिखाई देता है। अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय के रूप में इस परंपरा में एक मात्र तारण पन्थ का ही उल्लेख मिलता है। दिगम्बर परंपरा के विभिन्न उपसम्प्रदाय इस प्रकार हैं—

१. मूलसंघ :

दिगम्बर परंपरा में मूलसंघ का विशिष्ट स्थान है। सर्वप्रथम हमें दक्षिण भारत में नोणमंगल की दो ताम्रपट्टिकाओं में मूलसंघ का उल्लेख मिलता है।^१ ये दोनों ताम्रपट्टिकाएँ क्रमशः ई० सन् ३७० और ई० सन् ४२५ की मानी जाती हैं। इस प्रकार मूलसंघ का उल्लेख हमें ईसा की चतुर्थ शताब्दी के उत्तरार्ध में मिल जाता है।

११०० ई० के एक अभिलेख के अनुसार यह संघ आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा स्थापित किया गया था,^२ किन्तु यह अभिलेख पश्चात्पूर्वी होने के कारण अविश्वसनीय लगता है। पट्टावली से प्राप्त जानकारों के अनुसार आचार्य माघनन्दी ने इस संघ की स्थापना की थी।^३ मूलसंघ का उल्लेख ११७७ ई० से १६०१ ई० तक के लगभग २५ अभिलेखों में हुआ है।^४ कालान्तर में यह संघ भो कई अन्वयों, बलियों, गच्छों, संघों तथा गणों में विभक्त हो गया, जिनके नाम इस प्रकार हैं—

अन्वय—कोण्डकुन्दान्वय, श्रीपुरान्वय, किन्तुरान्वय, चंद्रकवाटान्वय, चित्रकुटान्वय आदि।

बलि—इनसोगे या पनसोगे, इंगुलेश्वर एवं वाणद बलि आदि।

गच्छ—चित्रकूट, होन्तगे, तगरिल, होगरि, पारिजात, मेषपाषाण, त्रिणीक, सरस्वती, पुस्तक तथा वक्रगच्छ आदि।

१. (क) “मूलसंघानुष्ठिताय”

—जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक ९०

(ख) “मूलसंघेनानुष्ठिताय”

—वही, भाग २, क्रमांक ९४

२. वही, भाग १, क्रमांक ५५

३. इण्डियन इन्स्टिच्यूट, २० पृ० ३४१; उद्धृत—मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म, पृष्ठ ९०

४. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, परिशिष्ट २, पृ० २२८

५. चौधरी, गुलाबचन्द्र—दिगम्बर जैन संघ के अतीत की झर्राँकी उद्धृत—मिश्र स्मृति ग्रन्थ, पृ० २९५

संघ—नविलूर, मयूर, किचूर, कोशलनूर, गनेश्वर, गौड, श्रीसंघ, सिंह और परलूर संघ आदि ।

गण—बलात्कार, सूरस्थ, कालोग्र, उदार, योगरिय, पुत्रागवृक्ष मूलगण, पंकुर एवं देशियगण आदि ।

दिगम्बर सम्प्रदाय के मूलसंघ के अन्तर्गत उल्लिखित इन विभिन्न उपसम्प्रदायों में से अधिकांश के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती है, किन्तु कुछ के सन्दर्भ में संक्षिप्त जानकारी इस रूप में ज्ञात होती है—

(i) देवगण :

शिलालेखीय साक्ष्य के आधार पर मूलसंघ की यह शाखा सबसे प्राचीन है। इस गण का प्राचीनतम उल्लेख ६८७ ई० के लक्ष्मेश्वर अभिलेख में हुआ है।^१ इसके अतिरिक्त ७२९ ई० से ७३४ ई० तक के चार अन्य अभिलेखों में भी इस गण का उल्लेख मिलता है।^२ अभिलेखों में इस गण के निम्नलिखित आचार्यों के नाम भी उपलब्ध होते हैं^३—

पूज्यपाद उदयदेव, रामदेव, जयदेव, विजयदेव, अंकदेव, महादेव आदि। यहाँ हम देखते हैं कि इस गण के प्रायः सभी आचार्यों के नाम के अन्त में देव शब्द जुड़ा हुआ है। सम्भवतः इस गण में आचार्यों के नाम के अन्त में देव शब्द जोड़ने की परम्परा रही होगी।

(ii) सेनगण :

सेनगण का प्राचीनतम उल्लेख ८२१ ई० के एक ताम्रपत्र में मिलता है।^४ इस ताम्रपत्र में इस गण की आचार्य परम्परा इस प्रकार उल्लिखित है—मल्लवादी, सुमति, पूज्यपाद और अपराजित। ९०३ ई० के एक अन्य शिलालेख में इस गण की गुरुपरम्परा दी गई है, जो इस प्रकार है^५—पूज्यपाद, कनकसेन, वीरसेन।

इस गण की उत्पत्ति कब, कहाँ एवं किसके द्वारा हुई तथा इनकी मान्यताएँ क्या थीं? इत्यादि जानकारियाँ अज्ञात हैं।

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक १११
२. वही, क्रमांक ११३, ११४, १४९, १९३
३. यापनीय और उनका साहित्य, पृष्ठ ४३
४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, क्रमांक ५५
५. वही, भाग २, क्रमांक १३७

(iii) देशियगण :

मूलसंघ के गणों में सबसे प्रमुख गण देशियगण माना जाता है। कहीं-कहीं पर इस गण का नाम देशीगण भी मिलता है। ऐसा माना जाता है कि इस गण का उद्भव दक्षिण भारत के देश नामक ग्राम में लगभग ९वीं शताब्दी में हुआ था।^१ प्रो० जोहरापुरकर के अनुसार देशिय-गण पूज्यपाद देवनन्दि के शिष्य वज्रनन्दि से प्रारम्भ हुआ था।^२ पर्याप्त अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों के अभाव में इस गण से सम्बन्धित विशेष जानकारी ज्ञात नहीं होती है।

(iv) सूरस्थगण :

सूरस्थगण का उल्लेख करने वाला प्राचीनतम अभिलेख १०५४ ई० का है।^३ इस गण की उत्पत्ति सम्भवतः सौराष्ट्र क्षेत्र में हुई है। यह गण प्रारम्भ में सेनगण से सम्बन्धित था। एक अभिलेख में इस गण का सम्बन्ध द्राविडान्वय से भी बतलाया गया है।^४

इस गण से सम्बन्धित विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है।

(v) बलात्कार गण :

बलात्कार गण का प्रारम्भ देवनन्दि के शिष्य गुणनन्दि से माना जाता है। सम्भवतः इस गण की उत्पत्ति बलहार नामक स्थान से हुई है। इस गण का उल्लेख करने वाला प्राचीनतम अभिलेख १०७१ ई० का उपलब्ध होता है^५ जिसमें इस गण के आचार्य श्रीचन्द का नाम भी उल्लिखित है। १३७१ ई० के एक अन्य अभिलेख में इस गण के आचार्य सिंहनन्दि का उल्लेख मिलता है।^६

शत्रूजय से प्राप्त एक अभिलेख में इस गण की गुरु परम्परा इस

१. चौधरी, गुलाबचन्द्र—दिगम्बर जैन संघ के अतीत की झांकी, उद्धृत—भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ २१५
२. दूबे, श्रीनारायण—जैन अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन (शोध प्रबन्ध), पृष्ठ ६१
३. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक १८५
४. दिगम्बर जैन संघ के अतीत की झांकी, उद्धृत—भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, पृष्ठ २१५
५. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, क्रमांक १५४
६. वही, भाग ३, क्रमांक ५६९

प्रकार मिलती है^१—सकलकीर्ति, भुवनकीर्ति, ज्ञानभूषण, विजयकीर्ति, शुभचन्द्र, सुमतिकीर्ति, गुणकीर्ति, वादिभूषण, रामकीर्ति और पद्मनन्दि । इस गण की अचार सम्बन्धी मान्यताओं के बारे में कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है ।

(vi) क्राणूरगण :

इस गण का सर्वप्रथम उल्लेख १०७४ ई० के एक अभिलेख में मिलता है ।^२ यह गण यापनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित प्रतीत होता है । क्योंकि क्राणूरगण नाम कण्डूरगण नामक यापनीय सम्प्रदाय में भी प्रचलित रहा है । अधिकांश गणों की तरह इस गण के सन्दर्भ में भी विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती है ।

(vii) पुन्नाग गण :

इस गण का प्राचीनतम अभिलेखीय साक्ष्य ११०८ ई० का उपलब्ध होता है ।^३ क्राणूरगण की तरह यह गण भी यापनीय परम्परा से ही सम्बन्धित रहा है । प्रो० जोहरापुरकर ने यशबाहु के शिष्य अहंदवल के गुरु भ्राता लौहार्य के शिष्य विनयधर से इस गण की उत्पत्ति होना माना है ।^४ इस गण से सम्बन्धित शेष जानकारियाँ अज्ञात हैं ।

(viii) निगमान्वय :

मूलसंघ के अन्तर्गत इस अन्वय का एकमात्र उल्लेख १३१० ई० के एक अभिलेख में मिलता है ।^५ जिसमें किन्हीं कृष्णदेव द्वारा एक मूर्ति की स्थापना करने का भी उल्लेख हुआ है । इस अन्वय की उत्पत्ति कब, कहाँ एवं किसके द्वारा हुई तथा इनकी मान्यताएँ क्या थीं ? इत्यादि जानकारियाँ पर्याप्त साक्ष्यों के अभाव में ज्ञात नहीं हो सकी हैं ।

(ix) सरस्वती गच्छ :

सरस्वती गच्छ मूलसंघ की ही एक उपशाखा रही है । १४१५ ई० से

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ३, क्रमांक ७०२,
उद्धृत—यापनीय और उनका साहित्य, पृ० ५२
२. वही, भाग २, क्रमांक २०७
३. वही, भाग २, क्रमांक २५०
४. जैन अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ६५
५. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, क्रमांक ३९०,
उद्धृत—यापनीय और उनका साहित्य, पृ० ५३,

१५५९ ई० तक के ५ अभिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख उपलब्ध होता है।^१ इन सभी अभिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख मूलसंघ-नन्दि-संघ-बलात्कारगण-सरस्वती गच्छ—इस रूप में मिलता है। साथ ही सभी अभिलेखों में कुन्दकुन्दाचार्य अन्वय का भी उल्लेख हुआ है। जिससे यह फलित होता है कि यह गच्छ मूलसंघ और आचार्य कुन्दकुन्द से अवश्य ही सम्बन्धित है। १४६६ ई० से १८२३ ई० तक के १२ अन्य अभिलेखों में भी इस गच्छ का उल्लेख मूलसंघ एवं कुन्दकुन्दाचार्य अन्वय के उल्लेख के साथ ही मिलता है।^२

(x) नन्दिगण :

श्रवणबेलगोला से प्राप्त कुछ लेखों में नन्दिगण की पट्टावलिर्थाँ दी गई हैं।^३ इस गण का उल्लेख करने वाले अधिकांश अभिलेखों में प्रारम्भ में नन्दि-संघ का तथा मध्य में अथवा अन्त में मूलसंघ देशोगण का उल्लेख हुआ है। इस गण से सम्बन्धित कोई विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है।

२. द्राविड संघ :

यह संघ संभवतः द्राविड देश से संबंधित है। इस संघ की स्थापना के सम्बन्ध में आचार्य देवसेन (वि० सं० ९९०) लिखते हैं कि मथुरा में पूज्यपाद के शिष्य देवनन्दि ने वि० सं० ५२६ में इस संघ की स्थापना की थी।^४

विविध लेखों में इस संघ के भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं, यथा— द्रमिड, द्रविड, द्राविड, द्रविण, द्रविल, दरविल, आदि। हमारी दृष्टि में नामों की इस विविधता के दो कारण हो सकते हैं, एक तो उच्चारण भेद और दूसरे लेखक अथवा उत्कीर्णक की असावधानी।

इस संघ के अनेक लेख कोंगात्ववंशी, शांतरवंशी तथा होयसलवंशी राजाओं के राज्यकाल के हैं। न्यायविनिश्चय विवरण, पार्श्वनाथचरित

१. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक २०७, २२६, २७८, ८५१, १०१५
२. जैन लेख संग्रह, भाग १, क्रमांक ६८०, ५९०, ६९६, ३२५, ५०२, २२१, ४५१, १५८, ५०५, ६४०, ६४२, २३४
३. जैन शिलालेख संग्रह, भाग १, क्रमांक ४०-५०
४. दर्शनसार, २४-८

आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों के कर्ता वादिराज इसी संघ के आचार्य माने जाते हैं।^१

इस संघ की मान्यतानुसार बीजों में जीव नहीं होता है तथा मुनियों के लिए खड़े-खड़े भोजन करना आवश्यक नहीं है। इसके अलावा इस संघ के श्रमण सावद्य और शय्यातर पिण्ड को अकल्पित नहीं मानते हैं। इतना ही नहीं इस परम्परा में भट्टारकों के द्वारा शीतल जल से स्नान करना तथा कृषि-वाणिज्य आदि द्वारा जीवन निर्वाह करना भी निषिद्ध नहीं है।^२

३. काष्ठा संघ :

जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में कई गच्छों का प्रादुर्भाव स्थान विशेष के नाम पर हुआ है उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में भी यह माना जाता है कि काष्ठा संघ की उत्पत्ति काष्ठाग्राम से हुई है। यह काष्ठाग्राम या तो मथुरा के पास जमुना तट पर स्थित काष्ठाग्राम है या फिर दिल्ली के उत्तर में जमुना के किनारे स्थित काष्ठाग्राम है।

इस संघ के उत्पत्ति समय के बारे में भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। दर्शनसार के कर्ता देवसेनसूरि (वि० सं० ९९०) लिखते हैं कि आचार्य जिनसेन के सतीर्थ्य विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने वि० सं० ७५३ में काष्ठासंघ की स्थापना की थी।^३ पं० बुलाकीदास ने वचनकोश (१७वीं शताब्दी) में लिखा है कि काष्ठा संघ की उत्पत्ति उमास्वाति की पट्ट परम्परा में लोहाचार्य द्वारा अगरोहा नगर में हुई थी और काष्ठ की प्रतिमा के पूजन का विधान करने से ही इस संघ का नाम काष्ठासंघ पड़ा।^४ १२६२ ई० से १६०८ ई० तक के कुल १० अभिलेखों में इस संघ का उल्लेख मिलता है।^५ किन्तु साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर हम इतना कह सकते हैं कि यह संघ १०वीं शताब्दी में अस्तित्व में आ चुका था।

१. चौधरी, गुलाबचन्द—दिगम्बर जैन संघ के अतीत की झांकी,

उद्घृत—मिक्षु अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २९७

२. यापनीय और उनका साहित्य, पृ० ५५

३. शास्त्री, कंलाशचन्द्र—जैन धर्म, पृ० ३०५

४. प्रेमी, नाथुराम—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २७६

५. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ७३, १३३, १४१, २७९, ३८३, ५५१, ६२५,

८३३, ९९६, १०८४

काष्ठासंघ के आचार्य कुमारसेन के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने मयूर के पंखों से बनी पिच्छी को छोड़कर गाय के बालों से बनी पिच्छी धारण की थी। ज्ञातव्य है कि इस संघ में स्त्रियों को दीक्षा निषिद्ध नहीं थी।^१

काष्ठा संघ के निम्नलिखित चार प्रमुख गच्छों का उल्लेख भी विभिन्न अभिलेखों में मिलता है—

(i) माथुर गच्छ :

काष्ठा संघ के इस गच्छ का उल्लेख ११७४ ई०, ११७९ ई० और १४८५ ई० के तीन अभिलेखों में मिलता है।^२ ११७७ ई० से १५७५ ई० के मध्य हुए इस गच्छ के कई आचार्यों के नाम भी उपलब्ध होते हैं, यथा—ललितकीर्ति, माधवसेन, उद्धरसेन, देवसेन, विमलसेन, धर्मसेन, भावसेन, सहस्रकीर्ति, गुणकीर्ति, यशकीर्ति, मलयकीर्ति, गुणभद्र, भानुकीर्ति, कुमारसेन और विजयसेन आदि।^३

लगभग ४०० वर्षों तक अस्तित्व में रहने वाले इस गच्छ के आचार्यों के साहित्यिक योगदान के सन्दर्भ में कोई विशेष जानकारो उपलब्ध नहीं है।

(ii) लाडवागड गच्छ :

काष्ठा संघ से सम्बन्धित इस गच्छ का उल्लेख ११७९ ई० और १३३३ ई० के दो अभिलेखों में मिलता है।^४ १३७४ ई० से १४३६ ई० की अवधि में हुए इस गच्छ के निम्नलिखित आचार्यों के नाम उपलब्ध होते हैं—अनन्तकीर्ति, विजयसेन, चित्रसेन, पद्मसेन, त्रिभुवनकीर्ति, धर्मकीर्ति, मलयकीर्ति, नरेन्द्रकीर्ति और प्रतापकीर्ति।^५

पर्याप्त साहित्यिक साक्ष्यों के अभाव में इस गच्छ के संदर्भ में भी अन्य कोई जानकारी ज्ञात नहीं होती है।

(iii) नदितट गच्छ :

१४३३ ई० तथा १४५९ ई० के दो अभिलेखों में इस गच्छ का उल्लेख

१. शास्त्री, कैलाशचन्द्र—जैन धर्म, पृ० ३०५
२. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ३४, ३८, ८३३
३. Jain sects and schools, p. 117
४. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ३९, १३३
५. Jain Sects and schools, p. 120

१०८ : जैनधर्म के सम्प्रदान

काष्ठा संघ के उल्लेख के साथ मिलता है^१, जिससे प्रतिफलित होता है कि यह गच्छ काष्ठा संघ से सम्बन्धित था।

१४१२ ई० से १६७९ ई० की अवधि में हुए इस गच्छ के अनेक आचार्यों के नाम उपलब्ध होते हैं,^२ यथा—रत्नकीर्ति, लक्ष्मीसेन, भीमसेन, धर्मसेन, सोमकीर्ति, विमलसेन, विजयसेन, विशालकीर्ति, यशकीर्ति, विश्वसेन, उदयसेन, विजयकीर्ति, विद्याभूषण, त्रिभूवनकीर्ति और श्रीभूषण आदि।

(iv) बागड गच्छ :

काष्ठा संघ के इस गच्छ का उल्लेख १४४७ ई० तथा १४५९ ई० के दो अभिलेखों में मिलता है।^३ इन अभिलेखों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये दोनों ही अभिलेख धर्मसेन के हैं। बागड गच्छ के मात्र दो आचार्यों—सूरसेन और यशकीर्ति के ही नाम उपलब्ध होते हैं। यह गच्छ संभवतः कुछ समय पश्चात् ही अन्य गच्छों में सम्मिलित हो गया होगा, क्योंकि मात्र १२ वर्षों की अल्पावधि के उपलब्ध इन दो अभिलेखों के अतिरिक्त इस गच्छ से सम्बन्धित और कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता है।

४. देवसेन संघ :

राजस्थान में नागौर स्थित आदिनाथ मन्दिर होराबाडी की संभवनाथ प्रतिमा पर १४९६ ई० के दो लेख अंकित हैं।^४ जिनमें इस संघ का उल्लेख हुआ है। अन्य कोई अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होने से इस संघ के सन्दर्भ में भी विशेष जानकारी ज्ञात नहीं हो सकी है।

५. बौसपंथी वर्ग

दिगम्बर परंपरा का यह पंथ लगभग १३वीं शताब्दी में अस्तित्व में आया।^५ ग्लासनेप का मत है कि बसन्तकीर्ति ने एक वस्त्र से मुनियों के

१. प्रतिष्ठा लेख संग्रह क्रमांक, २७९, ५५१

२. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म, पृ० ११२

३. प्रतिष्ठा लेख संग्रह, क्रमांक ३८३, ५५१

४. वही, क्रमांक ८७१, ८७२

५. Jain Sects and Schools, P. 127

चर्यायें जाते समय आच्छादन का जो प्रावधान स्थापित किया था, उसको मानने वाले "विश्वपंथी" या "बीसपंथी" कहलाने लगे ।^१

यद्यपि इस पंथ के उत्पत्ति स्थल एवं समय आदि के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता है तथापि इस पंथ की मान्यताओं के सन्दर्भ में विस्तार से उल्लेख हुआ है । इस पंथ के अनुयायी भैरव आदि क्षेत्रपालों सहित तीर्थंकरों की मूर्तियाँ स्थापित करवाते हैं तथा उनकी पूजा-अर्चना के लिए सचित्त द्रव्य का उपयोग करते हैं । इस पंथ को एक अतिरिक्त विशेषता का उल्लेख बुलकर ने किया है, उनके अनुसार इस पंथ के भट्टारक भोजन करते समय पूर्णतः नग्न रहते हैं और उस समय उनका एक शिष्य घंटो बजाता रहता है ताकि सामान्यजन वहाँ से दूर रहें ।^२

६. दिगम्बर तेरापंथ :

जिस प्रकार श्वेताम्बर तेरापंथ सम्प्रदाय की उत्पत्ति स्थानकवासो आचार-परम्परा की एक प्रतिक्रिया थी उसी प्रकार दिगम्बर तेरापंथ की उत्पत्ति भट्टारकों को आचार-परम्परा की एक प्रतिक्रिया थी । श्वेताम्बर तेरापंथ अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय है, किन्तु दिगम्बर तेरापंथ मूर्तिपूजक सम्प्रदाय है ।

इस पंथ की उत्पत्ति के सन्दर्भ में दो तथ्य उपलब्ध होते हैं, प्रथम यह कि १७वीं शताब्दी में इस पंथ को सांगानेर निवासी अमरचन्द ने प्रारम्भ किया था ।^३ दूसरा अभिमत यह है कि यह पंथ १५२८ ई० में पटना में अस्तित्व में आया था ।^४ दोनों अभिमतों से यह फलित होता है कि यह पंथ १६वीं-१७ वीं शताब्दी के लगभग अस्तित्व में आया था ।

आचार विषयक मान्यताओं को दृष्टि से देखें तो इनकी मान्यताएँ बीसपंथी वर्ग से सर्वथा भिन्न हैं । इस मत के अनुयायी मन्दिरों में मात्र तीर्थंकरों की मूर्तियाँ ही स्थापित करते हैं, क्षेत्रपालों एवं यक्ष-यक्षियों की नहीं । जैन धर्म में प्रतिपादित अहिंसा सिद्धान्त के प्रति सजग रहने के कारण इस पंथ के अनुयायी जिन-प्रतिमा का पूजन भी अचित्त द्रव्यों

१. उद्धृत-मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म, पृ० १२१

२. Jain Sects and schools, P. 137

३. मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म, पृ० १३०

४. Jain Sects and Schools, p. 137

११० : जैनधर्म के सम्प्रदाय

से ही करते हैं और उन्हें भी स्वतन्त्र चौकी पर चढ़ाते हैं। फल-फूलादि सचित्त द्रव्यों से प्रतिमापूजन करना इनके मत में निषिद्ध है।

७. साढ़े सोलह पन्थ अथवा टोटा पन्थ :

यह पन्थ बीस पन्थ और तेरापन्थ (दिगम्बर) की स्थापना के बाद कभी अस्तित्व में आया। बीसपन्थी और तेरापन्थी वर्ग के मध्य सचित्त और अचित्त द्रव्य पूजा का जो भेद था, संभवतः उस भेद को समाप्त कर इन दोनों पन्थों में एकता स्थापित करने हेतु ही इस नये पन्थ की उत्पत्ति हुई थी। इस पन्थ के अनुयायी बीसपन्थ की मान्यतानुसार भट्टारकों को गुरु मान्य करते हैं तथा तेरापन्थ (दिगम्बर) की मान्यतानुसार मात्र अचित्त द्रव्य से ही जिन-प्रतिमा की पूजा करते हैं।

८. तारण पन्थ :

जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में स्थानकवासी और तेरापन्थो-ये दोनों सम्प्रदाय अमूर्तिपूजक हैं, उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में तारण पन्थ अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय है। तारण पन्थ का एक अन्य नाम समैयापन्थ भी मिलता है। इस पन्थ के संस्थापक तारण स्वामी माने जाते हैं। तारण स्वामी का जन्म १४४८ ई० में और मृत्यु १५१५ ई० हुई थी। इस आधार पर यह मानना उपयुक्त होगा कि १५वीं शताब्दी के लगभग कभी इस पन्थ का प्रादुर्भाव हुआ है।

तारण स्वामी द्वारा लिखित १४ शास्त्रों को ही इनके अनुयायी आगम तुल्य मानते हैं और इन शास्त्रों की पूजा करना ही इस पन्थ का विधान है। इस पन्थ के अनुयायियों की एक विशेषता यह है कि ये चैत्यालयों में जिन-प्रतिमा के स्थान पर जिन वाणी (शास्त्र) की स्थापना करते हैं। शास्त्र की स्थापना एवं पूजा का ऐसा विधान जैन धर्म के तो किसी अन्य सम्प्रदाय में नहीं मिलता है, किन्तु सिक्ख धर्म में अवश्य मिलता है।

इस पन्थ के अनुयायियों का जातिगत भेद में कोई विश्वास नहीं था, यही कारण है कि इस पन्थ में नीच जाति (शूद्र) के लोगों और मुसलमानों तक को प्रवेश की अनुमति थी। स्वयं तारणस्वामी का एक शिष्य रूईरमण मुसलमान था।^१

९. गुमान पन्थ :

इस पन्थ के संस्थापक जयपुर निवासी पण्डित टोडरमल के पुत्र गुमानीराम माने जाते हैं। इस पन्थ के अस्तित्व में आने का उल्लेख १८वीं

शताब्दी का मिलता है। राजस्थान के कुछ भागों में ही अस्तित्व में रहा यह पंथ शुद्ध आम्नाय के नाम से भी जाना जाता है।

अहिंसा सिद्धान्त को सर्वोपरि मानते हुए इस पंथ के अनुयायी जैन मन्दिरों में बिजली, मोमबत्ती अथवा दीपक आदि भी जलाने का निषेध करते हैं।^१

१०. कानजी पन्थ :

कानजी स्वामी का जन्म काठियावाड़ के छोटे से ग्राम उमराला में वि० सं० १९४७ अर्थात् ई० सन् १८९० में हुआ था। आपका जन्म स्थान-कवासी जैन परिवार में हुआ था और उसी परम्परा में दीक्षित होकर आप मुनि बने थे, किन्तु बाद में आपने दिगम्बर सम्प्रदाय अपना लिया। यद्यपि कानजी स्वामी ने कानजी पन्थ नाम से किसी स्वतन्त्र सम्प्रदाय की स्थापना नहीं की थी, किन्तु उनकी आम्नाय का यह वर्ग आजकल कानजी पन्थ के नाम से ही जाना जाता है।

आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व, कर्म और आत्मा का सम्बन्ध तथा आत्मा का बंधन आदि कुछ ऐसे प्रश्न रहे हैं, जिनके उत्तरों के सम्बन्ध में सामान्य रूप से तो श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यता में एकरूपता ही है, किन्तु दिगम्बर परम्परा के महान् आचार्य कुन्दकुन्द ने इन सभी की निश्चयनय से जो व्याख्याएँ प्रस्तुत की थीं उन्हीं व्याख्याओं को आधार मानकर दिगम्बर परम्परा में निश्चयपंथ-कानजी पंथ अस्तित्व में आया है।

इस पंथ के अनुयायी भी दिगम्बर तेरापंथ की तरह प्रतिमापूजन केवल अचित्त द्रव्य से ही करते हैं तथा केवल जिनप्रतिमा की ही पूजा करते हैं, क्षेत्रपाल (भैरव) आदि के पूजन की परम्परा इस पंथ में भी नहीं है।

११. कविपन्थ :

श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों परम्पराओं के अनुसार इस पंथ को स्थापना काठियावाड़ प्रान्त में श्रीमद्राजचंद्र ने की थी। राजचन्द्र का जन्म कार्तिक पूर्णिमा संवत् १९२४ अर्थात् १८६७ ईस्वी में हुआ था। इनके पिता रावजीभाई और माता देवाबाई थीं। राजचंद्र कवि थे इसलिए उनका पंथ भी कविपन्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।^२

१. Jain sects and schools, P. 138

२. Ibid, P. 139

श्रीमद्राजचंद्र ने अपने समय में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के मध्य समन्वय का कार्य किया था। उनके अनुसार श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में तात्त्विक दृष्टि से कोई भिन्नता नहीं है, जो कुछ भिन्नता है वह वैचारिक दृष्टि से ही है। प्रारम्भ में राजचन्द्र प्रतिमापूजा के विरोधी थे परन्तु बाद में वे प्रतिमापूजा को मानने लगे थे।^१

इस पंथ में कोई साधु-साध्वियाँ नहीं हैं। “श्रीमद्राजचंद्र” की कृतियों को ही इसके अनुयायी आगम की तरह पूज्य मानते हैं। इस पंथ के अनुयायी बाह्य क्रियाओं को अधिक महत्त्व नहीं देते थे। किन्तु अब ये श्रीमद्राजचंद्र की प्रतिमा के पूजन को महत्त्व देने लगे हैं।

श्रीमद्राजचंद्र द्वारा रचित साहित्य—स्त्रीनीतिबोध, काव्यमाला, वचनसप्तशती, पुष्पमाला, मोक्षमाला, भावनाबोध, वचनमृत और आत्मसिद्धिशास्त्र आदि हैं।^२

श्रीमद्राजचंद्र का ३३ वर्ष की आयु में ही राजकोट में निधन हो गया। यद्यपि श्रीमद्राजचंद्र के जीवनकाल में उनके अनुयायियों की संख्या कम थी, किन्तु उनके देहावसान के पश्चात् इस पंथ के अनुयायियों की संख्या में भारी वृद्धि हुई।

दिगम्बर परम्परा के विविध सम्प्रदायों के उत्पत्ति स्थल एवं उत्पत्ति-काल की चर्चा हमने यहाँ की है, किन्तु पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में इन सम्प्रदायों की आचार्य परम्परा तथा श्रमणों एवं आर्यिकाओं का संख्यात्मक विवरण हम प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। यद्यपि श्री बाबूलाल जैन ने समग्र जैन चातुर्मास सूची वर्ष १९९१ में दिगम्बर परम्परा के विविध सम्प्रदायों के श्रमणों एवं आर्यिकाओं की संख्या क्रमशः २४५ एवं १७८ मानी है, किन्तु स्वयं श्री जैन भी इस संख्या को पूर्ण नहीं मान रहे हैं। उनका भी यही कहना है कि प्रयत्न करने पर भी दिगम्बर परम्परा के सभी आचार्यों एवं श्रमणों के बारे में पर्याप्त जानकारी नहीं मिल सकी है। दिगम्बर परम्परा में श्रमणों एवं आर्यिकाओं के अतिरिक्त अनेक क्षुल्लक, क्षुल्लिकाएँ, व्रती एवं ब्रह्मचारी भी हैं, किन्तु इनका भी संख्यात्मक विवरण अनुपलब्ध है।

१. शास्त्री, जगदीशचन्द्र—श्रीमद्राजचन्द्र, पूर्व पृ० २३-२४.

२. वही, पूर्व पृ० ३२-३६

यापनीय सम्प्रदाय के उपसम्प्रदाय :

वर्तमान समय में जैन परम्परा में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर—ये दो सम्प्रदाय ही प्रमुख सम्प्रदाय माने जाते हैं, किन्तु ५वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी के लगभग प्रभावशाली रहे यापनीय सम्प्रदाय का वर्तमान में कोई अस्तित्व नहीं है तथा ऐसी कोई विशेष साहित्यिक सामग्री भी उपलब्ध नहीं है जिससे इस सम्प्रदाय एवं इसके उपसम्प्रदायों की जानकारी ज्ञात हो सके। डॉ० सागरमल जैन ने यापनीय सम्प्रदाय, साहित्य, मान्यताएँ एवं उसके उपसम्प्रदायों का विस्तारपूर्वक उल्लेख अपनी पुस्तक “जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय” में किया है। हम मुख्य रूप से इसी पुस्तक को आधार बनाकर यापनीय सम्प्रदाय के उपसम्प्रदायों की संक्षिप्त जानकारी यहाँ दे रहे हैं।

१. कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण :

यद्यपि ऐसा एक भी अभिलेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं होता है जिसमें इस गण का उल्लेख यापनीय संघ के साथ हुआ हो। इस गण की उत्पत्ति कब, कहाँ एवं किसके द्वारा हुई तथा इनकी मान्यताएँ क्या थीं? इत्यादि जानकारियाँ अज्ञात हैं। इस गण का सर्वप्रथम उल्लेख ४८८ ई० के एक अभिलेख में मिलता है।^१ इस अभिलेख में कनकोपल आम्नाय के जिननन्दि को एक जैन मन्दिर हेतु गांव तथा कुछ जमीन देने का उल्लेख है। इस अभिलेख में इस गण के कुछ आचार्यों के नाम भी मिलते हैं, यथा—जिननन्दि, सिद्धनन्दि, चितकाचार्य, नागदेव आदि।

हम इस सम्प्रदाय को यापनीय सम्प्रदाय से सम्बन्धित कडब के उस अभिलेख के आधार पर मान रहे हैं जिसमें आचार्यों को जो सूची दी गई है उसमें कित्याचार्य अन्वय (चितकाचार्यान्वय) का भी उल्लेख है।^२ इन्हीं कित्याचार्य का नामोल्लेख इस गण के साथ मिलने से यह प्रतिफलित होता है कि यह गण यापनीय सम्प्रदाय से संबंधित रहा है।

लगभग ५वीं शताब्दी में अस्तित्व में आया यह गण कितने समय तक अस्तित्व में बना रहा तथा कालान्तर में कब लुप्त हो गया? पर्याप्त साक्ष्यों के अभाव में इस सन्दर्भ में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

२. श्रीमूलमूलगण :

ऐसा कोई अभिलेख अथवा साहित्य हमें उपलब्ध नहीं हुआ है जिसमें

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक १०६

२. वही, क्रमांक १२४

११४ : जैनधर्म के सम्प्रदाय

इस गण का उल्लेख यापनीय सम्प्रदाय के साथ हुआ हो। इस गण की उत्पत्ति संबंधी भी कोई जानकारी ज्ञात नहीं है। देवरहल्लि (देवालपुर) में पटेल कृष्णय्य के ताम्रपत्रों पर लिखित ७७६ ई० के एक लेख में श्रीमूलमूलगण का उल्लेख मिलता है।^१ इस लेख से यह भी ज्ञात होता है कि इस गण में एरेगित्तरगण और पुलिकल गच्छ भी था। इस लेख में इस गण की आचार्य परम्परा इस प्रकार उल्लिखित है—चन्द्रनन्दी, कीर्तिनन्दी और विमलनन्दी।

प्रो० गुलाबचन्द्र चौधरी की यह मान्यता है कि यापनीय संघ कई गणों में विभक्त था, इनमें कनकोपलसम्भूतवृक्षमूलगण, श्रीमूलमूलगण तथा पुन्नागवृक्षमूलगण आदि प्रमुख थे।^२ इस गण की उत्पत्ति एवं मान्यता संबंधी विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है।

३. पुन्नागवृक्षमूलगण :

यापनीय सम्प्रदाय के विविध गणों में सर्वाधिक समय तक अस्तित्व में रहने वाले इस गण का प्राचीनतम उल्लेख ८१२ ई० के एक अभिलेख में हुआ है। कडब के इस अभिलेख में इस गण के आचार्यों की परम्परा इस प्रकार उल्लिखित है—श्री कित्याचार्य, श्री कुविलाचार्य, श्री विजयकीर्ति और श्री अर्ककीर्ति। इस अभिलेख को विशेषता यह है कि इसमें यापनीय संघ के पुन्नागवृक्षमूलगण तथा कित्याचार्य अन्वय का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।^३ इसके अतिरिक्त १०२० ई०, १०२८ ई०, ११०८ ई० तथा ११५५ ई० के चार अन्य अभिलेखों में इस गण के आचार्यों एवं आर्थिकाओं के नाम भी उल्लिखित हैं।^४

इस गण का उल्लेख करने वाला अन्तिम अभिलेख १३९४ ई० का

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक १२१
२. उद्धृत—जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पृ० ३४
३. “श्री यापनीयनन्दीसंघपुन्नागवृक्षमूलगणे श्री कित्याचार्यअन्वये”
—जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक १२४
४. (क) Journal of Bombay Historical Society, Vol. 3, p. 120
उद्धृत—अनेकान्त, वर्ष २८, किरण १, पृ० २४८
(ख) साउथ इण्डियन इस्क्रिप्शन्स, खण्ड १२, नं० ६५, मद्रास १९४०
(ग) जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक २५०
(घ) वही, भाग ४, क्रमांक २६०

उपलब्ध हुआ है।^१ इसमें इस गण के नेमिचन्द्र, धर्मकीर्ति और नागचन्द्र आदि आचार्यों के नामोल्लेख मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ९वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक लगभग ६०० वर्षों की दीर्घ अवधि तक यापनीय सम्प्रदाय का यह गण अस्तित्व में रहा, किन्तु इतनी लम्बी अवधि तक अस्तित्व में रहकर भी इस गण के अनुयायियों का ऐसा कोई अभिलेखीय अथवा साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, जिससे इस गण की उत्पत्ति एवं मान्यता सम्बन्धी विशेष जानकारी ज्ञात हो सके।

४. कोरयगण :

इस गण का प्राचीनतम अभिलेख ८७५ ई० का उपलब्ध होता है।^२ ११वीं शताब्दी के कल्भावो के एक अभिलेख में कोरयगण का उल्लेख मैलापान्वय के साथ मिलता है।^३ मैलापान्वय यापनीय सम्प्रदाय का प्रमुख अन्वय माना जाता है। बइलहोंगल के एक अभिलेख में यापनीय संघ का मैलापान्वय के कोरयगण तथा उसके मुल्ल भट्टारक और जिनेश्वरसूरि का वर्णन है।^४ १३वीं शताब्दी के निम्न तीन अन्य अभिलेखों में भी इस गण का नामोल्लेख यापनीय संघ के मैलापान्वय के साथ हुआ है—

[क] हन्नकेरि का अभिलेख (१२०९ ई०)

[ख] बदली (बेलगाँव) का अभिलेख (१२१९ ई०)

[ग] हन्नेकेरि का अभिलेख (१२५७ ई०)

इन अभिलेखों में इस गण के निम्न आचार्यों के नाम भी उल्लेखित हैं—भट्टारक माधव, विजदेव, भट्टारककीर्ति, कनकप्रभ और श्रीधरत्रैविध-देव आदि।

इस प्रकार अभिलेखीय साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि यह गण लगभग ४०० वर्षों तक अस्तित्व में बना रहा।

१. जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पृ० ३७
२. वही, पृ० ४०
३. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक १८२
४. वही, भाग ४, क्रमांक २०९
५. जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पृ० ४०

५. कोटिमडुवगण :

९४५ ई० के एक अभिलेख में यापनीयसंघ, कोटिमडुवगण, अर्हन्नन्दी गच्छ के मन्दिर एवं देव आदि का उल्लेख मिलता है।^१ इस अभिलेख में यापनीय संघ के साथ इस गण का नामोल्लेख होने से ज्ञात होता कि यह गण यापनीय सम्प्रदाय से संबंधित रहा है। प्रो० पी० बी० देसाई ने ११२४ ई० के सेडम के एक अभिलेख के आधार पर मडुवगण के प्रभाचन्द्र त्रैविध का उल्लेख किया है।^२

उपलब्ध अभिलेखीय साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि यह गण १०वीं से १२वीं शताब्दी तक लगभग २०० वर्षों तक अस्तित्व में रहा है। इस गण से संबंधित विस्तृत जानकारी अनुपलब्ध है।

६. कण्डूर/काणूरगण :

कण्डूरगण अथवा काणूरगण यापनीय सम्प्रदाय का एक महत्वपूर्ण गण रहा है। इस गण का सर्वप्रथम उल्लेख ९८० ई० के सौदत्ति के अभिलेख में मिलता है।^३ इस अभिलेख में इस गण के साथ यापनीय संघ का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि यह गण यापनीय सम्प्रदाय से संबंधित रहा है। इस अभिलेख में इस गण के आचार्यों के नाम इस प्रकार उल्लिखित हैं—बाहुबलिदेव, रविचन्द्रस्वामो, अर्हन्नन्दो, शुभचन्द्र और प्रभाचन्द्रदेव।

११वीं से १३वीं शताब्दी के तीन अभिलेख और उपलब्ध होते हैं जिनमें इस गण का नामोल्लेख यापनीय संघ के साथ हुआ है।^४ कुछ अभिलेखों में इस गण का उल्लेख मूलसंघ के साथ भी हुआ है इससे एक संभावना यह लगती है कि यह गण दिगम्बर परम्परा से संबंधित रहा होगा तथा दूसरी संभावना यह लगती है कि प्रारम्भ में यह गण यापनीय परम्परा से संबंधित रहा होगा किन्तु कालान्तर में जब यापनीय संघ धीरे-धीरे समाप्त होने लगा और उसके गण दिगम्बर सम्प्रदाय में विलीन होने लगे तो यह गण दिगम्बर सम्प्रदाय द्वारा आत्मसात कर लिया गया

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक १४३

२. *Jainism in South India*, P. 403

३. जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, क्रमांक १६०

४. (क) वही, भाग २, क्रमांक २०५, २०७

(ख) वही, भाग ४, क्रमांक ३६८

हो। संभावनाएँ दोनों हो सकती हैं, किसी ठोस निर्णय के अभाव में हम इस गण को दिगम्बर परम्परा के मूलसंघ और यापनीय संघ दोनों से संबंधित मान रहे हैं।

७. बन्धियूरगण :

यह गण संभवतः एक शताब्दी तक ही अस्तित्व में रहा है क्योंकि इस गण का उल्लेख करने वाले उपलब्ध तीनों ही अभिलेख ११वीं-१२वीं शताब्दी के हैं।^१ इन अभिलेखों में महावीर पण्डित, नागदेव सैद्धान्तिक के शिष्य ब्रह्मदेव, महामुनि गुणचन्द्र आदि नाम उल्लेखित हैं, जो संभवतः इस गण के ही आचार्य रहे होंगे। अनेक गणों को तरह इस गण के सन्दर्भ में भी कोई विशेष जानकारी ज्ञात नहीं होती है।

उपरोक्त गणों के अलावा कुछ गण ऐसे भी हैं जिनके साथ यापनीय संघ का उल्लेख नहीं होते हुए भी विद्वानों ने उन्हें यापनीय संघ के ही गण माने हैं। प्रो० गुलाबचन्द चौधरी ने बल्हारीगण और उसके अड्डकलि-गच्छ को भी यापनीय सम्प्रदाय से संबंधित माना है।^२

कूर्चक संघ :

मृगेशवर्मा के अभिलेख में सर्वप्रथम यापनीय संघ, निर्ग्रन्थ संघ, कूर्चक संघ और श्वेतपट्ट महाश्रमण संघ—इन चार संघों के नाम उपलब्ध होते हैं।^३ देवगिरि^४ और हल्सी^५ के अभिलेखों में इस संघ का उल्लेख हुआ है। यद्यपि इन अभिलेखों के माध्यम से इस संघ से संबंधित कोई विशेष जानकारी ज्ञात नहीं होती है तथापि यह तो स्पष्ट होता ही है कि निर्ग्रन्थ, यापनीय और कूर्चक—ये अलग-अलग सम्प्रदाय थे। एक अन्य अभिलेख में कूर्चक संघ के अन्तर्गत वारिषेण आचार्य के संघ का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।^६

श्वेताम्बर आगम साहित्य में कूर्चकों का उल्लेख तापस परम्परा के साधुओं की चर्चा के प्रसंग में हुआ है। आगमिक व्याख्या साहित्य में स्पष्ट

१. जैन शिलालेख संग्रह, भाग ५, क्रमांक ७०, १२५, ८६

२. वही, भाग ३, भूमिका पृ० ३०

३. वही, भाग २, क्रमांक ९६

४. वही, भाग २, क्रमांक ९८

५. वही, भाग २, क्रमांक ९९

६. वही, भाग २, क्रमांक १०२

कहा है—निर्ग्रन्थ श्रमण-श्रमणियों को कूर्चकों के साथ किसी भी प्रकार के वस्त्रादि के लेन-देन का सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए ।^१

इस संघ के कूर्चक नाम को लेकर विद्वानों में मतभेद है । पं० नाथुराम-जी प्रेमी को मान्यता है कि जैन साधुओं का कोई ऐसा वर्ग रहा होगा जो दाढ़ी-मूँछ आदि रखता होगा । इसी कारण वह वर्ग कूर्चक संघ कहलाया होगा । किन्तु प्रो० सागरमल जैन प्रेमीजी के इस मन्तव्य से सहमत नहीं है । इस सम्बन्ध में प्रो० जैन का कहना है कि प्रेमी जी के निष्कर्ष से सहमत होने में कठिनाई आती है, क्योंकि केशलोच जैन श्रमण संघ का एक अपरिहार्य नियम रहा है और उस नियम को भंग करके जैन श्रमणों का कोई वर्ग दाढ़ी-मूँछ रखने लगा हो, यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता । प्रो० जैन के अनुसार कूर्चक संघ का नामकरण विशिष्ट प्रकार का रजोहरण (कूर्चि) रखने के आधार पर हुआ होगा ।^३ इस संघ के नामकरण को लेकर विद्वानों के विविध मतों को देखते हुए निष्कर्ष रूप में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, किन्तु हमें प्रो० जैन का कथन इसलिए उचित प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में श्रमणों द्वारा धारण की जाने वाली पिच्छी/रजोहरण के स्वरूप एवं प्रकार के आधार पर ही गोपिच्छिक एवं निष्पिच्छिक संघों का भी नामकरण हुआ है । इसलिए संभवतः (कूर्चि) रजोहरण रखने के कारण ही श्रमणों के एक वर्ग का नाम कूर्चक संघ पड़ा होगा ।

जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्धित इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि वी० नि० सं० ६०६ अथवा ६०९ में जैन धर्म श्वेताम्बर और दिग्म्बर इन दो परम्पराओं में स्पष्ट रूप से विभाजित हो गया था । तत्पश्चात् पांचवीं शताब्दी के लगभग जैन धर्म में यापनीय सम्प्रदाय का उद्भव हुआ, जिसने श्वेताम्बर और दिग्म्बर सम्प्रदाय के मध्य समन्वय का प्रयास किया था ।

१. “कावलिए य भिक्खू सुइवादी कुच्चिए अवेसत्थी वाणियग तरूण संसट्ठ मेहुणे मोहए चेव ।”

—बृहत्कल्पसूत्र—लघुभाष्य, २८२३,

उद्धृत—जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पृ० ४८-४९

२. प्रेमी, नाथुराम—जैन साहित्य और इतिहास,

द्वितीय संस्करण, पृ० ५५८-५६२

३. जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय, पृ० ४८-५४

श्वेताम्बर परम्परा में ई० सन् १५४ से मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के विविध गच्छों के अभिलेख मिलते हैं, इससे प्रतिफलित होता है कि उसके पूर्व भी मूर्तिपूजक सम्प्रदाय अस्तित्व में था। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में अधिकांश गच्छों के सन्दर्भ में अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। कुछ गच्छों का तो उत्पत्ति स्थल एवं उत्पत्ति समय भी ज्ञात नहीं होता है उन गच्छों के सन्दर्भ में यह मानना उपयुक्त होगा कि उनकी उत्पत्ति उस शताब्दी के आसपास हुई होगी जिस शताब्दी के प्रतिमालेखों में उन गच्छों का उल्लेख हुआ है। साहित्यिक साक्ष्यों के अभाव में यह ज्ञात करना मुश्किल है कि उनको विशिष्ट मान्यताएँ क्या थीं ?

श्वेताम्बर परम्परा में अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय का उद्भव १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लोकागच्छ के रूप में हुआ। लोकागच्छ से १७वीं शताब्दी में स्थानकवासी सम्प्रदाय विकसित हुआ और स्थानकवासी सम्प्रदाय से ही १८वीं शताब्दी में आचार्य भिक्षु के द्वारा तेरापंथ सम्प्रदाय की स्थापना हुई है।

दिगम्बर परंपरा में यह मान्यता है कि आचार्य अर्हद्बलि ने सर्वप्रथम दिगम्बर परंपरा को सेन, नन्दि, देव और सिंह ऐसे चार वर्गों में विभाजित किया था और यह निर्देश दिया था कि प्रत्येक परंपरा अपने आचार्य के नामान्त में इन शब्दों का प्रयोग करें। कुछ समय तक ये संघ चलें, किन्तु कालान्तर में इनमें गण और अन्वय भेद होते गये। इसको चर्चा हम पूर्व में कर चुके हैं। आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् सामान्यतया ऐसी परम्परा विकसित हुई जिससे प्रत्येक गण अपने को मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय से जोड़ने लगा। यही कारण है कि वर्तमान में प्रायः सभी दिगम्बर मुनि अपने को मूलसंघ और कुन्दकुन्दान्वय का कहते हैं। दिगम्बर परम्परा में द्राविड़संघ, काष्ठासंघ और माथुरसंघ आदि अनेक सम्प्रदायों का अब कोई अस्तित्व नहीं है।

यापनोय सम्प्रदाय यद्यपि कुछ समय पूर्व तक जनसामान्य एवं विद्वानों के लिए अपरिचित था किन्तु विगत कुछ वर्षों से इस सम्प्रदाय के सन्दर्भ में जो जानकारी उपलब्ध हुई है उस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पांचवीं शताब्दी से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य तक यह सम्प्रदाय अस्तित्व में रहा है क्योंकि इसी अवधि के अभिलेखों में इस सम्प्रदाय का उल्लेख हुआ है। इस अवधि के पश्चात् इस सम्प्रदाय से संबंधित अभि-

लेखीय एवं साहित्यिक साक्ष्यों की अनुपलब्धता के कारण यह मानना उचित प्रतीत होता है कि १५वीं शताब्दी के पश्चात् इस सम्प्रदाय के अनुयायो अन्य सम्प्रदायों में समाहित हो गये होंगे ।

प्रस्तुत अध्याय में हमने जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों और उप-सम्प्रदायों की ऐतिहासिक दृष्टि से चर्चा की है । किन्तु इन सम्प्रदायों और उपसंप्रदायों के अस्तित्व में आने के मूलभूत कारण क्या थे और दार्शनिक सिद्धान्तों अथवा आचार संबंधो प्रश्नों को लेकर इन सम्प्रदायों के मन्तव्य क्या थे ? इनकी चर्चा हमने यहाँ नहीं की है । अगले अध्यायों में हम इन सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों को दार्शनिक एवं आचार संबंधी विशिष्ट मान्यताओं का उल्लेख करेंगे ।



चतुर्थ अध्याय

विभिन्न सम्प्रदायों की दर्शन संबंधी मान्यताएँ

दर्शन शब्द का अर्थ :

दर्शन शब्द “दृश” (देखना) धातु से करण अर्थ में “ल्युट” प्रत्यय लगाकर बना है। इसका अर्थ है—जिसके द्वारा देखा जाए। इस प्रकार जिसके द्वारा जीवन एवं जगत् के यथार्थ स्वरूप को जानने एवं समझने का प्रयत्न किया जाता है, वह दर्शन है।

“दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्” या “दृश्यते ज्ञायतेऽनेनेति दर्शनमित्युच्यमाने” अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए, जाना जाए, उसे दर्शन कहते हैं। यह दर्शन की अनुभूति सापेक्ष परिभाषा है। दर्शन का सीधा और सरल अर्थ है—साक्षात्कार करना अर्थात् वस्तु स्वरूप का बोध करना। जैन विचारकों के अनुसार दर्शन वस्तुस्वरूप को चिन्तन निरपेक्ष अनुभूति है। दूसरे शब्दों में वह सत्यानुभूति या सत्य का साक्षात्कार है।

अपने इस अर्थ में ‘दर्शन’ में विरोध, विवाद एवं मतभेद का कोई स्थान नहीं है किन्तु जब दर्शन दृष्टिकोण बन जाता है तथा मत या सम्प्रदाय का रूप धारण कर लेता है तो उसमें विरोध दिखाई देता है।

जैन परम्परा में दर्शन शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है। आचारांगसूत्र जैसे अति प्रचीन ग्रन्थ में दर्शन शब्द सामान्यतया अनुभूति या अपरोक्षानुभूति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ ऐन्द्रिक अनुभूतियों अथवा आत्मानुभूति को दर्शन कहा गया है। जैन कर्मसिद्धांत में दर्शन शब्द का प्रयोग आज भी अनुभूति के अर्थ में ही किया जाता है। किन्तु आगे चलकर जैन परम्परा में दर्शन शब्द का यह प्राचीन अर्थ उपेक्षित होता गया और दृष्टि (दिट्ठी) या दृष्टिकोण (View point) बन गया। दृष्टि का तात्पर्य जीवन और जगत् के सम्बन्ध में व्यक्ति के दृष्टिकोण से माना गया है।

१. षड्दर्शनसमुच्चयः हरिभद्रसूरि, पृ० २।१८,

उद्धृत-जैनेन्द्रसिद्धांतकोश, भाग २, पृ० ४०५-४०६

वर्तमान में जब हम दर्शन शब्द को फिलॉसफी (Philosophy) के अर्थ में लेते हैं तो वहाँ वह दृष्टि का ही पर्यायवाची है, क्योंकि जीवन और जगत के सम्बन्ध में व्यक्ति के दृष्टिकोण को ही दर्शन कहा जाता है। प्रस्तुत अध्याय में हम दर्शन शब्द का प्रयोग इसी सीमित अर्थ में कर रहे हैं और केवल तत्त्वमीमांसा संबंधी चर्चाओं को ही इसके अन्तर्गत ले रहे हैं। ज्ञातव्य है कि आगे चलकर जैन आचार शास्त्र में दर्शन शब्द श्रद्धा या आस्था हो गया है। सम्यग्दर्शन में दर्शन शब्द श्रद्धा परक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि ज्ञान के द्वारा तत्त्व को जानें और दर्शन के द्वारा उस पर श्रद्धा करें।^१ इस प्रकार परवर्ती जैन साहित्य में दर्शन शब्द सम्यक्-दर्शन के रूप में श्रद्धा या भक्ति का पर्यायवाची बन गया और यह माना जाने लगा कि देवगुरु और धर्म के प्रति सम्यक् श्रद्धा होना ही सम्यक्-दर्शन है।^२ इस अर्थ में दर्शन शब्द तत्त्व ज्ञान का विषय नहीं होकर साधना या आचार का विषय बन गया। प्रस्तुत अध्याय में हमने इसके साधनागत अथवा श्रद्धागत स्वरूप को नहीं, अपितु तत्त्व-मीमांसीय अर्थ को ही ग्रहण किया है। यहाँ हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की तत्त्वमीमांसीय अवधारणाएँ क्या हैं?

तत्त्व की संख्या का प्रश्न :

जैन दर्शन में मूलतः दो ही तत्त्व माने गए हैं—१. जीव तत्त्व और २. अजीव तत्त्व।^३ किन्तु जीव और अजीव तत्त्व के सम्बन्ध को लेकर उनसे जो भिन्न अवस्थाएँ बनती हैं, उस दृष्टि से विचार करने पर कुछ जैन आचार्यों ने नौ तत्त्वों का प्रतिपादन किया।^४ उत्तराध्ययन आदि श्वेताम्बर परम्परा मान्य ग्रन्थों में नौ तत्त्वों का ही उल्लेख मिलता है। किन्तु उमास्वाति से प्रारम्भ करके परवर्ती जैन आचार्यों विशेष रूप से

१. "नाणेण जाणई भावे दंसणेण य सद्दहे।"—उत्तराध्ययनसूत्र, २८।३५

२. सामायिकसूत्र—सम्यक्त्व पाठ

३. (क) स्थानांगसूत्र, २।१

(ख) प्रवचनसार, २।३५

४. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, २८।१४,

(ख) मूलाचार, भाषा २०३

(ग) समयसार, भाषा १३

(घ) पञ्चमहासूत्र, भाषा १०८

दिगम्बर जैन आचार्यों ने सात तत्त्वों का प्रतिपादन किया है।^१ नौ तत्त्व निम्न रूप से प्रतिपादित किये गये हैं—

१. जीव तत्त्व—चेतन सत्ता जीव तत्त्व है।

२. अजीव तत्त्व—जड़ सत्ता या भौतिक तत्त्व (इसमें कर्म पुद्गल भी समाविष्ट हैं) अजीव तत्त्व है।

३. आस्रव तत्त्व—जीव की शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं के परिणामस्वरूप कर्म वर्गणाओं के पुद्गलों का आत्मा को ओर आना आस्रव तत्त्व है।

४. संवर तत्त्व—जीव के मन, वचन और काया की क्रियाओं के संयमन अथवा निरोध से कर्म वर्गणाओं के पुद्गलों का आत्मा की ओर आना रुक जाना संवर है।

५. निर्जरा तत्त्व—कर्मवर्गणा के पुद्गलों का आत्मा से अलग होना निर्जरा है। जब कर्मवर्गणा के पुद्गल अपना फल देकर आत्मा से अलग होते हैं तो वह प्रक्रिया सविपाक निर्जरा कहलाती है, किन्तु जब तप आदि के माध्यम से कर्मवर्गणा के पुद्गल अपने स्वाभाविक विपाक के पूर्व ही आत्मा से विलग कर दिए जाते हैं तो वह अवस्था अविपाक निर्जरा कहलाती है।

६. पुण्य तत्त्व—जीव की वे क्रियाएँ जो प्रशस्त होती हैं और जिनके कारण प्रशस्त कर्मवर्गणाओं का आस्रव या बन्ध होता है तथा जो अपने विपाक में सुख प्रदान करती हैं, वे पुण्य कही जाती हैं।

७. पाप तत्त्व—जीव की वे क्रियाएँ जो अप्रशस्त कर्मवर्गणाओं के पुद्गलों का आस्रव करती हैं तथा जिनके कारण अशुभ कर्म का बन्ध होता है और जिसका परिणाम भी दुःखद होता है, वे पाप कही जाती हैं।

८. बन्ध तत्त्व—आत्मा का कर्मवर्गणाओं से संश्लिष्ट होना ही बन्ध है। बन्ध हमारे सांसारिक अस्तित्व का मूलभूत कारण है।

९. मोक्ष तत्त्व—समस्त कर्ममल निर्जरित हो जाने पर आत्मा को जो शुद्ध-स्वाभाविक दशा होती है, वही मोक्ष है।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य प्राचीन आगम साहित्य में सामान्य रूप से नौ तत्त्वों का ही उल्लेख पाया जाता है। इसके विपरोत दिगम्बर-

परम्परा द्वारा मान्य प्राचीन ग्रन्थों में सात तत्त्वों की चर्चा हो प्रमुख रही है। तत्त्वार्थसूत्र की श्वेताम्बर टीकाओं को छोड़कर प्रायः सभी श्वेताम्बर आचार्यों ने पुण्य-पाप को स्वतन्त्र गणना करते हुए नौ तत्त्व ही माने हैं। इसके विपरीत तत्त्वार्थसूत्र का अनुसरण करते हुए प्रायः सभी दिगम्बर आचार्यों ने पुण्य और पाप को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं माना है और उनका अन्तर्भाव आस्रव तत्त्व में ही करके उन्होंने सात तत्त्वों का ही प्रतिपादन किया है। यद्यपि प्राचीन आगमों के अनुसरण के कारण कुन्दकुन्दप्रभृति कुछ आचार्यों ने नौ तत्त्वों का उल्लेख किया है। सामान्य रूप से हम कह सकते हैं कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा नौ तत्त्व मानती है, वहीं दिगम्बर परम्परा सात तत्त्व मानती है। यह एक सामान्य कथन है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि दिगम्बर परम्परा नौ तत्त्वों की अवधारणा की तथा श्वेताम्बर परम्परा सात तत्त्वों की अवधारणा को पूर्णतः विरोधी है। क्योंकि जो आचार्य सात तत्त्व मानते हैं वे भी आस्रव के भेद के रूप में पुण्य और पाप को तो मानते ही हैं।

एक ओर तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्य को स्वीकार करने के कारण जहाँ तत्त्वार्थसूत्र के श्वेताम्बर टीकाकारों ने सात तत्त्वों का भी उल्लेख किया है वहीं दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में यापनीयों के माध्यम से आगमों के अनुसरण के कारण कहीं-कहीं नौ तत्त्वों का उल्लेख भी हुआ है।

तत्त्वों की सात और नौ की संख्या का यह मतभेद तो अपनी जगह है ही, किन्तु हमारे लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि सात और नौ तत्त्वों की मान्यता के इस अन्तर की दार्शनिक समस्या क्या है? यह सत्य है कि पुण्य और पाप दोनों ही आस्रव रूप हैं, इसीलिए उनको आस्रव से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व मानना आवश्यक नहीं है, संभवतः इसी कारण दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने पुण्य और पाप को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानकर उनका अन्तर्भाव आस्रव में ही किया है और इस प्रकार उन्होंने सात तत्त्वों की अवधारणा को स्वीकारा है। इसके विपरीत नौ तत्त्वों को मानने वाली श्वेताम्बर परम्परा का कहना यह है कि पुण्य और पाप केवल आस्रव नहीं हैं, उनका बन्ध भी होता है और विपाक भी। यदि हम आस्रव में पुण्य-आस्रव और पाप-आस्रव ऐसे दो विभाग करते हैं तो फिर हमें बन्ध में भी पुण्य-बन्ध और पाप-बन्ध ऐसे दो विभाग करने होंगे। इसी प्रकार विपाक में भी पुण्य-विपाक और पाप-विपाक के भेद

करने होंगे। इसी समस्या को दृष्टिगत रखते हुए हम कह सकते हैं कि सात तत्त्वों की अपेक्षा नौ तत्त्वों की अवधारणा अधिक बुद्धिगम्य है किन्तु दूसरी ओर समस्या यह है कि यदि पुण्य-पाप आस्रव, बन्ध और निर्जरा रूप ही हैं तो फिर उन्हें स्वतन्त्र तत्त्व मानने की क्या आवश्यकता है ?

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सात तत्त्वों की अवधारणा और नौ तत्त्वों की अवधारणा में आत्यान्तिक विरोध तो नहीं है फिर भी मान्यता भेद तो अपनी जगह है। हम पूर्व में भी यह स्पष्ट कह चुके हैं कि न तो श्वेताम्बर परम्परा को सात तत्त्व मानने में कोई आपत्ति है और न ही दिगम्बर परम्परा का नौ तत्त्व मानने में कोई विरोध है। फिर भी तत्त्व की संख्या को लेकर दोनों परम्पराओं की अपनी-अपनी विशेषता तो है। पुनः यदि पुण्य और पाप को स्वतन्त्र तत्त्व मानने में किसी को आपत्ति है तो उसका प्रत्युत्तर यह है कि फिर तो जीव और अजीव ये दो ही तत्त्व मानने चाहिए, क्योंकि शेष पांच तत्त्व भी जीव-अजीव के संबंधों के ही सूचक हैं, उनकी भी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अतः पाप-पुण्य को स्वतन्त्र तत्त्व मानना भी अयुक्तिसंगत नहीं है।

काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने का प्रश्न :

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल—इन षडद्रव्यों की अवधारणा को लेकर सामान्य रूप से तो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में कोई विशेष मतभेद नहीं है किन्तु जहाँ दिगम्बर परम्परा काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानती है वहीं श्वेताम्बर परम्परा में कुछ प्राचीन आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानते थे। यही कारण है कि काल के सन्दर्भ में तत्त्वार्थसूत्र में जो सूत्र मिलता है वह श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा में किंचित भिन्न है। श्वेताम्बर परंपरा द्वारा मान्य तत्त्वार्थ-सूत्र में “कालश्चेत्येके” सूत्र है।^१ जबकि दिगम्बर परंपरा के सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में यह सूत्र “कालश्च” है।^२ सूत्रों की इस भिन्नता के कारण दोनों परंपराओं का मतभेद स्पष्ट रूप से सामने आ जाता है। श्वेताम्बर परंपरा मान्य पाठ का तात्पर्य है कि कुछ लोग काल को भी एक द्रव्य मानते हैं, जबकि दिगम्बर परंपरा मान्य पाठ का तात्पर्य है कि काल भी स्वतन्त्र द्रव्य है। वस्तुतः श्वेताम्बर परंपरा काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने के सन्दर्भ में दो प्रकार के मतों का उल्लेख करती है। इसके कुछ आचार्यों-

१. तत्त्वार्थसूत्र, ५।३८

२. सर्वार्थसिद्धि, ५।३८

ने काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना है और कुछ ने नहीं माना है। इसके विपरीत दिग्म्बर परम्परा के सभी आचार्यों ने एकमत से यह स्वीकार किया है कि काल भी एक स्वतन्त्र द्रव्य है।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य प्रज्ञापनासूत्र में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि जीव और पुद्गल की पर्यायों से पृथक् काल का कोई अस्तित्व नहीं है, जीव और पुद्गल की पर्यायों ही काल की अवधारणा का आधार है।^१ यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि श्वेताम्बर परंपरा में भी एक वर्ग तो ऐसा अवश्य था जो काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानता था। ऋषिभाषित नामक ग्रन्थ के पार्श्व अध्ययन में जगत की व्याख्या करते हुए केवल पंच-अस्तिकायों का ही उल्लेख हुआ है^२ वहाँ काल की कोई चर्चा नहीं हुई है। संभावना यह है कि जो पार्श्वपत्य श्रमण महावीर की परंपरा में सम्मिलित हो गए होंगे उन्होंने अपनी पूर्व परंपरा के अनुसार पंच-अस्तिकायों को ही माना होगा, काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में उन्होंने स्वीकार नहीं किया हो, किन्तु परवर्तीकाल में जब काल को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में मान्यता मिली तो उसे अस्तिकाय के रूप में स्वीकार नहीं करके अनस्तिकाय के रूप में ही स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार न केवल तत्त्वों की संख्या को लेकर ही श्वेताम्बर और दिग्म्बर परंपरा में मतभेद है, वरन् काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने के सन्दर्भ में भी उनमें मतभेद था। यह बात भिन्न है कि कुछ श्वेताम्बर आचार्य भी दिग्म्बर आचार्यों की तरह काल को स्वतन्त्र द्रव्य मान रहे थे। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान में श्वेताम्बर परंपरा में ऐसी कोई परंपरा अवशिष्ट नहीं रही है, जो अब काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानती हो, किन्तु आगमिक आधारों के अनुसार प्राचीन काल में तो यह अन्तर था ही। जो आचार्य काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मान रहे थे उनके अनुसार द्रव्य की संख्या में भी अन्तर आ जाता है। वे केवल पाँच द्रव्यों को ही मानते थे, किन्तु आज दोनों ही परंपराओं में सामान्यतः षडद्रव्यों की अवधारणा को ही स्वीकारा गया है।

पुद्गल के बन्ध के नियम संबंधी मतभेद :

श्वेताम्बर और दिग्म्बर दोनों परंपराएँ पुद्गल को एक स्वतंत्र द्रव्य

१. प्रज्ञापनासूत्र, तीसरा पद
२. इतिभासियाह, अध्ययन ३१

मानती है। दोनों परंपराएँ इस सन्दर्भ में भी एकमत हैं कि पुद्गल द्रव्य अणु और स्कन्ध ऐसे दो रूपों में पाया जाता है तथा अणु ही पुद्गल की अन्तिम इकाई है। स्कन्धों का निर्माण या तो अणुओं के परस्पर संगठित होने से होता है या फिर बड़े स्कन्धों के टूटने से छोटे स्कन्धों का निर्माण होता है। जहाँ तक अणुओं के संगठित होकर स्कन्ध बनने का प्रश्न है, वहाँ दोनों परंपराओं में मतभेद पाया जाता है। दोनों परंपराएँ इस तथ्य को तो समान रूप से स्वीकार करती हैं कि पुद्गलों के स्निग्ध और रूक्ष ऐसे दो रूप पाये जाते हैं। फलतः यह माना गया कि स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं से बन्ध होता है अर्थात् स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं के संगठित होने से स्कन्ध का निर्माण होता है। इसी क्रम में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि क्या स्निग्ध और रूक्ष परमाणु ही आपस में संगठित होकर स्कन्ध का निर्माण करेंगे अथवा स्निग्ध-स्निग्ध और रूक्ष-रूक्ष परमाणु मिलकर भी स्कन्ध का निर्माण कर सकते हैं? इसी समस्या को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा के आचार्यों में मतभेद पाया जाता है। इसी प्रसंग में यह प्रश्न भी चर्चित हुआ कि क्या समान गुण वाले स्निग्ध और रूक्ष परमाणु अथवा रूक्ष-रूक्ष परमाणु बंध सकते हैं? यदि समान गुण वाले परमाणु बंध कर सकते हैं तो क्या उनमें भी मात्रा का कोई अन्तर होता है? इन सभी प्रश्नों को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा में अन्तर देखा जा सकता है। इस मतभेद की चर्चा पं० सुखलालजी संघवी ने भी अपने तत्त्वार्थसूत्र की व्याख्या में विस्तारपूर्वक की है।^१

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं द्वारा मान्य तत्त्वार्थसूत्र में पौद्गलिक बन्ध के तीन सूत्र उल्लिखित हैं—

“न जघन्यगुणानाम् ।

गुणसाम्ये सदृशानाम् ।

द्वयधिकादिगुणानां तु ।”

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में इन तीन सूत्रों में पाठभेद तो नहीं है, किन्तु अर्थभेद है। अर्थभेद की दृष्टि से तीन मुद्दे सामने आते हैं—

१. जघन्यगुण वाले अर्थात् एक अंश (degree) वाले परमाणुओं का परस्पर बन्ध होना या नहीं ?

१. तत्त्वार्थसूत्र, पृ० १३८-१४३

२. तत्त्वार्थसूत्र, ५।३३-३५

२. सूत्र में उल्लिखित "आदि" शब्द से तीन आदि गुण अर्थ लिया जाए अथवा नहीं ?

३. केवल सदृश परमाणुओं का बन्ध माना जाए अथवा नहीं ?

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दोनों परमाणु जब जघन्य गुणवाले हों तभी उनका बन्ध निषिद्ध है, अर्थात् एक परमाणु जघन्य गुणवाला हो और दूसरा अजघन्य गुणवाला, तो उनका बन्ध हो सकता है, किन्तु दिगम्बर परम्परा में सर्वार्थसिद्धि टीका में यह माना गया है कि जिस प्रकार जघन्यगुणयुक्त दो परमाणुओं में परस्पर बन्ध नहीं होता है, उसी प्रकार एक जघन्यगुण परमाणु का दूसरे अजघन्यगुण परमाणु के साथ भी बन्ध नहीं होता है।

तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय के २५वें सूत्र में उल्लिखित "आदि" पद का अर्थ श्वेताम्बर परम्परा में दो या दो से अधिक किया जाता है। इसलिए उसमें किसी एक परमाणु का दूसरे परमाणु से स्निग्धत्व या रूक्षत्व के गुणों में दो या दो से अधिक अंशों का अन्तर होने पर बन्ध माना जाता है, परस्पर केवल एक अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता, किन्तु दिगम्बर परम्परानुसार केवल दो अंश अधिक होने पर ही बन्ध माना जाता है, अर्थात् एक अंश की तरह तीन, चार, संख्यात, असंख्यात और अनन्त अंश अधिक होने पर बन्ध नहीं माना जाता।

तत्त्वार्थसूत्र के २५वें सूत्र की भाष्य और वृत्ति के अनुसार दो, तीन आदि अंशों में अधिक होने पर बन्ध का विधान सदृश परमाणुओं पर ही लागू होता है। यहाँ सदृश का तात्पर्य स्निग्ध का स्निग्ध के साथ और रूक्ष का रूक्ष के साथ बन्ध होना है, किन्तु दिगम्बर व्याख्याओं में यह विधान सदृश की तरह विसदृश परमाणुओं के बन्ध पर भी लागू होता है। यहाँ विसदृश का अर्थ स्निग्ध का रूक्ष के साथ बन्ध होना है। स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओं के सन्दर्भ में श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यता में यह अन्तर तो है अन्यथा पुद्गल को एक स्वतन्त्र द्रव्य मानने में दोनों परम्पराएँ एकमत हैं।

जीव :

जैन दर्शन में जीव तत्त्व का सूक्ष्मतम विवेचन किया गया है। आगमों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति-प्रत्येक का जन्म होता है, प्रत्येक की वृद्धि होती है, प्रत्येक छिन्न होने पर कुम्हलाते हैं, प्रत्येक आहार की इच्छा करते हैं तथा जिस तरह की

क्रियाएँ मनुष्य की हैं उसी तरह की क्रियाएँ वनस्पति आदि जीवों की भी हैं।^१

जैन दर्शन जीव को चैतन्य तो मानता ही है, परन्तु उसे ज्ञानस्वरूप भी मानता है। जैन परम्परानुसार ज्ञान और आत्मा एक ही हैं। एक के बिना दूसरे का अस्तित्व नहीं है। आगमों एवं सिद्धान्त ग्रन्थों में भी इसी बात पर बल दिया गया है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि आत्मा ज्ञान है, ज्ञान से अलग आत्मा नहीं है। जो एक आत्मा को जान लेता है, वह सब कुछ जान लेता है।^२

जीव तत्त्व का विवेचन करते हुए पंचास्तिकायसार में लिखा है—जो तत्त्व चेतना-स्वरूप है, ज्ञानवान है, सभी को जानता-देखता है और सुख-दुःख का अनुभव करता है, वह जीव है।^३ जीव ज्ञान और दर्शन स्वरूप है। ज्ञान और दर्शन जीव के गुण भी हैं और स्वभाव भी। किसी भी जीव का अस्तित्व इनके अभाव में नहीं रह सकता। जैसे नीम का गुण कड़वापन है, सूर्य का गुण प्रकाश एवं उष्णता तथा पानी का स्वभाव शीतलता है, वैसे ही जीव का स्वभाव ज्ञान और दर्शन है। जीव से ये भिन्न नहीं हैं।

जैन दर्शन के अलावा नैयायिक आदि अन्य दार्शनिक मतों में जीव और ज्ञान को पृथक्-पृथक् माना गया है। उनके मतानुसार जीव और ज्ञान अलग-अलग हैं। जीव में ज्ञान आता है इसलिए ज्ञान जीव का आगन्तुक गुण है, किन्तु जैन दर्शन इस मत का खण्डन करता है। कुन्दकुन्द प्रवचनसार में स्पष्ट कहते हैं कि ज्ञान के बिना आत्मा नहीं है और आत्मा के बिना ज्ञान नहीं है। ज्ञान आत्मा है और आत्मा ज्ञान है।^४ जीव स्वरूपतः ज्ञान-दर्शनमय है, इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराएँ एकमत हैं, किन्तु जीव के कर्ता-भोक्ता स्वरूप को लेकर जैनों में मतभेद पाया जाता है।

दिगम्बर ग्रन्थ द्रव्यसंग्रह में कहा है—जीव उपयोगमय है, अमूर्तिक है, कर्ता-भोक्ता है, सदेह परिमाणवाला है, संसारस्थित है, सिद्ध होने को

१. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्यायन १, उद्देशक ५

२. वही, प्रथम श्रुतस्कन्ध

३. पंचास्तिकायसार, गाथा १२२

४. प्रवचनसार, गाथा २।२७

क्षमता रखता है तथा स्वभाव से वह ऊर्ध्व गति को जाने वाला है।^१ श्वेताम्बर आगमों में भी जीव को कर्ता एवं भोक्ता माना गया है, किन्तु दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण थोड़ा भिन्न है, कुन्दकुन्द व्यवहारनय से तो जीव को कर्ता-भोक्ता मानते हैं, किन्तु निश्चयनय से उसे कर्ता-भोक्ता नहीं मानते हैं।

जीव के भेद :

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि जीव तत्त्व के भेद दोनों परम्पराओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से बतलाए गये हैं। सर्वप्रथम दोनों परम्पराओं ने जीव के दो भेद— (१) संसारो और (२) मुक्त, समान रूप से स्वीकार किए हैं।^२ कर्म-बन्धन से बद्ध एक गति से दूसरी गति में जन्म और मरण करने वाले अर्थात् चतुर्गति में भ्रमण करने वाले जीव संसारो कह गते हैं तथा कर्मक्षय के द्वारा शुद्धात्म-स्वरूप को प्राप्त जीव मुक्त कहलाते हैं।^३ दिगम्बर मान्य-तानुसार मुक्त अवस्था में जीव अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है इसलिए उसमें स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक सम्बन्धो कोई भेद नहीं रहता है, संसारो जीवों में ही अनेक प्रकार के भेद पाये जाते हैं। किन्तु श्वेताम्बर परम्परानुसार जिस जीव को मुक्त होते समय जैसा पर्याय होता है, उसे उसी अवस्था में मुक्त माना जाता है।

श्वेताम्बर मान्य आगम प्रज्ञापनासूत्र में पूर्वपक्षाओं को अपेक्षा से मुक्त जीवों के ये पन्द्रह भेद माने गये हैं—

(१) तीर्थसिद्ध, (२) अतीर्थसिद्ध, (३) तीर्थकरसिद्ध, (४) अतीर्थकरसिद्ध, (५) स्वयंबुद्धसिद्ध, (६) प्रत्येकबुद्धसिद्ध, (७) बुद्धबोधितसिद्ध,

१. जीवो उवओगमओ अमुत्तिकत्ता सदेह परिमाणो ।

भोक्ता संसारस्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥

—द्रव्यसंग्रह, गाथा २

२. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।४८, (ख) मूलाचार, गाथा २०४

(ग) तत्त्वार्थसूत्र, २।१०

३. मूलाचारवृत्ति ५।७, उद्धृत—प्रेमी, फूलचन्द जैन—मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० ४७९

४. प्रज्ञापनासूत्र, १।१६

(८) स्त्रीलिंगसिद्ध, (९) पुरुषलिंगसिद्ध, (१०) नपुंसकलिंगसिद्ध, (११) स्व-लिंगसिद्ध, (१२) अन्यलिंगसिद्ध, (१३) गृहलिंगसिद्ध, (१४) एकसिद्ध और (१५) अनेकसिद्ध ।

यहाँ हम देखते हैं कि श्वेताम्बर परम्परा में स्त्रीलिंग और नपुंसक-लिंग सिद्धों के साथ ही अन्यलिंग और गृहस्थलिंग भी सिद्ध माने गये हैं । तत्त्वार्थसूत्र मूल में भी गति आदि की अपेक्षा से सिद्धों के अनुयोगद्वारों की चर्चा है ।^१ तत्त्वार्थसूत्र मूल में तो केवल इतना ही उल्लेख है कि किन-किन अपेक्षाओं से सिद्धों का विचार किया जाना चाहिये । इसलिए तत्त्वार्थसूत्र का यह मूलसूत्र तो दोनों परम्पराओं में विवादास्पद नहीं रहा है, किन्तु तत्त्वार्थभाष्य और तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि टीका में इसको व्याख्या को लेकर स्पष्ट अन्तर देखा जा सकता है । तत्त्वार्थभाष्य स्पष्ट रूप में स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग, अन्यलिंग और गृहस्थलिंग सिद्धों का उल्लेख करता है ।^२ जबकि सर्वार्थसिद्धि में स्पष्ट रूप से इसका कोई उल्लेख नहीं है, इसमें कहा गया है कि द्रव्य की अपेक्षा से केवल पुरुष-लिंग से ही सिद्ध हुआ जा सकता है ।^३

यह स्पष्ट है कि श्वेताम्बर परम्परा और उसके साथ ही अचेलता की समर्थक यापनीय परम्परा भी स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग, अन्यलिंग और गृहस्थलिंग सिद्धों की मान्यता स्वीकार करती हैं, किन्तु दिगम्बर परम्परा सिद्धों की पूर्व पर्याय की अपेक्षा से इन भेदों को स्वीकार नहीं करती है । दिगम्बर परम्परा स्पष्ट रूप से यह उद्घोषित करती है कि स्त्री, नपुंसक अन्यलिंगी तथा गृहस्थलिंगी सिद्ध नहीं हो सकते हैं । यद्यपि स्त्रीमुक्ति के प्रकरण को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में बहुत कुछ लिखा जा चुका है । इस प्रकरण पर हम भी आगे स्वतन्त्र चर्चा करेंगे, किन्तु नपुंसक, अन्यलिंग और गृहस्थलिंग सिद्धों के सन्दर्भ में विशेष चर्चाएँ नहीं हुई हैं । इसका मूलकारण यह जान पड़ता है कि स्त्रीमुक्ति का निषेध उसकी सचेतता के कारण ही किया गया था । अन्य तीन लिंग भी सचेतता से ही सम्बन्धित हैं । संभवतः इसीलिए स्त्रीमुक्ति निषेध में ही इनको भी समाहित मान लिया हो, इसी कारण इस प्रश्न पर विशेष

१. तत्त्वार्थसूत्र, १०।७

२. तत्त्वार्थभाष्य, १०।७

३. सर्वार्थसिद्धि १०।९

वाद-विवाद और लेखन भी नहीं हुआ है। फिर भी यह मान्यता भेद तो स्पष्ट रूप से है। श्वेताम्बर और यापनीय सम्प्रदाय ने न केवल स्त्रीलिंग, नपुंसकलिंग और गृहस्थों की मुक्ति को स्वीकार किया है, वरन् उन्होंने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि अन्य धार्मिक परम्पराओं के लोग भी मुक्त हो सकते हैं। श्वेताम्बर आचार्य हरिभद्रसूरि ने तो स्पष्ट कहा है कि जो भी व्यक्ति राग-द्वेष से ऊपर उठकर समभाव की साधना करेगा, वह मोक्ष प्राप्त करेगा, फिर चाहे वह श्वेताम्बर हो, दिगम्बर हो, बौद्ध हो या अन्य किसी परम्परा को मानने वाला हो।^१

निष्कर्ष रूप में हम यह कह सकते हैं कि सिद्धों के संबंध में जितना उदार दृष्टिकोण श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा का रहा है उतना उदार दृष्टिकोण दिगम्बर परम्परा का नहीं रहा है। दिगम्बर परम्परा की तो यह स्पष्ट घोषणा है कि केवल दिगम्बर मुद्रा (नग्नत्व) धारण करने वाला ही मुक्ति का अधिकारी है, अन्य कोई नहीं।^२

त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण का प्रश्न :

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराएँ जीव तत्त्व का वर्गीकरण त्रस एवं स्थावर के रूप में करती हैं। यद्यपि वर्तमान काल में दोनों ही परम्पराएँ षट्जीवनिकाय के पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—ये छः विभाग करके उनमें से पृथ्वीकाय से लेकर वनस्पतिकाय पर्यन्त पाँच को स्थावर और अंतिम को त्रस मानती हैं।^३ किन्तु प्राचीन आगमों में षट्जीवनिकाय के वर्गीकरण की एक भिन्न अवधारणा भी मिलती है, जहाँ पृथ्वी, अप और वनस्पति को स्थावर तथा अग्नि, वायु और त्रस जीव को त्रस के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है।^४

आचारांगसूत्र में षट्जीवनिकाय का उल्लेख तो हुआ है, किन्तु उनका

-
१. संबोध प्रकरण, गाथा १।३
 २. सूत्रपाहुड, गाथा २३
 ३. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, २६।३१
(ख) गोम्मटसार, जीवकण्ड, गाथा १७५-१७७ की टीका
(ग) मूलाचार, गाथा २०५
 ४. (क) उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।६९, १०७
(ख) तत्त्वार्थसूत्र, २।१३-१४

त्रस और स्थावर के रूप में स्पष्टतः वर्गीकरण नहीं हुआ है।^१ श्वेताम्बर परम्परा में आचारांगसूत्र के पश्चात् उत्तराध्ययनसूत्र के २६वें और ३६वें अध्यायों में षट्जीवनिकायों का उल्लेख उपलब्ध होता है। २६वें अध्याय में यद्यपि त्रस और स्थावर रूप में स्पष्ट वर्गीकरण तो नहीं किया गया है, किन्तु जिस क्रम से उसमें षट्जीवनिकायों को चर्चा हुई है उससे ऐसा फलित होता है कि पृथ्वी, अप, अग्नि, वायु और वनस्पति—ये पाँच स्थावर हैं तथा छठा त्रसकाय ही त्रस है, किन्तु उत्तराध्ययनसूत्र के ३६वें अध्याय की स्थिति इससे भिन्न है उसमें सर्वप्रथम जीवनिकाय को त्रस और स्थावर ऐसे दो वर्गों में वर्गीकृत किया गया है।^२ तत्पश्चात् स्थावर के अंतर्गत पृथ्वी, अप और वनस्पति को तथा त्रस के अन्तर्गत अग्नि, वायु और त्रसजोव को रखा गया है।^३

परम्परा की दृष्टि से देखें तो ज्ञात होता है कि प्राचीन श्वेताम्बर आगमिकधारा जहाँ तीन स्थावर और तीन त्रस की अवधारणा प्रस्तुत करती है, वहीं दिगम्बर परम्परा में मात्र कुन्दकुन्द को छोड़कर सभी आचार्य पाँच स्थावर और एक त्रस की अवधारणा को मान्य करते हैं।^४

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य उमास्वाति के तत्त्वार्थभाष्य के पाठ में जहाँ तीन स्थावर और तीन त्रस का वर्गीकरण मिलता है^५ वहीं दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य सर्वार्थसिद्धि के पाठ में पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय के साथ अग्निकाय और वायुकाय को भी स्थावर माना गया है।^६ इस प्रकार इस प्रश्न को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा में स्पष्ट मतभेद देखा जा सकता है। दिगम्बर परंपरा के प्रमुख आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रंथ पंचास्तिकायसंग्रह में उत्तराध्ययनसूत्र और तत्त्वार्थभाष्य मान्य पाठ का ही अनुसरण किया है। उन्होंने भी पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय को स्थावर तथा वायुकाय और अग्निकाय को त्रस कहा है।^७ कुन्दकुन्द के इस अपवाद को छोड़कर सामान्यतया दिग-

१. आचारांगसूत्र, प्रथम श्रुतस्कन्ध, प्रथम अध्ययन

२. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।६८

३. वही, ३६।६९, १०७

४. (क) गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा १७५-१७७ की टीका

(ख) मूलाचार, गाथा २०५

५. तत्त्वार्थभाष्य, २।१३-१४

६. सर्वार्थसिद्धि, गाथा २।१३-१४

७. पंचास्तिकायसंग्रह, गाथा १११

म्बर परम्परा का दृष्टिकोण षट्जीवनिकाय में पाँच स्थावर और एक त्रस का रहा है। षट्खण्डागम नामक यापनीय ग्रंथ की टीका में इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वय करने का प्रयत्न किया गया है और यह कहा है कि त्रस और स्थावर नामकर्म की अपेक्षा से तो पाँच स्थावर और एक त्रस ही कहे गये हैं, किन्तु व्यवहार में गति की दृष्टि से तीन त्रस और तीन स्थावर भी माने जा सकते हैं।^१

इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा में त्रस और स्थावर जीवों के वर्गीकरण की मान्यता को देखने से ज्ञात होता है कि दोनों ही परंपराओं में दोनों प्रकार के दृष्टिकोण हैं।

जगत की अवधारणा सम्बन्धी मतभेद :

जगत के प्रति भिन्न-भिन्न दर्शनों का दृष्टिकोण भी भिन्न-भिन्न है। कोई ईश्वर को इसका रचयिता मानता है तो कोई प्रकृति-पुरुष के संसर्ग से सृष्टि की रचना होना मानते हैं। इसी प्रकार कोई जागतिक तत्त्वों को शाश्वत मानते हैं तो कोई क्षणिक, इस प्रकार जगत के विषय में विभिन्न दर्शनों को अपनी-अपनी मान्यताएँ हैं।

जैन दर्शन को जगत के विषय में अपनी एक विशिष्ट अवधारणा है। संसार व्यवस्था के लिए उसने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल-इन छह द्रव्यों का सदभाव माना है। इन छह द्रव्यों को जैन दर्शन में लोक कहा गया है। दूसरे शब्दों में कहें तो जहाँ छह द्रव्यों का सदभाव पाया जाता है, वही लोक है।^२ जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक सत् वस्तु प्रतिक्षण परिणमन करती है। एक पर्याय को छोड़कर वह दूसरी पर्याय को प्राप्त करती है। इस पर्याय परिवर्तन को माने बिना जगत की कल्पना संभव नहीं है। षट्द्रव्यात्मक यह जगत तीन भागों में बंटा हुआ है^३—(१) अधोलोक, (२) मध्यलोक और (३) ऊर्ध्वलोक।

अधोलोक :

अधोलोक में सात पृथ्वियाँ हैं—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, घुमप्रभा, तमःप्रभा और महाप्रभा, इन्हें सात नरकभूमियाँ भी

१. षट्खण्डागम, खण्ड ५, भाग १, २, ३, पुस्तक १३, पृ० ३६५

२. तिलोपपणत्ति, १।१।१३४

३. वही, १।१।१३६

कहते हैं । इनमें निवास करने वाले जीव नारकी जीव कहलाते हैं । अधोलोक का घनफल १९६ घनराजु है ।^१

मध्यलोक :

अधोलोक और ऊर्ध्वलोक के मध्य में मध्यलोक है, इसे तिर्यकलोक भी कहते हैं । सामान्य मान्यता यह है कि इस लोक में एक-दूसरे को वेष्टित करते हुए असंख्यात् द्वीप और समुद्र हैं । दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रंथ मूलाचार में सोलह द्वीपों के नामों का उल्लेख करके आगे कहा गया है कि इस प्रकार एक दूसरे से द्विगुणित-द्विगुणित क्षेत्रफल वाले असंख्यात् द्वीप-समुद्र मध्यलोक में हैं ।^२ इन द्वीपों में से पुष्करवरद्वीप के बौचों-बौच मानुषोत्तर पर्वत है, जिससे यह द्वीप दो भागों में विभक्त है । आधा पुष्करवरद्वीप, जम्बूद्वीप और घातकीखण्डद्वीप मिलकर अढ़ाईद्वीप कहलाते हैं, इन्हीं अढ़ाईद्वीपों में मनुष्य निवास करते हैं इससे आगे मनुष्यों का निवास स्थान नहीं है । तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि यह मध्यलोक झालर की आकृति के समान है ।^३

ऊर्ध्वलोक :

ऊर्ध्वलोक में मुख्य रूप से वैमानिक देव निवास करते हैं, इसलिए इस लोक को देवलोक तथा स्वर्गलोक भी कहते हैं । ऊर्ध्वलोक के दो भाग हैं — (१) कल्प तथा (२) कल्पातीत । कल्पों में उत्पन्न देव कल्पोत्पन्न कहलाते हैं, इन देवों में स्वामी-सेवक भाव होता है । कल्पों के ऊपर स्थित अहर्निद्र देव कल्पातीत विमानवासी कहलाते हैं । इनमें स्वामी-सेवक भाव नहीं होता है । कल्पातीत देव अपना स्थान छोड़कर कहीं भी आवागमन नहीं करते हैं जबकि कल्पोत्पन्नदेव निमित्त विशेष से मनुष्यलोक में आवागमन करते हैं ।^४ ऊर्ध्वलोक का घनफल १४७ घनराजु है ।^५

जगत के स्वरूप को लेकर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं

१. तिलोयपण्णत्ति, १।१।१६८; (राजु का प्रमाण असंख्यात् योजन माना जाता है) ।

२. मूलाचार, गाथा १०७६-१०७८

३. संघवी, सुखलाल-तत्त्वार्थसूत्र, पृ० ८९

४. "देवा वि देवलोए निच्चं दिव्वोहिणा वियाणित्ता ।

आयरियाण सरंता आसण-सयणाणि मुच्चंति ॥"

—सिसोदिया, सुरेश-चंदावेज्जयं पइण्णयं, गाथा ३३

५. तिलोयपण्णत्ति, १।१।१७१

में सामान्य रूप से तो मतैक्य प्रतीत होता है, किन्तु कुछ विशेष विवरणों को लेकर दोनों परम्पराओं में मतभेद देखा जा सकता है। सबसे पहला मतभेद देवों की संख्या को लेकर है—

तिर्यक्लोक के नीचे अपने भवनों में निवास करने वाले देवों को भवनपति देव कहा गया है। दोनों ही परम्पराओं में निम्नानुसार दस भवनपति देव माने गये हैं^१—(१) अमुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) विद्युत्कुमार, (४) सुपर्णकुमार, (५) अग्निकुमार, (६) वायुकुमार, (७) स्तनितकुमार, (८) उदधिकुमार, (९) द्वीपकुमार और (१०) दिशाकुमार।

व्यन्तरदेव ऊर्ध्व, मध्य और अधो दोनों लोकों में पहाड़ों, गुफाओं आदि के अन्तराल में निवास करते हैं। निम्न आठ प्रकार के व्यन्तर देवों को दोनों परम्पराओं ने समान रूप से स्वीकार किया है^२—(१) किन्नर, (२) किंपुरुष, (३) महोरग, (४) गान्धर्व, (५) यक्ष, (६) राक्षस, (७) भूत और (८) पिशाच।

तिर्यक्लोक के ऊपर और स्वर्गलोक के नीचे अपने-अपने विमानों में रहने वाले देव ज्योतिष्क देव हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं ने निम्न पाँच ज्योतिष्क देवों को समान रूप से स्वीकारा है^३—(१) सूर्य, (२) चन्द्र, (३) ग्रह, (४) नक्षत्र और (५) तारागण।

इन तीनों प्रकार के देवों के सम्बन्ध में दोनों परम्परायें एकमत हैं, किन्तु वैमानिक देवों को लेकर दोनों परम्पराओं में मतभेद है। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगम प्रज्ञापनासूत्र तथा तत्त्वार्थभाष्य में निम्न १२ वैमानिक देव माने गये हैं^४—(१) सौधर्म, (२) ईशान, (३) सनत्कुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्मलोक, (६) लान्तक, (७) महाशक्र, (८) सहस्रार, (९) आणत, (१०) प्राणत, (११) आरण और (१२) अच्युत।

दिगम्बर परम्परा के तत्त्वार्थ मान्य पाठ में निम्न १६ वैमानिकदेव माने गये हैं^५—(१) सौधर्म, (२) ईशान, (३) सनत्कुमार, (४) माहेन्द्र, (५) ब्रह्म, (६) ब्रह्मोत्तर, (७) लान्तक, (८) कापिष्ठ, (९) शुक्र, (१०)

१. तत्त्वार्थसूत्र, ४।११

२. वही, ४।१२

३. वही, ४।१३

४. (क) प्रज्ञापनासूत्र, १।४४ (ख) तत्त्वार्थभाष्य, ४।१९

५. तत्त्वार्थसूत्र, ४।१९

महाशुक्र, (११) शतार, (१२) सहस्रार (१३) आणत, (१४) प्राणत, (१५) आरण और (१६) अच्युत ।

यहाँ हम देखते हैं कि दिगम्बर परम्परा के ग्रंथों में उल्लिखित १६ वैमानिक देवों में से १२ वैमानिक देव तो वे ही हैं, जो श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रंथों में उल्लिखित हैं। श्वेताम्बर परंपरा को अपेक्षा दिगम्बर परंपरा में निम्न चार वैमानिक देवों के नाम अधिक हैं—(१) ब्रह्मोत्तर, (२) कापिष्ठ, (३) शुक्र और (४) शतार ।

वैमानिक देवों की चर्चा के प्रसंग में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि दिगम्बर परंपरा द्वारा मान्य कुछ प्राचीन ग्रन्थ भी १२ वैमानिक देवों की ही चर्चा करते हैं। वाराङ्गचरित्र में आचार्य जटिल (जटाचार्य) ने १२ वैमानिक देवों की ही चर्चा की है।^१ तत्त्वार्थसूत्र को सर्वार्थसिद्धि टीका में भी जहाँ देवों के प्रकारों की चर्चा की गई है वहाँ तो १२ की संख्या का ही उल्लेख हुआ है^२, किन्तु इसी अध्याय में आगे जब वैमानिक देवों के नाम गिनाएँ गए तो १६ नाम गिना दिए गए हैं।^३ यतिवृषभ ने तिलोपपण्णत्ति में १२ और १६ दोनों प्रकार को मान्यताओं का उल्लेख किया है।^४ इन अपवादों को छोड़कर सामान्यतया श्वेताम्बर परंपरा में १२ वैमानिक देवों की तथा दिगम्बर परंपरा में १६ वैमानिक देवों की चर्चा है।

कर्म सिद्धान्त सम्बन्धी मतभेद :

(अ) कर्म और आत्मा का सम्बन्ध :

कर्म सिद्धांत जैन परंपरा को एक विशिष्ट अवधारणा है। जैन दार्शनिकों के अनुसार आत्मा के बंधन का कारण उसका कर्मों से संश्लिष्ट होना है। जैन दार्शनिकों ने कर्मों के दो रूप माने हैं, एक भाव कर्म और दूसरा द्रव्य कर्म।^१ भावकर्म व्यक्ति की मनोदशाओं से संबंधित है, किन्तु द्रव्य कर्म को पौद्गलिक माना गया है। कर्मवर्णाओं के पुद्गल आत्मा की ओर आकर्षित होकर उससे संश्लिष्ट हो जाते हैं। कर्म और आत्मा

१. वाराङ्गचरित्र, ९।७-९

२. सर्वार्थसिद्धि, ४।३

३. बह्वी, ४।९

४. तिलोपपण्णत्ति, ८।४५१, ७०८-७१२

५. गोम्मटसार, कर्मकाण्ड, गाथा ६

की यह संश्लिष्ट अवस्था ही बंधन है। यद्यपि निह्वनों के काल में ही यह विवाद खड़ा हो गया था कि कर्मवर्गणाओं के पुद्गल आत्मद्रव्य से संश्लिष्ट होकर रहते हैं या उसका स्पर्श मात्र करते हैं। यह चर्चा हम गोष्ठामहिल निह्व की चर्चा करते समय पूर्व के पृष्ठों में कर चुके हैं। दिगम्बर परम्परा के आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ समयसार में आत्मा और कर्म के संबंध को लेकर जो विस्तृत चर्चा की है उससे फलित होता है कि निश्चयनय की अपेक्षा से वे यही मानते हैं कि आत्म द्रव्य और कर्मद्रव्य कभी भी संश्लिष्ट नहीं हो सकते हैं। आत्मा सदैव आत्मा रहता है और कर्म सदैव कर्म ही रहता है। कुन्दकुन्द का यह दृष्टिकोण बहुत कुछ अबद्धिकवाद के समान ही है। आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में तो बंधन की सारी कल्पना भी व्यावहारिक ही है, किन्तु इस संबंध में कुन्दकुन्द के अतिरिक्त श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परंपराओं के आचार्यों में कोई मतभेद नहीं है, वे सभी एकमत से आत्मा और कर्म का संश्लिष्ट संबंध मानते हैं।

कर्म प्रकृतियों में पुण्य और पाप प्रकृतियों का प्रश्न :

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परंपराएँ क्रमों की ज्ञानावरणादि आठ कर्म प्रकृतियाँ मानती हैं। कर्म प्रकृतियों के नाम और संख्या को लेकर उनमें कोई विवाद नहीं है। जहाँ तक मूल प्रकृतियों की उत्तर प्रकृतियों का प्रश्न है, उस संबंध में भी दोनों में कोई भेद नहीं है। आठों कर्मों में से प्रत्येक कर्म को उत्तर प्रकृतियाँ कितनी हैं, इसे निम्न रूप से अभिव्यक्त किया जा सकता है।

मति आदि पाँच ज्ञानों के आवरण ज्ञानावरण है। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अबाधदर्शन और केवलदर्शन—इन चारों के आवरण तथा निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और सत्यानगृह्य रूप पाँच निद्राएँ—ये नौ दर्शनावरणीय हैं। प्रशस्त (सुखवेदनीय) और अप्रशस्त (दुःखवेदनीय) ये दो वेदनीय हैं। मोहनोय क कुल अट्ठाईस भेद हैं। नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—ये चार आयु के भेद हैं। गति आदि बयालीस नामकर्म हैं। उच्च और नीच—ये दो गोत्रकर्म हैं तथा दान आदि पाँच अन्तराय कर्म के भेद हैं।^१

जहाँ तक इन उत्तर प्रकृतियों के नाम आदि का प्रश्न है, श्वेताम्बर

और दिगम्बर परम्परा में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु इनमें से कितनी पुण्य प्रकृतियाँ हैं और कितनी पाप प्रकृतियाँ हैं, इस सन्दर्भ में दोनों परंपराओं में मतभेद है। यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराएँ इस संदर्भ में विशेष मतभेद नहीं रखती हैं, किन्तु यापनीय परंपरा के ग्रन्थ भगवती आराधना में निम्न चार प्रकृतियों को पुण्य प्रकृति कहा है^१—

(१) सातावेदनीय, (२) शुभ आयु, (३) शुभ नाम और (४) शुभगोत्र।

श्वेताम्बर आचार्य सिद्धसेणगणी ने अपने तत्त्वार्थभाष्य को वृत्ति में लिखा है कि ये चार पुण्य प्रकृतियाँ हैं, ऐसा अन्य कोई तो नहीं मानता, यह आचार्य (उमास्वाति) की अपनी कोई मान्यता होगी।^२ किन्तु हम देखते हैं कि उमास्वाति को इस मान्यता का समर्थन भगवती आराधना में मिलता है। इस आधार पर कह सकते हैं कि यापनीय परंपरा इन्हें पुण्य प्रकृतियाँ मान रही थी।

भगवती आराधना और तत्त्वार्थसूत्र में उल्लिखित पुण्य प्रकृतियों की यह मान्यता श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में मान्य नहीं है। अतः जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों को दार्शनिक मान्यताओं में मतभेद की दृष्टि से यह समस्या महत्त्वपूर्ण है।

परमात्मा :

“परमात्मा” शब्द से सर्वोत्तम आत्मा का बोध होता है। चार्वाक और बौद्धों के अतिरिक्त प्रायः सभी भारतीय दर्शनों ने किसी न किसी रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकारा है।

जैन आगमों, सिद्धान्त ग्रन्थों, दार्शनिक ग्रन्थों एवं स्तुतिपरक काव्यों आदि में कृतकृत्य, निराकुल, मोहादि से रहित, केवलज्ञान के गुणों से युक्त, मोक्ष रूपी परमपद को प्राप्त आत्मा को परमात्मा कहा गया है।

जैनधर्म में परमात्मा को सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतरागो, केवलज्ञानी, शुद्धात्मा आदि अनेक नामों से संबोधित किया गया है। परमात्मा वस्तुतः आत्मा की वह शुद्धतम अवस्था है, जब समस्त कर्मों एवं उनके बंधनों का क्षय हो जाता है। इस दृष्टि से जैन परम्परानुसार परमात्मा एक न होकर अनेक हैं। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने को सामर्थ्य है।

१. (क) भगवती आराधना, गाथा १८२८ की टीका, पृष्ठ ८१४

(ख) तत्त्वार्थसूत्र, ८।२६

२. तत्त्वार्थभाष्य ८।२६

जैन दर्शन की परमात्मा विषयक मान्यता सभी दर्शनों से भिन्न है। जैन दर्शनानुसार परमात्मा न तो जगत का कर्ता है और न ही भोक्ता है, अपितु वह तो मात्र ज्ञाता-दृष्टा है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने राग-द्वेष से रहित, मोह-माया का नाश करने वाले, परमपद को प्राप्त करने वाले, चौतीस अतिशय रूप ऐश्वर्य के धारक केवलज्ञानी वोतरागी परमात्मा को ईश्वर की संज्ञा दी है।^१

आचार्य कुन्दकुन्द ने परमात्मा को समस्त दोषों से रहित एवं केवल-ज्ञान आदि गुणों से युक्त माना है।^२

जैन दर्शन के अनुसार ईश्वर विशुद्ध आत्मा है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा रूप बनने की शक्ति है। विष्णु, परमब्रह्म, ईश्वर, सुगत, शिव और जिन इत्यादि सभी उसके ही नाम हैं।^३ आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में ईश्वर के एक हजार आठ नामों का उल्लेख किया है।^४

जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों एवं उपसंप्रदायों में परमात्मा विषयक मान्यता को लेकर कोई मतभेद नहीं है। सभी सम्प्रदाय कर्म बंधनों से विमुक्त आत्मा को परमात्मा मानने में एकमत हैं।

मोक्ष :

मोक्ष जीव की उस अवस्था का नाम है, जहाँ न जन्म है न मरण। जन्म-मरण से रहित यह अवस्था बंध के कारणों के अभाव और कर्मों की पूर्ण निर्जरा से प्राप्त होती है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने समस्त कर्मों के क्षय का नाम मोक्ष बतलाया है।^५ आत्मा के स्वभाव से कर्म प्रकृतियों का छूट जाना भी मोक्ष है।^६ मोक्ष सुखात्मक होता है।^७ जैन दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के उपाय हेतु रत्नत्रय की साधना पद्धति है। रत्नत्रय की साधना से अभिप्राय है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य की आराधना।

१. षड्दर्शनसमुच्चय (आचार्य हरिभद्रसूरि), पृ० १६२-१६३

२. (क) मोक्षपाहुड, गाथा ५

(ख) नियमसार, गाथा ७

३. दृहद्ब्रह्मसंग्रह, संस्कृत टीका, गाथा ५४

४. आदिपुराण, पर्व ४, पृ० ७२

५. तत्त्वार्थसूत्र, १०।३

६. तत्त्वार्थवातिक, भट्टअकलंकदेव, भाग २, पृ० ६९७

७. नयचक्र, १५९; उद्भुत-जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृ० ३३२-३३३

रत्नत्रय की इस साधना को वाचक उमास्वाति इस रूप में रखते हैं—
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और
सम्यग्चारित्र मोक्षमार्ग है ।^१

जैन दर्शन में मोक्ष प्राप्ति के उक्त तीनों ही साधन बतलाये गये हैं ।
जैन दर्शनानुसार इनमें से किसो एक के भी अभाव में मुक्त होना संभव
नहीं है, वरन् इन तीनों की सम्यक् साधना करके ही कोई मुक्त हो सकता
है । अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या सभी जीव मुक्त हो सकते
हैं ? यदि नहीं, तो मुक्ति का पात्र कौन है ? सामान्यतः इस विषय में
जैन दर्शन का मन्तव्य यही है कि सभी भव्य-जीव मुक्ति के पात्र हैं ।
किन्तु इस संबंध में साम्प्रदायिक विवाद का विषय यह है कि मोक्ष की
प्राप्ति मात्र पुरुष को होती है अथवा स्त्री, नपुंसक, गृहस्थ एवं अन्यतिथिक
को भी मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ?

दिगम्बर परंपरा पुरुष को ही मुक्ति का अधिकारी मानती है जबकि
श्वेताम्बर परम्परा ने मुक्ति के संदर्भ में पुरुष के अधिकार को सुरक्षित
रखते हुए स्त्री को भी मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी माना है । दिग-
म्बर मतानुसार स्त्री को स्त्री पर्याय में मुक्ति नहीं मिल सकती क्योंकि
वे पौरुषहीन हैं, अबला हैं । इस विषय में श्वेताम्बर मत यह है कि पुरुष
और स्त्री दोनों की ही शक्ति एक जैसी है, दोनों के ज्ञान, दर्शन और
चारित्र में एक जैसी प्रवृत्ति है फिर स्त्री मुक्ति को अधिकारी क्यों नहीं
हो सकती ? मुक्ति तो समस्त कर्मों का क्षय होने पर प्राप्त होती है । अतः
कर्मक्षय करने वाला प्रत्येक जीव अवश्य ही मुक्त होता है ।

श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा का मुक्ति विषयक यह वैचारिक
मतभेद इतना गंभीर है कि इस विवाद के चलते उन्नीसवें तीर्थंकर मल्ली
स्त्री थे या पुरुष, यह प्रश्न आज भी दोनों परंपराओं में विवादास्पद है ।
श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार मल्ली स्त्री थे ।^२ जबकि दिगम्बर परम्परा
के अनुसार मल्ली पुरुष थे । स्त्री मुक्ति के संदर्भ में श्वेताम्बर और
दिगम्बर सम्प्रदाय की यह वैचारिक भिन्नता जैनधर्म के इन दो प्रमुख
सम्प्रदायों के मध्य विवाद का प्रमुख मुद्दा है । यहाँ अब हम यह स्पष्ट
करने का प्रयास करेंगे कि स्त्री मुक्ति का प्रश्न इन दोनों संप्रदायों में कब
एवं किस प्रकार विवाद का कारण बना है ?

१. तत्त्वार्थसूत्र, १।२

२. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, मल्लीवैश्याङ्ग

स्त्री मुक्ति का प्रश्न :

स्त्री मुक्ति के प्रश्न पर यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो हमें सर्वप्रथम उत्तराध्ययनसूत्र में स्त्री की तद्भव मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है।^१ इसके अलावा श्वेताम्बर परम्परा के मान्य आगम ज्ञाताधर्मकथासूत्र में भी मल्ली अध्याय में स्त्रीमुक्ति का उल्लेख है।^२ चूर्णि साहित्य में भी मरुदेवी की मुक्ति का कथन है।^३ इससे यह फलित होता है कि ईस्वी सन् की चौथी-पाँचवीं शताब्दी तक जैन परम्परा में कहीं भी स्त्रीमुक्ति का निषेध नहीं था। स्त्रीमुक्ति का सर्वप्रथम निषेध दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द के सूत्रपाहुड में पाया जाता है।^४ षट्-खण्डागम यद्यपि कुन्दकुन्द का समकालीन ग्रन्थ है फिर भी उसमें स्त्री मुक्ति का निषेध नहीं है, अपितु मूलग्रंथों में तो पर्याप्त मनुष्यनी (स्त्री) में चौदह ही गुणस्थानों की संभावना स्वीकार कर स्त्री मुक्ति को मान्य किया गया है।^५

यहाँ हम देखते हैं कि पूर्व पक्ष के रूप में स्त्री मुक्ति का समर्थन हमें ईस्वी पूर्व के ग्रंथों में मिलता है जबकि स्त्री मुक्ति का निषेध कुन्दकुन्द के पूर्व के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। यद्यपि यह भी विवाद का विषय है कि सूत्रपाहुड कुन्दकुन्द की रचना है भी या नहीं? कदाचित्त एक बार हम यह मान भी लें कि सूत्रपाहुड कुन्दकुन्द की रचना है तो भी कुन्दकुन्द का काल छठीं शताब्दी के पूर्व का तो नहीं माना जा सकता है। प्रो० एम० ए० ढाकी जैसे इतिहासविज्ञों ने आचार्य कुन्दकुन्द के समय पर विस्तार से विचार प्रस्तुत किए हैं और वे आचार्य कुन्दकुन्द को छठीं शताब्दी के पूर्व का किसी भी स्थिति में नहीं स्वीकारते हैं।^६ इस आधार पर भी यही फलित होता है कि दिगम्बर परंपरा में स्त्रीमुक्ति निषेध की अवधारणा छठीं शताब्दी के लगभग बनी है।

तत्त्वार्थभाष्य में सिद्धों के अनुयोगद्वारों की चर्चा करते हुए लिगा-

१. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।४९
२. ज्ञाताधर्मकथासूत्र, ८।१९५
३. आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० १८१ एवं भाग २, पृ० २१२
४. सूत्रपाहुड, गाथा २३-२६
५. दृष्टव्य है—स्त्री मुक्ति प्रकरण, जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय
६. Aspects of Jainology Vol. 3, Page. 196

न्युयोगद्वार का विचार किया गया है। उसमें स्पष्ट रूप से उतराध्ययनसूत्र के समान ही स्त्री, पुरुष और नपुंसक तीनों को ही मुक्ति का उल्लेख है।^१ मात्र यही नहीं अनन्तर और परम्पर दोनों ही दृष्टि से तीनों लिंगों की मुक्ति मानी गई है। साथ ही उसमें द्रव्यलिंग की दृष्टि से विचार करते हुए स्पष्ट कहा है कि प्रत्युत्पन्न भाव की अपेक्षा से तो अलिंग ही सिद्ध होते हैं किन्तु पूर्वभाव को अपेक्षा से भावलिंग में स्त्रिलिंग ही सिद्ध होते हैं लेकिन द्रव्यलिंग को अपेक्षा से स्त्रिलिंग, अन्व्यलिंग और गृहलिंग तीनों ही सिद्ध होते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र की टोकाओं को देखें तो सर्वप्रथम दिगम्बर परंपरा मान्य सर्वार्थसिद्धि (६ठीं शताब्दी) में यह कहा गया है कि वेद को दृष्टि से तीनों वेदों से भाव की अपेक्षा से सिद्ध होती है, द्रव्य से नहीं। द्रव्य से पुल्लिङ्ग अथवा निर्ग्रथलिंग ही सिद्ध होते हैं तथा भूतपूर्व नय की अपेक्षा से सग्रंथ लिंग भी सिद्ध हो सकते हैं।^२ इस प्रकार हम देखते हैं कि सर्वप्रथम सर्वार्थसिद्धि में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि पुरुषलिंग से ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसके पश्चात् आचार्य अकलंक (८वीं शताब्दी) भी अपने ग्रंथ राजवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि के उल्लेख का ही समर्थन करके रह जाते हैं।^३ उससे अधिक वे भी कुछ नहीं कहते हैं। तत्पश्चात् १०वीं शताब्दी के आचार्य प्रभाचंद्र ने अपने ग्रंथ न्यायकुमुदचंद्र में स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है।^४

श्वेताम्बर परंपरा के आवश्यक मूल भाष्य, विशेषावश्यकभाष्य और आवश्यकचूर्ण में हमें अचेलकत्व और सचेलकत्व के प्रश्न को लेकर पक्ष और प्रतिपक्ष के विविध तर्कों का उल्लेख मिलता है। सातवीं शताब्दी के अन्त तक भी हमें एक भी ऐसा संकेत नहीं मिलता है जिसमें श्वेताम्बर आचार्यों ने स्त्रीमुक्ति का तार्किक समर्थन किया हो, इससे ऐसा लगता है कि प्राचीनकाल में स्त्रीमुक्ति के संदर्भ में कोई विवाद नहीं था। स्त्रीमुक्ति का निषेध सर्वप्रथम आचार्य कुंदकुंद ने ही किया और फिर उन्हीं का अनुसरण पूज्यपाद और अकलंक ने भी किया। अकलंक के काल तक भी

१. तत्त्वार्थभाष्य, १०।७

२. सर्वार्थसिद्धि, १०।९

३. राजवार्तिक, १०।९

४. नास्ति स्त्रीणां निर्वाणं—न्यायकुमुदचंद्र, भाग २, पृ० ८६६

दिगम्बर परंपरा की ओर से स्त्रीमुक्ति के खण्डन के संदर्भ में कोई तर्क प्रस्तुत किए गए हों, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

आचार्य कुंदकुंद ने ही सर्वप्रथम यह कहा है कि जिनमार्ग में सवस्त्र-धारी की मुक्ति नहीं हो सकती चाहे वह तीर्थंकर ही क्यों न हो।^१ स्त्री मुक्त क्यों नहीं हो सकती? इसके लिए कहा गया है कि उसकी कुक्षि, योनि और स्तन में सूक्ष्म जीव होते हैं, इसलिए उसकी प्रव्रज्या कैसे हो सकती है?^२ यह भी कहा गया है कि स्त्रियों के मन में पवित्रता नहीं होती, वे अस्थिरमना होती हैं तथा उनमें रजस्त्राव होता है, इसलिए उनका ध्यान चिता रहित नहीं हो सकता।^३ ऐसे कुछ तर्क देकर सर्वप्रथम आचार्य कुंदकुंद ने स्त्रीमुक्ति का तार्किक खण्डन किया है। अब हम श्वेताम्बर परंपरा मान्य साहित्य को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि इस परम्परा में सातवीं शताब्दी तक दिगम्बरों की इस मान्यता का कहीं कोई तार्किक खण्डन किया हो, ऐसी जानकारी उपलब्ध नहीं है। स्त्रीमुक्ति के निषेधक तर्कों का सर्वप्रथम उत्तर श्वेताम्बर परम्परा ने नहीं अपितु अचेलता की समर्थक यापनीय परंपरा ने दिया है। यापनीय परंपरा के तर्कों का ही अनुसरण श्वेताम्बर आचार्यों ने किया है। श्वेताम्बर आचार्यों में सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्र ने ललितविस्तरा में स्त्रीमुक्ति का समर्थन किया है।^४ किन्तु उन्होंने भी वहाँ अपनी ओर से कोई तर्क नहीं देकर इस संबंध में वर्तमान में अनुपलब्ध किसी यापनीय प्राकृत ग्रंथ का उद्धरण दिया है। इससे ऐसा लगता है कि आचार्य कुंदकुंद ने स्त्रीमुक्ति निषेध के लिए जो तर्क दिए थे उनका खण्डन प्रथम तो यापनीयों ने ही किया था तत्पश्चात् यापनीयों के तर्कों को ही ग्रहीत करके आठवीं शताब्दी से

१. णवि सिज्झइ वत्थघरो जिणसासणे जइवि होइ तिरथयरो ।
णगो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सब्बे ॥—सूत्रपाट्ट, गाथा २३
२. लिग्गिम्मि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु ।
भणिओ सुहओ कामो तासि कइ होइ पव्वज्जा ॥—सूत्रपाट्ट, गाथा २४
३. जइ दंसणेण सुद्धा उत्ता मग्गे ण सावि संजुत्ता ।
घोरं चरियं इत्थीसु ण पावया भणिया ॥
चित्ता सोहि ण तेसि ढिल्लं भावं तहा सहावेण ।
विज्जदि मासा तेसि इत्थीसु णसंकया क्षाणं ॥—सूत्रपाट्ट, गाथा २५-२६
४. ललितविस्तरा, पृ० ४०२

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा भी स्त्रीमुक्ति निषेधक दिगम्बर मान्यता का खण्डन किया जाने लगा ।^१

स्त्रीमुक्ति के समर्थन में सर्वप्रथम यापनीय आचार्य शाकटायन (९वीं शताब्दी) ने स्त्रीमुक्ति प्रकरण नामक स्वतंत्र ग्रंथ की रचना की। शाकटायन ने अपने ग्रंथ “स्त्रीमुक्ति प्रकरण” में स्त्रीमुक्ति का स्पष्ट समर्थन किया है ।^२

शाकटायन के पश्चात् स्त्रीमुक्ति के प्रश्न को लेकर दोनों ही परम्पराओं में पर्याप्त रूप में पक्ष और प्रतिपक्ष में लिखा जाने लगा। उस समग्र विशयवस्तु की चर्चा करना यहाँ संभव नहीं है। स्त्रीमुक्ति के पक्ष और निषेध में किन-किन आचार्यों ने अपने मत-विमत प्रस्तुत किए हैं तथा उनका समय क्या था, यह उल्लेख उपादेय होगा।

श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य हरिभद्र के पश्चात् अभयदेव (१००० ई०), शान्तिसूरि (११२० ई०), मलयगिरि (११५० ई०), हेमचन्द्र (११६० ई०), वादिदेव (११७० ई०), रत्नप्रभ (१२५० ई०), गुणरत्न (१४०० ई०), यशोविजय (१६५० ई०) तथा मेघविजय (१७०० ई०) ने स्त्रीमुक्ति के पक्ष में विस्तार से लिखा है, दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा में आचार्य वीरसेन (८०० ई०), देवसेन (९५० ई०) नेमिचन्द्र (१०५० ई०), प्रभाचन्द्र (१०८०-१०६५ ई०), जयसेन (११५० ई०) तथा भावसेन (१२५७ ई०) आदि ने स्त्रीमुक्ति निषेध के लिए अपनी लेखनी चलाई है ।^३

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य प्राचीन आगम साहित्य में ‘स्त्री मुक्त होती है’ ऐसे उल्लेख तो मिलते हैं, किन्तु उनमें कहीं भी उसका तार्किक प्रतिपादन नहीं हुआ है। स्त्रीमुक्ति के निषेध का सर्वप्रथम तार्किक प्रतिपादन कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में मिलता है। कुन्दकुन्द का कथन है कि जिन-शासन में वस्त्रधारी सिद्ध नहीं हो सकता, चाहे वह तीर्थंकर हो क्यों न

१. दृष्टव्य है-स्त्रीमुक्ति प्रकरण, जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय

२. अस्ति स्त्री निर्वाणं पुं वत्, यद विकल हेतुकं स्त्रीषु ।

न विरुध्यति हि रत्नत्रयसंपद निर्वर्तेर्हेतुः ॥

-स्त्रीमुक्तिप्रकरण, श्लोक २ (शाकटायन-व्याकरण, पृ० १२१)

3. Jaini Padmanabh—Gender and Solvation, P. 4

हो ? इससे ऐसा लगता है कि स्त्री मुक्ति का निषेध तभी आवश्यक हो गया था, जब अचेलता को ही एकमात्र मोक्षमार्ग मान लिया गया। हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि अचेलता के एकान्त आग्रह ने ही दिग्म्बर परम्परा में इस अवधारणा को जन्म दिया कि स्त्री नग्न नहीं हो सकती इसलिए वह मुक्त नहीं हो सकती। इसी आग्रह के कारण गृहस्थलिंगसिद्ध और अन्यालिंगसिद्ध (सग्रन्थ) की मुक्ति के निषेध की अवधारणा भी सामने आई। आगे चलकर जब स्त्री को मोक्ष से अयोग्य बताने के लिए तर्क आवश्यक हुए तो यह कहा गया कि चाहे स्त्री दर्शन से शुद्ध हो तथा मोक्षमार्ग से युक्त होकर घोर चारित्र का पालन कर रही हो तो भी उसे प्रव्रज्या नहीं दी जा सकती। जब प्रव्रज्या (दीक्षा) को अचेलता (नग्नता) से जोड़ दिया गया तो कुन्दकुन्द ने ही सर्वप्रथम स्पष्ट रूप से यह प्रतिपादन किया कि जो सवस्त्रालिंग है, वह श्रावकों का है। कुन्दकुन्द के इस कथन से ऐसा लगता है कि उनके पूर्व अचेल परम्परा में भी स्त्री को दीक्षा दी जाती थी तथा उसे महाव्रतों का आरोपण कराया जाता था। वस्तुतः कुन्दकुन्द ही ऐसे प्रथम आचार्य प्रतीत होते हैं, जिन्होंने स्पष्ट रूप से स्त्री प्रव्रज्या का निषेध किया था।^१ यहाँ यह स्मरणीय है कि कुन्दकुन्द ने भी जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, वे स्त्री को प्रव्रज्या के निषेध के हैं, स्त्री मुक्ति निषेध के नहीं। किन्तु स्त्री मुक्ति निषेध तो उनके पूर्वोक्त कथन में अनिवार्य रूप से फलित हो रहा है, क्योंकि जब अचेलता ही मोक्षमार्ग है और स्त्री के लिए अचेलता संभव नहीं है तो उसके लिए न तो प्रव्रज्या संभव है और न ही मुक्ति।

स्त्री मुक्ति निषेधक कुन्दकुन्द के तर्कों का सर्वप्रथम खण्डन संभवतः यापनीय परम्परा के यापनीयतन्त्र नामक ग्रन्थ में दिया गया है। वर्तमान में यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है किन्तु इसका वह अंश जिसमें स्त्री मुक्ति का समर्थन किया गया है, हरिभद्र के ललितविस्तरा में उद्धृत होने से सुरक्षित है।^२ उसमें कहा गया है कि स्त्री अजीब नहीं है, न वह अभव्य है, न दर्शन विराधक है, न अमनुष्य है, न अनादि क्षेत्र में उत्पन्न है, न असंख्यात आयुष्यवाली है, न अतिक्रूरमति है, न उपशान्त मोह है, न अशुद्धाचारी है, न अशुद्धशरीरी है, न वर्जित व्यवसाय वाली है, न अपूर्वकरण की विरोधी है, न नवों गुणस्थान से रहित है, न अयोगलब्धि से रहित है,

१. सूत्रपाहुड, गाथा २४

२. ललितविस्तरा, पृ० ५७

न अकल्याणभाजन है, फिर वह उत्तम धर्म की साधक क्यों नहीं हो सकती ?^१

स्त्री मुक्ति के पक्ष में हरिभद्र ने बहुत विस्तार से लिखा है। वे कहते हैं कि स्त्रियाँ कल्याणपात्र होती हैं, क्योंकि वे तो तीर्थंकरों को जन्म देती हैं, अतः स्त्री उत्तम धर्म की साधक हो सकती है, दूसरे शब्दों में वह मोक्ष की अधिकारिणी है। इसके अतिरिक्त हरिभद्र ने सिद्धों के पन्द्रह भेदों की चर्चा करते हुए सिद्धप्राभृत का भी एक सन्दर्भ दिया है। सिद्ध-प्राभृत में कहा गया है कि सबसे कम तीर्थंकर (स्त्री तीर्थंकर) ही सिद्ध होते हैं, उनकी अपेक्षा स्त्री तीर्थंकर के तीर्थ में नौ तीर्थंकर सिद्ध होते हैं, उनकी अपेक्षा स्त्री तीर्थंकर के तीर्थ में नौ तीर्थंकरसिद्ध असंख्यातगुणा अधिक होते हैं।^२

हमें ऐसा लगता है कि सिद्धप्राभृत (सिद्धपाहुड) कोई यापनीय ग्रन्थ रहा होगा, जिसमें सिद्धों के विभिन्न अनुयोगद्वारों की चर्चा हुई होगी। वर्तमान में यह ग्रन्थ अनुपलब्ध है तथा ज्ञात सूचनानुसार इस नाम का कोई ग्रन्थ ज्ञात नहीं है।

स्त्री मुक्ति के पक्ष और निषेध में जो कुछ लिखा गया है यदि हम उस पर तटस्थभाव से विचार करें तो कह सकते हैं कि यदि स्त्री दीक्षा के अयोग्य होती तो आगमों में दीक्षा के अयोग्य व्यक्तियों की सूची में दुष पिलाती हुई एवं गर्भिणी स्त्री की दीक्षा का निषेध नहीं करके 'स्त्री' की दीक्षा का ही निषेध किया जाना चाहिए था। जहाँ तक वस्त्र धारण करने के कारण स्त्री को मुक्ति प्राप्त करने की अधिकारी नहीं माना गया है तो उस सन्दर्भ में हम यही कहना चाहेंगे कि यदि परिग्रह का होना ही मुक्ति में बाधक है तो फिर प्रतिलेखन आदि भी मुक्ति में बाधक क्यों नहीं होंगे? यदि प्रतिलेखन आदि को परिग्रह नहीं माना गया है तो संयमोपकरण के रूप में स्त्री द्वारा ग्रहीत सीमित वस्त्रों को भी परिग्रह नहीं मानना चाहिए।

यद्यपि वस्त्र परिग्रह है फिर भी भगवान् ने साध्वियों के लिए उसकी

१. ललितविस्तरा पृ० ५७-५९

२. "सम्बन्धोभा तित्थयरिसिद्धा, तित्थयरितित्थे गोतित्थयरिसिद्धा असंख्जेज्जगुणा तित्थयरितित्थे गोतित्थयरिसिद्धा असंख्जेज्जगुणाओ ॥"

अनुमति दी है क्योंकि वस्त्र के अभाव में समग्र चारित्र्य का ही निषेध हो जायेगा, जबकि वस्त्र धारण करने में तो अल्प दोष ही लगेगा। संयम के उपकार के लिए ग्रहण किये गए वस्त्र भी संयमोपकरण ही माने जायेंगे, परिग्रह नहीं। आगम में निर्ग्रन्थी शब्द का प्रयोग सर्वत्र हुआ है यदि यह माना जाए कि उनके वस्त्र परिग्रह हैं तो फिर उनके लिए निर्ग्रन्थी शब्द का प्रयोग नहीं किया जा सकता। यदि उपकरण ही परिग्रह हो तो फिर कोई साधु भी निर्ग्रन्थ नहीं कहला सकता। कोई व्यक्ति वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित है, किन्तु यदि उसमें उनके प्रति ममत्व का अभाव है तो वह अपरिग्रही कहलायेगा। इसके विपरीत एक व्यक्ति नग्न है, किन्तु उसमें ममत्व और मूर्च्छा का भाव है तो वह परिग्रही कहलाएगा। साध्वी वस्त्र इसलिए धारण नहीं करती है कि उनके प्रति उसका कोई ममत्व होता है, किन्तु वह उसे जिन-आज्ञा समझकर ही धारण करती है। वस्त्र उसके लिए उसी प्रकार परिग्रह नहीं हैं जिस प्रकार ध्यानस्थ नग्न मुनि के शरीर पर डाले गये वस्त्र उसके लिए परिग्रह नहीं हैं। एक व्यक्ति जिसका अपने शरीर के प्रति भी ममत्व भाव है तो वह परिग्रही कहलायेगा और वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकेगा जबकि इसके विपरीत वह व्यक्ति जिसमें ममत्व का अभाव है, वह शरीर धारण करते हुए भी अपरिग्रही कहलाएगा। यही स्थिति वस्त्रों के सन्दर्भ में भी जाननी चाहिए, विशेषकर स्त्री के लिए। जिस प्रकार जन्तुओं से व्याप्त इस लोक में कषाय के अभाव में मुनि के द्वारा हिंसा होते हुए भी वह हिंसक नहीं माना जाता है उसी प्रकार वस्त्र के सद्भाव में भी साध्वी परिग्रही नहीं मानी जा सकती। यदि हिंसा और अहिंसा की व्याख्या बाह्य घटनाओं पर नहीं, अपितु व्यक्ति के मनोभावों अर्थात् कषायों पर निर्भर है तो फिर परिग्रह के लिये भी यही कसौटी माननी होगी। यदि हिंसा की घटना घटित होने पर भी मुनि अहिंसक ही रहता है तो फिर वस्त्र के होते हुए भी मूर्च्छा के अभाव में साध्वी अपरिग्रही क्यों नहीं कहलाएगी? जब यह कहा जाता है कि अचेलकत्व उत्सर्गमार्ग है तो यह कथन तब तक सिद्ध नहीं होगा जब तक कि अपवाद मार्ग नहीं होगा। अपवाद मार्ग के अभाव में उत्सर्ग मार्ग उत्सर्गमार्ग नहीं रह पायेगा। यदि अचेलता उत्सर्ग मार्ग है तो सचेलता अपवाद मार्ग है। दोनों ही मार्ग हैं, अमार्ग कोई नहीं। इस समग्र चर्चा के पश्चात् हम इतना ही कहना चाहेंगे कि हमारे मतानुसार पुरुष के समान ही स्त्री की भी मुक्ति मानने में कोई कठिनाई नहीं है।

केवलीभुक्ति की अवधारणा सम्बन्धी मतभेद :

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में स्त्रीभुक्ति की तरह केवली-भुक्ति (आहार) का प्रश्न भी विवादास्पद है। श्वेताम्बर परम्परानुसार जैसे हमारा औदारिक शरीर है वैसे ही केवली भगवन् का भी औदारिक शरीर है। इसलिए उनके लिए भी आहार करना आवश्यक है। किन्तु दिगम्बर परम्परा का कहना है कि केवली भगवन्तों में अनन्तचतुष्टय विद्यमान रहते हैं, ऐसे में यदि केवली भगवन् आहार करते हैं तो यह मानना पड़ेगा कि वे क्षुधा वेदना से पीड़ित होकर आहार करते हैं, इससे तो यह फलित होता है कि अनन्तचतुष्टय गुणों में से अनन्त सुख नामक गुण का केवली में अभाव है, चारों में से एक भी गुण का जिसमें अभाव हो तो उसमें शेष तीन गुणों का भी अभाव मानना चाहिए, क्योंकि अनन्त-चतुष्टय गुणों का परस्पर में अविनाभाव है। एक के अभाव में दूसरे का सद्भाव नहीं रह सकता है।

केवलीभुक्ति के प्रश्न पर यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो श्वेताम्बर परम्परा मान्य प्राचीन आगम समवायांगसूत्र में स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि केवली भगवन् का आहार एवं निहार चर्मचक्षुओं से नहीं दिखाई देता है।^१ भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर को विकटभोजी (दिन में ही भोजन करने वाला) कहा गया है।^२ दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य प्राचीन ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि (६ठीं शताब्दी) में भी एकेन्द्रिय से लेकर सयोगी केवली तक सभी जीवों को आहारक माना है।^३ इससे यह फलित होता है कि ईस्वी सन् की पाँचवीं शताब्दी तक जैन परम्परा में कहीं भी केवलीभुक्ति का निषेध नहीं था। केवलीभुक्ति का सर्वप्रथम निषेध दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द के बोधपाहुड में पाया जाता है। बोधपाहुड में कुन्दकुन्द ने केवली को जरा, व्याधि, दुःख, आहार, निहार

१. "पच्छन्ने आहार-नीहारे अदिस्से मंसचक्खुणा"

—समवायांगसूत्र, ३४।२१९

२. "तेणं कालेणं तेण समयेणं समणे भगवं महावीरे विण्डभोई याऽवि होत्था।"

—व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, २/१/२१

३. "आहारानुवादेन आहारकेषु मिथ्यादृष्ट्यादीनि सयोगी केवल्यान्तानि।"

—सर्वार्थसिद्धि, १।८

(मलमूत्र), श्लेष्म, कफ, पसीना आदि से रहित बतलाया है^१। षट्-खण्डागम यद्यपि कुन्दकुन्द का समकालीन ग्रन्थ है फिर भी उसमें केवली-भुक्ति का निषेध नहीं है, अपितु मूलग्रन्थ में तो एकेन्द्रिय से लेकर सयोगी केवली तक सभी जीवों को आहारक माना है।^२

यहाँ हम देखते हैं कि पूर्व पक्ष के रूप में केवलीभुक्ति का समर्थन हमें ईस्वी पूर्व के ग्रन्थों में मिलता है जबकि केवलीभुक्ति का निषेध कुन्दकुन्द के पूर्व के किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता है। जैसा कि हम पूर्व में ही यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि कुन्दकुन्द का काल ६ ठीं शताब्दी से पूर्व का नहीं माना जा सकता है। इस आधार पर भी यही फलित होता है कि दिगम्बर परम्परा में केवलीभुक्ति निषेध की अवधारणा भी ६ठीं शताब्दी के लगभग बनो है। आचार्य कुन्दकुन्द के केवलीभुक्ति निषेधक तर्क को और गति देते हुए १० वीं-११ वीं शताब्दी के दिगम्बर आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने ग्रन्थ प्रमेयकमलमार्तण्ड में केवलीभुक्ति निषेध का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है।^३ यदि हम श्वेताम्बर परम्परा मान्य साहित्य को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि ९वीं-१०वीं शताब्दी तक भी दिगम्बरों की केवलीभुक्ति निषेधक मान्यता का कहीं कोई तार्किक खण्डन नहीं हुआ है। हमारे मतानुसार श्वेताम्बर आचार्यों को उस समय दिगम्बर मत का खण्डन करने की आवश्यकता इसलिए नहीं पड़ी होगी क्योंकि दिगम्बर परम्परा के भी सभी आचार्यों ने केवलीभुक्ति निषेधक कुन्दकुन्द के तर्कों को मान्य नहीं किया था। दसवीं शताब्दी के दिगम्बर आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने ग्रंथ गोम्मटसार में पुनः पूज्यपाद के मत का ही समर्थन करते हुए यह प्रतिपादन किया है कि एकेन्द्रिय से लेकर सयोगी केवली तक सभी जीव आहारक होते हैं।^४

१. "जरावाहिदुक्खरहियं आहारनिहारवज्जियं विमलं ।

सिहाण खेल सेओ णत्थि दुगंछा य दोसो य ।"

—बोधपाहुड, गाथा ३७-

२. "आहारा एंदियप्पहुडि जाव सजोगिकेवलि त्ति ।"

षट्खण्डागम, १/१/१७६-१७७-

३. प्रमेयकमलमार्तण्ड—अनु० आर्यिका जिनमतीजी, अध्याय ६ (कवलाहार विचार), पृ० १७७-१९९

४. थावरकाय्यहुदि सजोगिचरमेति होदि आहारी ।

—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ६९६

इस प्रकार केवलीभुक्ति के संदर्भ में दिगम्बर परम्परा में एक ओर पूज्यपाद ने सवार्थसिद्धि में, पुष्पदन्त ने षट्खण्डागम में एवं नेमिचंद्र ने गोम्मटसार में एकेन्द्रिय से लेकर सयोगी केवली पर्यन्त सभी जीवों को अहारक माना है, वहीं दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा के ही आचार्य कुन्द-कुन्द द्वारा बोधपाहुड में केवलीभुक्ति का निषेध किया गया है। एक ही परम्परा के विविध आचार्यों के परस्पर विरोधी मतों में समन्वय करने की दृष्टि से ही षट्खण्डागम के धवला टीकाकार वीरसेन (१०वीं शताब्दी) ने यह प्रतिपादन किया कि केवली कवलाहार का त्यागकर नोकर्माहार करता है।^१ वस्तुतः दिगम्बर आचार्यों की मतभिन्नता में समन्वय करने हेतु ही धवलाटीकाकार ने सर्वप्रथम आहार के ६ भेद किये—(१) कर्माहार, (२) नोकर्माहार, (३) कवलाहार, (४) लेपाहार, (५) ओजाहार और (६) मानसिकाहार। धवला टीकाकार ने आहार के ये ६ भेद करके यह कह दिया कि केवली नोकर्माहार करते हैं। नोकर्माहार का तात्पर्य उस आहार से है जो शरीर में प्रक्षिप्त नहीं किया जाता है वरन् शरीर ही ग्रहण योग्य पुद्गलों को स्वतः ग्रहीत करता रहता है।

ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर परम्परा ने भी केवली का आहार प्रत्यक्ष नहीं माना है। समवायांगसूत्र में स्पष्ट कहा गया है कि केवली का आहार चर्मचक्षुओं से दिखाई नहीं देता है। इससे तो यही फलित होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के आचार्यों में केवली के आहार को लेकर जो मतभेद दिखाई देता है वह आहार के प्रकार को लेकर है। जहाँ श्वेताम्बर कवलाहार (प्रक्षेपाहार) मानते हैं, वहीं दिगम्बर नोकर्माहार मानते हैं।

स्त्रीभुक्ति की तरह ही दिगम्बर परम्परा के केवलीभुक्ति निषेधक तर्कों का प्रत्युत्तर भी श्वेताम्बर परम्परा ने नहीं, अपितु अचेलता की समर्थक यापनीय परम्परा ने दिया है। यापनीय आचार्य शाकटायन (९वीं शताब्दी) ने “स्त्रीभुक्तिप्रकरण” की तरह “केवलीभुक्ति प्रकरण” नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना करके केवलीभुक्ति का समर्थन किया है। शाकटायन के अनुसार केवली में भुक्ति के कारण पर्याप्ति (इन्द्रियों की पूर्णता) वेदनीय कर्म, तैजस शरीर और दीर्घ आयु विद्यमान रहते हैं।^२

१. “अत्र केवललोष्ममनः कर्माहारान् परित्यज्य नोकर्माहारो ।”

—षट्खण्डागम, सूत्र १।१।१७६-१७७ की धवला टीका

२. “अस्ति च केवलीभुक्तिः समग्रहेतुर्यथा पुराभुक्तेः ।

पर्याप्ति-वेद्य-तैजस-दीर्घायुष्कोदयो हेतुः ॥”

—केवलीभुक्ति प्रकरण, श्लोक १; शाकटायन-व्याकरण, पृष्ठ १२५

अतः केवली आहार लेते हैं ।

केवलीभुक्ति के पक्ष और निषेध में जो कुछ लिखा गया है यदि हम उस पर तटस्थ भाव से विचार करें तो कह सकते हैं कि केवली भगवन् का शरीर औदारिक है इसलिए उन्हें भी आहार की आवश्यकता तो रहती ही है । फिर भले ही वह आहार कवलाहार रूप हो अथवा नोकर्माहार रूप ।

इस समग्र चर्चा के आधार पर यह फलित होता है कि श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय परम्परा में केवली के आहार को लेकर विवाद नहीं है, अपितु आहार के प्रकार को लेकर ही विवाद है ।

केवली में ज्ञान और दर्शन के भेद-अभेद का प्रश्न :

जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की दर्शन संबंधी मान्यताओं का अध्ययन करते हुए एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि केवली में दर्शन और ज्ञान क्रमशः होते हैं अथवा युगपत् (एक साथ) ? इस विषय में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर ग्रन्थों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इस सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं में पर्याप्त मतभेद हैं ।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार केवली को दो उपयोग (ज्ञान और दर्शन) एक साथ नहीं हो सकते । श्वेताम्बर परम्परा मान्य व्याख्या-प्रज्ञप्तिसूत्र में महावीर और गोतम को इस विषयक चर्चा उपलब्ध है । ज्ञान और दर्शन में क्रमभावित्व स्पष्ट करते हुए महावीर कहते हैं—“हे गोतम ! केवली का ज्ञान साकार (विशेष-ग्राहक) होता है और दर्शन अनाकार (सामान्य-ग्राहक) होता है । इसलिए ऐसा कहा गया है कि जिस समय वह देखता है उस समय वह जानता नहीं है ।”^१ आवश्यकनियुक्ति एवं विशेषावश्यकभाष्य में भी स्पष्ट कहा है—“ज्ञान और दर्शन में से एक समय में एक ही उपयोग हो सकता है, अतः केवली को भी ज्ञान और दर्शन-ये दो उपयोग युगपत् (एक साथ) नहीं हो सकते ।”^२

१. “गोयमा ! सागारे से नाणे भवति, अणगारे से दंसणे भवति, से तेणट्टेणं जाव नो तं समयं जाणइ ।”-व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, १८।८।२१ (२)

२. “नाणम्मि दंसणम्मि य एत्तो एगयरम्मि उवज्जतो ।

सव्वस्स केवलस्स जुगवं दो नत्थि उवओगा ॥”

—(क) आवश्यकनियुक्ति, गाथा ९७९

(ख) विशेषावश्यकभाष्य, गाथा ३०९६

दर्शन और ज्ञान में क्रमभावित्व की चर्चा करते हुए पं० सुखलाल जो कहते हैं कि लब्धि की अपेक्षा से केवलज्ञान और केवलदर्शन अनन्त कहे जाते हैं, किन्तु उपयोग की अपेक्षा से उनकी स्थिति एक समय की है। उपयोग की अपेक्षा से किसी भी आगम ग्रन्थ में केवलदर्शन और केवलज्ञान की अनन्तता प्रतिपादित नहीं है। वस्तुतः उपयोगों का स्वभाव ही ऐसा है कि वे क्रमशः प्रवृत्त होते हैं। इसलिए केवलदर्शन और केवलज्ञान को क्रमभावी और अलग-अलग मानना चाहिए।^१

दिगम्बर परम्परा के अनुसार केवली को दो उपयोग (ज्ञान और दर्शन) एक साथ होते हैं। दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ गोम्मटसार में ज्ञान और दर्शन में युगपत् भाव को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि सिद्ध जीवों की सिद्धगति, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यक्त्व और अनाहारकत्व उपयोग की प्रवृत्ति क्रम से नही होती अर्थात् युगपत् होती है।^२ तत्त्वार्थभाष्य में तो यहाँ तक कहा गया है कि केवली को दर्शन और ज्ञान-ये दोनों उपयोग प्रत्येक क्षण में युगपत् होते हैं।^३ नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि जैसे सूर्य में प्रकाश और ताप एक साथ रहते हैं, वैसे ही केवली में दर्शन और ज्ञान भी एक साथ रहते हैं।^४

ज्ञान और दर्शन में भेद मानकर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में क्रमशः क्रमवाद एवं युगपत्वाद के सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए। उसी क्रम में एक अन्य मत यह भी है कि केवली के ज्ञान और दर्शन में भेद होता ही नहीं है। चौथी शताब्दी के दार्शनिक आचार्य सिद्धसेन दिवाकर सन्मति-प्रकरण में लिखते हैं कि केवली अवस्था में दर्शन और ज्ञान में भेद नहीं होता।^५ उनके अनुसार दर्शन और ज्ञान में क्रमवाद अथवा युगपत्वाद

१. चौथा कर्मग्रन्थ, पृष्ठ ४३

२. "सिद्धाणं सिद्धगई, केवलनाणं दंसणं खयियं ।

सम्मत्तमणाहारं, उवजोगाणक्कमपउत्तो ॥"

—गोम्मटसार (जीवकाण्ड), गाथा ७३४

३. "एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्ना चतुर्म्यः"—तत्त्वार्थभाष्य, ११३१

४. "जुगवं वट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स दंसणं च तथा ।

दिणयरपयासतापं, जह वट्टइ तह मुण्येय्वं ॥"—नियमसार, गाथा १६०

५. "मणपज्जव्रणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स य विसो ।

केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं ॥"

—सन्मति प्रकरण, २।३ (विस्तृत विवेचन

हेतु गाथा २।२ से २।२२ तक दृष्टव्य है)

मानने पर यह मानना पड़ेगा कि केवलज्ञान का विषय मात्र विशेष को ग्रहण करना और केवलदर्शन का विषय मात्र सामान्य को ग्रहण करना है, अर्थात् क्रमवाद एवं युगपत्वाद में केवलज्ञान और केवलदर्शन-ये दोनों उपयोग, मति आदि ज्ञान की भाँति सम्पूर्ण विषय में से केवल एक अंश के ही ग्राहक होते हैं अर्थात् इन दोनों वादों में कोई भी एक उपयोग सर्व-ग्राहक नहीं होगा और ऐसी स्थिति में इनके मत में केवली सर्वज्ञ, और सर्वदर्शी नहीं माना जा सकेगा। इसलिए ज्ञान और दर्शन-इन दो उपयोगों को अलग-अलग मानना उचित नहीं है। इस प्रकार केवली के ज्ञान और दर्शन के सम्बन्ध में क्रमशः क्रमवाद, युगपत्वाद और अभेदवाद के सिद्धान्त अस्तित्व में आये। जहाँ श्वेताम्बरों में क्रमवाद और अभेदवाद ऐसी दो मान्यताएँ प्रचलित रहीं, वहाँ दिगम्बर परम्परा में युगपत्वाद का सिद्धान्त मान्य हुआ।

जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में दर्शन संबंधी भिन्नता कम है। दार्शनिक दृष्टि से श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में विवाद के मुख्य विषय तो स्त्रीभुक्ति एवं केवलीभुक्ति ही रहे हैं, जिनकी चर्चा हमने प्रस्तुत अध्याय में की है। ज्ञातव्य है कि जैनों का एक विलुप्त यापनीय सम्प्रदाय अचेलता का समर्थक होते हुए भी स्त्रीभुक्ति और केवलीभुक्ति की अवधारणा को स्वीकार करता है।



पंचम अध्याय

विभिन्न सम्प्रदायों की श्रमणाचार सम्बन्धी मान्यताएँ

आचार के भेद :

सामान्य रूप से आचार के दो भेद हैं—(१) श्रमणाचार और (२) श्रावकाचार ।

श्रमण के आचार-नियम श्रमणाचार है तथा श्रावक के आचार-नियमों को श्रावकाचार कहते हैं। जैन साहित्य में सर्वत्र श्रमण और श्रावक के आचार का तो विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है, किन्तु श्रमणी और श्राविका के आचार का उल्लेख कथंचित ही मिलता है। श्रमण-श्रमणी का आचार कुछ बातों को छोड़कर लगभग समान है इसलिये हम यहाँ श्रमणी के आचार का पृथक कथन नहीं करके श्रमण आचार के साथ ही उसका उल्लेख करेंगे और श्रमण के आचार से श्रमणी के आचार में जो क्वचित् भिन्नता है, उसका निर्देश यथास्थान कर देंगे।

श्रमण का अर्थ :

‘समण’ शब्द प्राकृत शब्द है। उसके संस्कृत रूप इस प्रकार हैं— (१) श्रमण, (२) समण और (३) शमन। ‘श्रमण’ शब्द ‘श्रम’ धातु से बना है, जिसका अर्थ परिश्रम करना है। ‘समण’ शब्द का अर्थ समता भाव से है तथा ‘शमन’ का अर्थ अपनी वृत्तियों को शान्त रखना है। इस प्रकार ‘श्रम’, ‘सम’ और ‘शम’ शब्द श्रमण संस्कृति के सार-तत्त्व हैं। आचारांग टोका में कहा गया है—“श्राम्यतीति श्रमणः-तपस्वी”^१ अर्थात् जो श्रम, तपस्या करते हैं, वे श्रमण हैं। श्रमण अनगार, अकिंचन, अपुत्र, निर्मम, अपशु तथा परदत्तभोजी होता है। आचारांगवृत्ति में इन सभी का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।^२

जैनाचार्यों ने श्रमण को अनगार, ऋषि, महर्षि, आर्य, अपरिग्रही,

१. आचारांगशीलाङ्गटीका-सं० मुनि जम्बूविजय, पृ० ४०३

२. वही, पृ० ४०२

अतिथि, अचेलक, सचेलक, तपस्वी, साधु, सन्त, मुनि एवं निग्रन्थ आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया है।

श्रमण दीक्षा :

“दीक्षा” का सामान्य अर्थ गृहस्थावस्था का त्यागकर श्रमण-श्रमणी जीवन को अपनाना है। साधक निरन्तर जगत की क्षणभंगुरता, लक्ष्मी, रूप, यौवन और शरीर की चंचलता का विचार करता हुआ आत्मकल्याण की ओर अग्रसर होता है।

साधनारत साधक वैराग्यभाव को प्राप्त कर सर्वप्रथम अपने सगे-सम्बन्धी एवं कुटुम्बीजनों को अपनी वैराग्य भावना प्रकट करके दीक्षा लेने की स्वीकृति मांगता है। उनकी स्वीकृति मिल जाने पर वह अपने गुरु की शरण में जाता है और अपना वैराग्यभाव प्रकट करके दीक्षा देने का निवेदन करता है। तत्पश्चात् गुरु उसकी वैराग्य भावना की सम्यक् प्रकार से परीक्षा करके, परिजनों की स्वीकृति ज्ञात करके, श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका रूपी चतुर्विध संघ की आज्ञा लेकर उसे दीक्षा ग्रहण कराते हैं। साधक श्रमण लिङ्ग/मृनिवेष धारण करके श्रमण जीवन को प्रतिज्ञा करते हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं को मान्य दीक्षा पाठ इस प्रकार है—

“करेमि भन्ते ! सामाझ्यं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जावज्जीवाए पज्जु-
वासामि तिविहं तिविहेणं—मणेणं, वायाएणं काएणं न करेमि, न कार-
वेमि करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि तस्सभन्ते ! पडिक्कमामि, निन्दामि,
गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ।”

इस पाठ के द्वारा साधक संकल्प करता है “हे भगवन् ! मैं सामायिक व्रत ग्रहण करता हूँ। मैं जीवन पर्यन्त मन, वचन और काया से हिंसा आदि समस्त पापों को न स्वयं करूँगा, न दूसरों से करवाऊँगा और न करते हुए का अनुमोदन करूँगा तथा पूर्व में किये गए समस्त पापों की आलोचना, निन्दा और गर्हा करता हूँ और अपनी आत्मा को उनसे विलग करता हूँ।” इस प्रकार साधक इस दीक्षा पाठ के द्वारा दीक्षा ग्रहण करता है।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में निष्पृही साधक को दीक्षा का अधिकारी माना गया है फिर भले ही वह किसी भी जाति या

कुल का क्यों न हो ? श्वेताम्बर परम्परा के मान्य आगम उत्तराध्ययनसूत्र के बारहवें अध्यायन में चाण्डाल कुलोत्पन्न हरिकेशबल नामक मुनि का उल्लेख है।^१ दिग्म्बर परम्परा में शूद्रों के लिए क्षुल्लक दीक्षा का तो विधान है^२, किन्तु योगसार में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को ही श्रमण दीक्षा का पात्र माना गया है,^३ इससे ऐसा लगता है कि दिग्म्बर परम्परा में शूद्र को श्रमण दीक्षा के योग्य नहीं माना गया है।

श्वेताम्बर परम्परा के मान्य आगम स्थानांगसूत्र और उसकी टीका में बालक, वृद्ध, नपुंसक, मूर्ख, क्लीब, योगी, चोर, डाकु, उन्मत्त, अन्धा, दास, दुष्ट, ऋणी, अपंग, बंधक, नौकर, अपहृत, गर्भिणी तथा छोटे बच्चे वाली स्त्री को दीक्षा का पात्र नहीं माना गया है।^४ दिग्म्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ भगवती आराधना में लिंग दोष के कारण दीक्षा के अयोग्य-पात्रों का विवेचन हुआ है।^५ योगसार में निन्दित कुल, कुजाति, कुदेह, कुवय, कुबुद्धि और क्रोधयुक्त मनुष्यों को दीक्षा का पात्र नहीं माना गया है।^६ बोधपाहुड में भी कुरूप, होन अंगवाले तथा कुष्ठ रागी को श्रमण दीक्षा देने का निषेध किया गया है।^७

श्वेताम्बर और दिग्म्बर दोनों परम्पराओं में दीक्षा के स्वरूप में भिन्नता है। श्वेताम्बर परम्परा में साधक को सर्वप्रथम सामायिक चारित्र की दीक्षा दी जाती है। सामायिकचारित्र रूप दीक्षा ग्रहण करके श्रमण कुछ दिनों तक अपने पात्र में स्वतन्त्र रूप से आहार लाता है और गुरु आज्ञापूर्वक स्वतन्त्र ही आहार करता है, अन्य श्रमणों के साथ नहीं। श्रमण की यह स्थिति श्वेताम्बर परम्परा में छोटी दीक्षा के रूप में जानी जाती है, किन्तु कुछ दिनों पश्चात् जब श्रमण को छेदोपस्थापनीय चारित्र की दीक्षा दे दी जाती है तो उसका आहार आदि भी अन्य श्रमणों के

१. उत्तराध्ययनसूत्र, १२/१
२. सर्वोपयोगीश्लोकसंग्रह, पृष्ठ ३०६-३०८
३. योगसार (अमितगति), श्लोक ५१
४. स्थानांगसूत्र, ३/२०२, टीका पृष्ठ १५४-१५५; उद्धृत—जैन और बौद्ध मिक्षुणी संघ, पृष्ठ १९-२०
५. भगवती आराधना, गाथा ७७-८० (विजयोदया टीका)
६. योगसार, श्लोक ५१-५२
७. बोधपाहुड, गाथा ४९

साथ विधिवत् होने लगता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस परम्परा में श्रमण की सामायिकचारित्ररूप दीक्षा अथवा छेदोपस्थापनीयचारित्ररूप दीक्षा में वस्त्र, पात्र, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि बाह्य एवं समस्त अभ्यन्तर उपधि की मात्रा में कोई अन्तर नहीं है। इस परम्परानुसार कुछ दिन स्वतन्त्र भिक्षाचर्या और आहार करने के पश्चात् श्रमण को छेदोपस्थापनीयचारित्ररूप दीक्षा देने का कारण उसकी श्रमणोचित भावना एवं व्यवहार से पूरी तरह आश्वस्त हो जाना ही है। श्रमण को महान्तों का आरोपण भी छेदोपस्थापनीयचारित्र ग्रहण कराते समय ही कराया जाता है।

दिगम्बर परम्परा में दीक्षा के तीन सोपान बतलाये गए हैं—

१. क्षुल्लक :

पण्डित आशाधर ने सागार धर्माभूत में क्षुल्लक के आचार का विस्तार से उल्लेख करते हुए लिखा है कि क्षुल्लक यतनापूर्वक गमन, यतनापूर्वक शयन तथा विशुद्ध आहार ग्रहण करता है। क्षुल्लक एक लंगोट और दुपट्टा रखता है। क्षुल्लक पात्र अथवा हाथ में चाहे जिसमें भोजन ग्रहण कर सकता है। केशलोंच स्वयं कर सकता है तथा दूसरों से करवा भी सकता है।^१ जीवहिंसा से बचने के लिए क्षुल्लक मयूर पिच्छी रखता है तथा शोचोपकरण के रूप में वह कमण्डलु रखता है। क्षुल्लक दिगम्बर परम्परा में मुनि की प्रथम अवस्था है।

२. ऐलक :

क्षुल्लक और श्रमण के मध्य की अवस्था का नाम ऐलक है। ऐलक एकमात्र लंगोटी धारण करता है। ऐलक पात्र में आहार ग्रहण नहीं करता है। केशलोंच भी स्वयं ही करता है, किसी अन्य से केशलोंच नहीं करवाता है। जीव हिंसा से बचने के लिए ऐलक मयूर पिच्छी धारण करता है तथा शोचोपकरण के रूप में कमण्डलु रखता है।^२

३. श्रमण :

दिगम्बर परम्परा में सामान्यतया सीधे कोई श्रमण नहीं बन जाता है। साधक क्षुल्लक, ऐलक की अवस्था को पार करके ही श्रमण बन सकता है। यह अलग बात है कि इस परम्परा में भी सीधे मुनि दीक्षा

१. सागार धर्माभूत, ७/३८-४७

२. वही, ७/४८

देने के भी उल्लेख मिलते हैं लेकिन परम्परागत मान्यता तो यही है कि साधक को श्रमण बनने के लिए पहले क्षुल्लक और फिर ऐलक की अवस्था को पार करना होता है। इस परम्परानुसार श्रमण अट्ठाईस मूलगुणों का धारक होता है, जिनकी चर्चा हम यथास्थान आगे के पृष्ठों में करेंगे।

दिगम्बर परम्परा में क्षुल्लक, ऐलक और श्रमण दीक्षा में से कोई भी दीक्षा ऐसी नहीं है, जो आचार्य की आज्ञा के बिना ग्रहण की जाती हो। आचार्य दीक्षार्थी को प्रत्येक दीक्षा मुनि संघ एवं श्रावक-श्राविकाओं के सम्मुख एवं उनकी सहमति से ही देता है।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में दीक्षा की विधि में भेद अवश्य है, किन्तु दोनों परम्पराओं ने दीक्षा का व्यापक अर्थ पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति तथा क्षमा, वीरागता आदि का पालन एवं पंचेन्द्रिय-निग्रह तथा चार कषायों का त्याग, पादविहार, केशलोच एवं भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करना ही किया है। साथ ही दोनों परम्पराओं ने स्वाध्याय, ध्यान और तप को श्रमण जीवन के अंग माने हैं।

श्वेताम्बर परम्परानुसार श्रमण के मूलगुण :

श्रमणधर्म की आधारशिला मूलगुणों पर ही अवस्थित है। मूलगुणों का पालन ही श्रमण जीवन का उत्स है। जिस प्रकार मूल (जड़) के बिना वृक्ष स्थित नहीं रह सकता है उसी प्रकार मूलगुणों के अभाव में श्रमण जीवन भी स्थित नहीं रह सकता है। मूलगुण श्रमण साधना के सोपान हैं। चारित्र्य की शुद्धि मूलगुणों के पालन से ही प्रबल होती है।

श्रमण दीक्षा को धारण करके मूलगुणों का नियमपूर्वक पालन करता है। मूलगुणों की संख्या एवं नाम को लेकर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर-दोनों परम्पराओं में मतभेद है।

श्वेताम्बर परम्परानुसार श्रमण के मूलगुणों की निर्धारित संख्या सत्ताईस है। समवायांगसूत्र में उल्लिखित सत्ताईस गुण इस प्रकार हैं^१—
पाँच महाव्रत :

(१) प्राणातिपात-विरमण, (२) मृषावाद-विरमण, (३) अदत्तादान-विरमण, (४) मैथुन-विरमण, (५) परिग्रह-विरमण,

१६० : जैनधर्म के सम्प्रदाय

पाँच इन्द्रिय-निग्रह :

(६) श्रोत्रेन्द्रिय-निग्रह, (७) चक्षुरिन्द्रिय-निग्रह, (८) घ्राणेन्द्रिय-निग्रह,
(९) जिह्वेन्द्रिय-निग्रह, (१०) स्पर्शनेन्द्रिय-निग्रह,

चार कषाय विवेक :

(११) क्रोध विवेक, (१२) मान विवेक, (१३) माया विवेक, (१४) लोभ विवेक,

तीन सत्य :

(१५) भाव सत्य, (१६) करण सत्य, (१७) योग सत्य,

शेष मूलगुण :

(१८) क्षमा, (१९) विरागता, (२०) मन समाधारणता, (२१) वचन समाधारणता, (२२) कायसमाधारणता, (२३) ज्ञान सम्पन्नता, (२४) दर्शन सम्पन्नता, (२५) चारित्र्य सम्पन्नता, (२६) वेदनातिसहनता और (२७) मारणान्तिकातिसहनता ।

द्विगम्बर परम्परानुसार श्रमण के मूलगुण :

द्विगम्बर परम्परानुसार श्रमण के मूलगुणों की संख्या अट्ठाईस है।^१ इस परम्परा के मान्य ग्रन्थ मूलाचार में श्रमण के अट्ठाईस मूलगुण इस प्रकार उल्लिखित हैं २—

पाँच महाव्रत—(१) हिंसा विरति (अहिंसा), (२) सत्य, (३) अदत्त-परिवर्जन (अस्तेय), (४) ब्रह्मचर्य, (५) संगविमुक्ति (अपरिग्रह),

पाँच समिति—(६) ईर्या समिति, (७) भाषा समिति, (८) एषणा समिति, (९) आदान निक्षेपण समिति, (१०) प्रतिष्ठापनिका समिति,

पंचेन्द्रिय निरोध—(११) चक्षुरिन्द्रिय निरोध, (१२) श्रोत्रेन्द्रिय निरोध, (१३) घ्राणेन्द्रिय निरोध, (१४) रसनेन्द्रिय निरोध, (१५) स्पर्शनेन्द्रिय निरोध,

१. “पंचय महव्वयाइं समिदोओ पंच जिणवरूद्धिठ्ठा ।

पंचोबिदयरोहा छप्पि य आवासया लोओ ॥

आचेलकमण्हाणं खिदियसयणमदंतघंसणं चव ।

ठिदि भोगण्यभत्तं मूलगुणा अट्ठवीसा दु ॥”

—मूलाचार, गाथा २०३:

२. वही, गाथा ४, १६, २२, २९-३५

षड्भावश्यक—(१६) समता, (१७) स्तव, (१८) वन्दना, (१९) प्रति-
क्रमण, (२०) प्रत्याख्यान, (२१) व्युत्सर्ग,

शेष मूलगुण—(२२) केशलोच (२३) अचेलकत्व, (२४) अस्नान,
(२५) क्षितिशयन, (२६) अदन्तधावन, (२७) स्थितभोजन और (२८)
एकभक्त व्रत ।

महाव्रत :

श्रमण के मूलगुणों में पाँच महाव्रत प्रमुख हैं। श्रमण के समस्त
आचार-विचार एवं व्यवहार का नियन्त्रक तत्त्व उसके महाव्रत हैं। इस-
लिए जैन आचार्यों ने महाव्रतों पर विशेष बल दिया है। प्राणातिपात
विरमण आदि पाँच व्रतों को महाव्रत कहा गया है। नन्दीसूत्र तथा आव-
श्यकनियुक्ति में इन पाँच महाव्रतों को महान सिद्धि का कारण बतलाया
गया है।^१ पाँच महाव्रतों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्राणातिपात विरमणव्रत (अहिंसा) :

यह प्रथम महाव्रत है। इस व्रत के अनुसार श्रमण बाह्य एवं अभ्य-
न्तर दोनों ही प्रकार की समस्त हिंसा से विरत होता है। वह षट्कायिक
जीवों की रक्षा करने हेतु सदैव तत्पर रहता है। आचारांगसूत्र के प्रथम
श्रुतस्कन्ध के शस्त्रपरिज्ञा नामक अध्ययन में साधक को प्रतिबोधित करते
हुए कहा गया है कि जो जितेन्द्रिय, अप्रमत्त और संयमी हैं, वे महापुरुष
षट्कायिक जीवों की हिंसा से विरत होकर आत्महित की ओर प्रवृत्त
होते हैं।^२

दशवैकालिकसूत्र में प्राणातिपात विरमण व्रत को स्पष्ट करते हुए
कहा गया है कि जगत में जितने भी त्रस और स्थावर जीव हैं, श्रमण
उनकी हिंसा से विरत रहता है। श्रमण न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों
से हिंसा करवाता है और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन ही करता
है।^३ मूलाचार में प्राणातिपात विरमण व्रत के स्थान पर हिंसा विरति
शब्द का प्रयोग हुआ है।^४

काम, क्रोध, कषाय, लोभ आदि दूषित वृत्तियों के द्वारा आत्मा के

१. (क) नन्दीसूत्र-हरिभद्रवृत्ति, पृष्ठ ८

(ख) आवश्यकनियुक्ति-हरिभद्रवृत्ति, पृष्ठ ११९७

२. आचारांगसूत्र, १।१।४।३३

३. दशवैकालिकसूत्र ४।४२, ६।९

४. मूलाचार, गाथा ४

स्वगुणों का घात करना स्व-हिंसा है और अपने से इतर प्राणियों को मन, वचन, एवं काया किसी भी प्रकार से कष्ट पहुँचाना पर-हिंसा है। श्रमण 'स्व' और 'पर' दोनों प्रकार की हिंसा से सदैव विरत रहता है। प्रश्न-व्याकरणसूत्र में हिंसा के तीस और अहिंसा के साठ नामों का उल्लेख मिलता है।^१

अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ :

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में महाव्रतों के स्वरूप सम्बन्धी कोई मतभेद नहीं है, किन्तु पाँचों व्रतों की स्थिरता के लिए जो पाँच-पाँच भावनाएँ बतलाई हैं, उनमें कथंचित् भेद हैं, जो दृष्टव्य है।

श्वेताम्बर परम्परा के मान्य आगम आचारांगसूत्र में अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं—^२

१-ईर्यासमिति, २-मनोगुप्ति, ३-त्रचन गुप्ति ४-आदान-भाण्ड निक्षेपण समिति और ५-आलोकित पान भोजन।

समवायांगसूत्र में भी अहिंसा महाव्रत की पाँचों भावनाएँ तो ये ही हैं, किन्तु वहाँ अन्तिम दो भावनाओं के क्रम में अन्तर है। समवायांग-सूत्र में अहिंसाव्रत की चौथी भावना आलोकित पान भोजन है तथा आदान-भाण्ड निक्षेपण समिति वहाँ इस व्रत की पाँचवीं भावना बतलाई गई है।^३

तत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धि मान्य पाठ में अहिंसा महाव्रत की पाँच भावनाएँ आचारांगसूत्र के समान ही हैं।^४ मूलाचार में भी अहिंसाव्रत की पाँच भावनाएँ तो ये ही बतलाई गई हैं, किन्तु वहाँ इनका क्रम इस प्रकार है—^५

१-एषणा समिति, २-आदान निक्षेपण समिति ३-ईर्यासमिति, ४-मनोगुप्ति और ५-आलोकित भोजन।

इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में इनके नामों को लेकर कोई भिन्नता नहीं है—केवल क्रम को लेकर ही भिन्नता है। न तो श्वे-

१. प्रश्नव्याकरणसूत्र १।१।३, २।१।१०७

२. आचारांगसूत्र, २।१।५।७७८

३. समवायांगसूत्र, २।५।१६६

४. सर्वार्थसिद्धि, ७।४

५. मूलाचार, गाथा, ३३७

ताम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में क्रम समान है और न ही दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थों में समान क्रम अपनाया गया है। अतः यह कहा जा सकता है कि क्रम संबंधी यह भिन्नता भिन्न-भिन्न आचार्यों की कथन शैली की भिन्नता के कारण हुई होगी।

मृषावाद विरमण व्रत (सत्य) :

सत्य महाव्रत के अन्तर्गत श्रमण मन, वचन और काया तथा कृत-कारित और अनुमोदन की नव कोटियों सहित असत्य का परित्याग करता है। आचारांगसूत्र में सत्य को भलीभांति समझने तथा तदनुसार प्रवृत्ति करने की प्रेरणा दी गई है।^१ दशवैकालिकसूत्र में मृषावाद विरमणव्रत का कथन करते हुए कहा गया है—श्रमण क्रोध, लोभ, भय या हास्य से न स्वयं मृषा (असत्य) बोलता है, न दूसरों से मृषा बुलवाता है और न ही दूसरों के मृषा कथन का अनुमोदन करता है।^२ जो वस्तु जैसी देखी, सुनी या समझी है, उसे उसी रूप में व्यक्त करना इस महाव्रत की विशेषता है।

सत्य महाव्रत की व्याख्या करते हुए मूलाचार में कहा गया है कि श्रमण को ऐसे सत्य वचनों का भी त्याग कर देना चाहिए जिससे दूसरे प्राणियों को पीड़ा पहुँचती हो।^३ कहने का तात्पर्य यह है कि जिस भाषा के प्रयोग से किसी भी प्राणी को पीड़ा होने की सम्भावना हो, ऐसी भाषा का प्रयोग श्रमण को नहीं करना चाहिए।

सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ :

आचारांगसूत्र तथा समवायांगसूत्र में सत्यव्रत की पाँच भावनाएँ इस प्रकार उल्लिखित हैं^४—(१) अनुवोचिभाषण, (२) क्रोधविवेक, (३) लोभ विवेक, (४) भय विवेक और (५) हास्य विवेक।

मूलाचार तथा सर्वार्थसिद्धि में सत्यव्रत की पाँचों भावनाओं के नाम तो ये ही बतलाए गये हैं, किन्तु इन दोनों ग्रन्थों में अनुवोचिभाषण को पहले क्रम पर नहीं रखकर पाँचवें क्रम पर रखा गया है।^५

१. “पुरिसा सच्चमेव समभिजाणहि” —आचारांगसूत्र, १।३।३।१२७

२. दशवैकालिकसूत्र, ४।४३, ६।१२

३. “रागादीहि असच्चं चत्ता परतावसच्चवयणुत्ति”

—मूलाचार, गाथा ६

४. (क) आचारांगसूत्र, २।१५।७८१

(ख) समवायांगसूत्र, २५।१६६

५. (क) मूलाचार, गाथा ३३८

(ख) सर्वार्थसिद्धि, ७।५

इस प्रकार स्पष्ट है कि श्वेताम्बर एवं दिग्म्बर परम्परा में सत्य-महाव्रत की पाँचों भावनाओं के नाम तो समान हैं, केवल उनके क्रम में ही आंशिक भिन्नता है।

अदत्तादान विरमण व्रत (अस्तेय) :

अस्तेय महाव्रत के रूप में प्रचलित अदत्तादान विरमण व्रत श्रमण का तीसरा महाव्रत है। बिना दी हुई वस्तु को उठाना, लेना या उपभोग करना अदत्तादान है। श्रमण सभी प्रकार के अदत्तादान से विरत रहता है। इस व्रत का पालन करते हुए श्रमण गाँव, नगर अथवा अरण्य में भी अल्प-बहुत्व, सूक्ष्म-स्थूल, सचित्त-अचित्त किसी भी अदत्तवस्तु को न स्वयं ग्रहण करता है, न दूसरों से ग्रहण करवाता है और न ही अदत्त वस्तु को ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करता है।^१ दशवैकालिकसूत्र में तो यहाँ तक कहा है कि श्रमण बिना स्वामी की आज्ञा के दन्तशोधन (तिनका) मात्र भी ग्रहण नहीं करे।^२

अवस्तादान व्रत की पाँच भावनाएँ :

आचारांगसूत्र के अनुसार अदत्तादान व्रत की पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं^३—(१) परिमित अवग्रह, (२) साधारण भक्त पान-अनुज्ञाप्य परिभुंजनता, (३) अवग्रहसीमज्ञापनता, (४) अवग्रहशीलअनुग्रहणता और (५) साधार्मिक अवग्रह अनुज्ञापनता।

समवायांगसूत्र में उल्लिखित अदत्तादानव्रत की पाँचों भावनाओं के नाम लगभग ये ही हैं, किन्तु वहाँ इनके क्रम इस प्रकार उल्लिखित हैं^४—(१) अवग्रह अनुज्ञापनता, (२) अवग्रहसीम-ज्ञापनता, (३) स्वमेय अवग्रह-अनुग्रहणता, (४) साधार्मिक अवग्रह-अनुज्ञापनता और (५) साधारण भक्त-पान-अनुज्ञाप्य परिभुंजनता।

मूलाचार के अनुसार अदत्तादानव्रत की पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं^५—(१) याचना, (२) समनुज्ञापनता, (३) अकनत्व का अभाव, (४)

-
१. (क) दशवैकालिकसूत्र, ४।४४ (ख) मूलाचार, गाथा ७
 २. दशवैकालिकसूत्र, ६।१४
 ३. आचारांगसूत्र, २।१५।७८४
 ४. समवायांगसूत्र, २५।१६६
 ५. मूलाचार, गाथा ३३९

व्यक्त प्रतिसेवना और (५) सार्धमिकों के उपकरण का उनके अनुकूल सेवन ।

सर्वार्थसिद्धि में इस व्रत की पाँच भावनाएँ इस प्रकार बतलाई गई हैं—(१) शून्यागारावास, (२) विमोचितावास, (३) परोपरोधाकरण, (४) भैक्षशुद्धि और (५) सधर्माविसंवाद ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अदत्तादान व्रत की पाँचों भावनाओं के नाम एवं क्रम को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में क्वचित अन्तर है ।

मैथुन विरमण व्रत (ब्रह्मचर्य) :

यद्यपि महाव्रतों के क्रम में यह व्रत चौथे स्थान पर है, किन्तु प्रश्न-व्याकरणसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य व्रत के नष्ट हो जाने पर अन्य सभी व्रत भी नष्ट हो जाते हैं।^२ आचारांगसूत्र में ब्रह्मचर्य विवेक का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है।^३ समवायांगसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य महाव्रत की रक्षा के लिए श्रमण स्त्री, पशु, नपुंसक तथा दुराचारी मनुष्यों के सम्पर्क वाले स्थान पर सोने या बैठने का त्याग करे तथा स्त्रियों की राग-वर्धक कथाओं का और उनके मनोहर अंगोपांगों को सुनने तथा देखने का त्याग करे। ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि इस व्रत की रक्षा के लिए श्रमण पौष्टिक, गरिष्ठ एवं रस-बहुल आहार-पान का भी त्याग करे।^४ श्रमणाचार का विवेचन करने वाले सभी ग्रन्थों में श्रमण को सर्वप्रकार के मैथुन सेवन से विरत रहने की प्रेरणा दी गई है ।

तंदुलवैचारिक प्रकीर्णक में भी स्त्रियों को कुटिल, व्याकुल चित्त-बाली, दुराचारिणी आदि कहकर उनको निन्दनीय रूप में प्रस्तुत किया गया है।^५ वस्तुतः यह व्यक्ति को वैराग्य एवं निवृत्ति की ओर ले जाने के लिए ही कहा गया है। ग्रन्थ में जो भी निन्दा की गई है उसका मूल प्रयोजन व्यक्ति की कामासक्ति को समाप्त करना ही है ।

१. सर्वार्थसिद्धि, ७।६

२. प्रश्नव्याकरणसूत्र, १।४।९०

३. आचारांगसूत्र, १।५।४।१६४

४. समवायांगसूत्र, २।५।१६६

५. मुनि पुण्यविजय-पद्मण्यसुताहं-तंदुलवैयालियपद्मण्यं, गाथा १५४-१६७

दशवैकालिकसूत्र में मैथुन विरमण व्रत का कथन करते हुए कहा है कि न तो श्रमण स्वयं मैथुन का सेवन करें, न दूसरों से मैथुन सेवन करवाएँ और न मैथुन सेवन करने वाले दूसरे लोगों का अनुमोदन ही करें,^१ क्योंकि अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महादोषों का पुंज है इसलिए निर्ग्रन्थ (साधु-साध्वी) मैथुन के संसर्ग का त्याग करते हैं।^२

ब्रह्मचर्यव्रत का स्वरूप बतलाते हुए मूलाचार में कहा गया है कि स्त्रियों को और उनके प्रतिरूप (चित्रों) को माता, पुत्री और बहन के समान देखकर जो स्त्रीकथा आदि से निवृत्ति है, वह ब्रह्मचर्य व्रत तीनों लोकों में पूज्य होता है।^३

ब्रह्मचर्यव्रत की पांच भावनाएँ :

आचारांगसूत्र में ब्रह्मचर्यव्रत की पांच भावनाएँ इस प्रकार बतलाई गई हैं।^४—१-स्त्रीकथा विवर्जनता, २-स्त्री अंग आलोकन विवर्जनता, ३. पूर्वरत (पूर्वक्रीड़ा) अननुस्मरणता, ४. प्रणीत भोजन-पान विवर्जनता और ५. स्त्री, पशु, नपुंसक संसक्त शयन-आसन विवर्जनता।

समवायांगसूत्र में भी ब्रह्मचर्यव्रत की पाँचों भावनाओं के नाम तो ये ही बतलाए गए हैं, किन्तु वहाँ इनका क्रम इस प्रकार है^५—१. स्त्री, पशु, नपुंसक संसक्त शयन आसन विवर्जनता, २. स्त्री कथा विवर्जनता, ३. स्त्री अंग आलोकन विवर्जनता, ४. पूर्वरत-पूर्वक्रीड़ा अनुस्मरणता और ५. प्रणीत आहार विवर्जनता।

मूलाचार में भी इस व्रत की पाँचों भावनाएँ इसी प्रकार बतलाई गयी हैं^६—१. स्त्रियों का अवलोकन विवर्जन, २. पूर्वभोगों का स्मरण विवर्जन, ३. संसक्त वसतिका से विरति, ४. विकथा से विरति तथा ५. प्रणीत रसों से विरति।

१. दशवैकालिकसूत्र, ४।४५

२. "मूलमेयमहम्मस्त, महादोससमुस्तयं।

तम्हा मेहुणसंसर्गं निग्गंथा वज्जयंति ण ॥" —दशवैकालिकसूत्र, ६।१६

३. मूलाचार, गाथा ८

४. आचारांगसूत्र, २।१५।७८७

५. समवायांगसूत्र, २५।१६६

६. मूलाचार, गाथा ३४०

सर्वार्थसिद्धि में इस व्रत की जो पाँच भावनाएँ बतलाई गई हैं उसमें से चार भावनाओं के नाम तो मूलाचार के समान ही हैं, किन्तु मूलाचार में उल्लिखित 'संसक्त वसतिका से विरति' भावना के स्थान पर यहाँ 'स्वशरीर संस्कार का त्याग' यह भावना उल्लिखित है।^१ पुनः मूलाचार और राजवार्तिक में इस व्रत की जो पाँचों भावनाएँ उल्लिखित हैं, उनके क्रम में भी भिन्नता है।

इस व्रत की पाँचों भावनाओं के नामों को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में कोई विशेष भेद नहीं है केवल इनके क्रम को लेकर ही क्वचित् भिन्नता दिखाई देती है।

परिग्रह परिमाणव्रत (अपरिग्रह)

श्रमण बाह्य एवं अभ्यन्तर दोनों ही प्रकार के परिग्रह से मुक्त होता है। श्रमण मन, वचन एवं काया से न स्वयं परिग्रह करता है, न दूसरों से परिग्रह करवाता है, न ही परिग्रह करने वालों का अनुमोदन करता है।^२ वैसे श्रमण के लिए अल्प-बहुत्व, सूक्ष्म-स्थूल, सचित्त-अचित्त सभी प्रकार का परिग्रह त्याज्य है, किन्तु आचारांगसूत्र में श्रमण को संयमोपयोगी सीमित उपकरण, यथा-वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोच्छन और कटासन (चटाई) रखने की स्वीकृति तो दी गई है लेकिन साथ ही ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि श्रमण को इन धर्मोपकरणों पर भी ममत्व नहीं रखना चाहिए।^३ आचारांगसूत्र में परिग्रह त्याग की प्रेरणा देने के लिए परिग्रह को महाभय का कारण बतलाया है।^४

दशवैकालिकसूत्र में कहा गया है कि श्रमण वस्त्र, पात्र आदि जो धर्मोपकरण रखते हैं, वे संयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते हैं इन धर्मोपकरणों को ज्ञातपुत्र (महावीर) ने परिग्रह नहीं कहा है, वस्तुतः मूर्च्छा ही परिग्रह है।^५ दिगम्बर परम्परा में यद्यपि श्रमण को

१. सर्वार्थसिद्धि, ७।७

२. दशवैकालिकसूत्र, ४।४६

३. आचारांगसूत्र, १।२।५।८९

४. "एतद्द्वेर्गोसि महत्भयं भवति"

—आचारांगसूत्र, १।५।२।१५४

५. "न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।

"मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा।"

१६८ : जैनधर्म के सम्प्रदाय

धर्मोपकरण, ज्ञानोपकरण और शौचोपकरण रखने की स्वीकृति दी है, किन्तु श्रमणों द्वारा धारण किये जाने वाले सीमित वस्त्रों को उन्होंने परिग्रह माना है।

अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ :

पाँचों इन्द्रियों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच प्रकार के विषय हैं। इनमें राग-द्वेष नहीं करना—ये अपरिग्रह महाव्रत की पाँच भावनाएँ हैं। आचारांगसूत्र^१, समवायांगसूत्र^२, मूलाचार^३ तथा सर्वार्थ-सिद्धि^४ आदि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा मान्य ग्रन्थों में पाँचों इन्द्रियों के मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में क्रमशः राग और द्वेष का त्याग करना, अपरिग्रहव्रत की पाँच भावनाएँ मानी गई हैं।

इन्द्रिय-निग्रह :

कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन—ये पाँच इन्द्रियाँ हैं। इन पाँचों इन्द्रियों के विषय मनोज्ञ और अमनोज्ञ हैं। इन्द्रियाँ अपनी विषय प्रवृत्ति द्वारा आत्मा को राग-द्वेष युक्त करती हैं। प्रत्येक इन्द्रिय को अपने-अपने विषय की प्रवृत्ति से रोकना इन्द्रिय-निग्रह है।

आचारांगसूत्र^५, समवायांगसूत्र^६, उत्तराध्ययनसूत्र^७, मूलाचार^८, पंचास्तिकाय^९ आदि ग्रंथों में पाँचों इन्द्रियों को राग-द्वेष बढ़ाने वाली मानते हुए महाव्रती के लिए इनके विषय में प्रवृत्ति करने का निषेध किया गया है।

श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह :

जिसके द्वारा सुना जाता है, वह श्रोत्रेन्द्रिय है। श्रोत्रेन्द्रिय को विषयों

१. आचारांगसूत्र, २।१५।७९०
२. समवायांगसूत्र, २५।१६६
३. मूलाचार, गाथा ३४१
४. सर्वार्थसिद्धि, ७।८
५. आचारांगसूत्र, २।१५।७९०
६. समवायांगसूत्र, समवाय २५
७. उत्तराध्ययनसूत्र, ३२।२२-८६
८. मूलाचार, गाथा १७-२१
९. पंचास्तिकाय, गाथा १०९-१३०

की ओर दौड़ने से रोकना तथा श्रोत्रेन्द्रिय विषयों में राग-द्वेष नहीं करना श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह है।^१

मूलाचार में श्रोत्रेन्द्रिय निग्रह का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि षडज, ऋषभ, गान्धार आदि शब्द और वीणा आदि अजीव से उत्पन्न हुए शब्द—ये सभी रागादि के निमित्त हैं। इनको नहीं करना कर्णेन्द्रिय निग्रहव्रत है।^२

चक्षुरिन्द्रिय निग्रह :

चक्षु रूप का ग्रहण करता है। रूप यदि सुन्दर है तो राग का हेतु है और असुन्दर है तो द्वेष का हेतु। जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ रूप राग और द्वेष नहीं करके समभाव रखता है, वह वीतरागी है।^३

मूलाचार में चक्षुनिग्रह के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है कि सचेतन और अचेतन पदार्थों की क्रिया, आकार और वर्ण के भेदों में मुनि के जो राग-द्वेष आदि का त्याग है, वह चक्षुनिग्रहव्रत है।^४

घ्राणेन्द्रिय निग्रह :

जिस इन्द्रिय के द्वारा गन्ध का अनुभव होता है, वह घ्राणेन्द्रिय है। जगत के समस्त पदार्थ मनोज्ञ और अमनोज्ञ गन्ध से युक्त होते हैं। मनोज्ञ गन्ध के प्रति राग और अमनोज्ञ गन्ध के प्रति द्वेष नहीं रखकर जो इन दोनों में समभाव से रहता है, वह वीतरागी है।^५

मूलाचार में घ्राणेन्द्रिय निग्रह का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि जीव और अजीव स्वरूप सुख और दुःख रूप प्राकृतिक तथा पर-नेमित्तिक गन्ध में राग-द्वेष नहीं करना श्रमणाचार का घ्राणेन्द्रियनिग्रह व्रत है।^६

जिह्वेन्द्रिय-निग्रह :

जिस इन्द्रिय के द्वारा स्वाद का अनुभव किया जाता है, वह जिह्वेन्द्रिय है। जिह्वेन्द्रिय को रसनेन्द्रिय भी कहते हैं। जो रस राग का

१. उत्तराध्ययनसूत्र, ३२।३५-४७
२. मूलाचार, गाथा १८
३. उत्तराध्ययनसूत्र, ३२।२२
४. मूलाचार, गाथा १७
५. उत्तराध्ययनसूत्र, ३२।४६
६. मूलाचार, गाथा १९

कारण है, उसे मनोज्ञ कहते हैं और जो रस द्वेष का कारण है, उसे अमनोज्ञ कहते हैं। मनोज्ञ-अमनोज्ञ रसों में जो राग-द्वेष नहीं रखकर समभाव से रहता है, वह वीतरागी है।^१

मूलाचार में जिह्वेन्द्रिय निग्रह का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा है कि अशन आदि चार भेद रूप, पंच रस युक्त, प्रासुक, निर्दोष, दूसरों के द्वारा दिये गये रुचिकर अथवा अरुचिकर आहार में गृद्धि नहीं करना जिह्वेन्द्रिय निग्रह व्रत है।^२

स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह :

काय (शरीर) के ग्राह्य विषय को स्पर्श कहते हैं। जो स्पर्श राग का कारण है वह मनोज्ञ है और जो स्पर्श द्वेष का कारण है वह अमनोज्ञ है। मनोज्ञ-अमनोज्ञ रूप स्पर्शनेन्द्रिय विषयों में जो राग-द्वेष नहीं करके समभावपूर्वक रहता है, वह वीतरागी है।^३ उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि स्पर्श से विरक्त मनुष्य ही शोकरहित होता है। वह संसार में रहता हुआ भी दुःख परंपरा से वैसे ही लिप्त नहीं होता है जैसे जलाशय में रहते हुए भी कमल का पत्ता जल से लिप्त नहीं होता है।^४

मूलाचार में स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा है कि जीव-अजीव से उत्पन्न कठोर, कोमल, शीत, ऊष्ण, चिकने, रुखे, भारी और हल्के-इन आठ भेदों से युक्त सुख और दुःख रूप स्पर्श का निरोध करना स्पर्शनेन्द्रिय निग्रह है।^५

कषाय :

जो शुद्ध स्वरूप वाली आत्मा को क्लृप्ति करते हैं अर्थात् कर्ममल से मलीन करते हैं, वे कषाय हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जिससे जीव पुनः-पुनः जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है, वह कषाय है। कषाय मुख्य रूप से चार हैं—^६ (१) क्रोध कषाय (२) मान कषाय (३)

१. उत्तराध्ययनसूत्र, ३२।६१

२. मूलाचार, गाथा २०

३. उत्तराध्ययनसूत्र, ३२।७४

४. वही, ३२।७३

५. मूलाचार, गाथा २१

६. (क) स्थानांगसूत्र, ४।१।७५ (ख) समवायांगसूत्र, ४।२०

(ग) प्रज्ञापनासूत्र, २८।७

माया कषाय और (४) लोभ कषाय। श्रमण चारों प्रकार के कषायों से सर्वथा विरत रहता है। समवायांगसूत्र में चारों कषायों के विवेक को श्रमण का मूलगुण माना गया है।^१

भाव सत्य :

हिंसा आदि दोषों से रहित वचन बोलना भाव सत्य है। धर्मवृद्धि के लिए श्रमण सदैव ही स्व-परहितकारक, परिमित एवं अमृत सदृश जो वचन-व्यवहार करता है, वह भाव सत्य है। यदि कोई शिकारी किसी श्रमण से पूछे कि क्या आपने इधर हिरण देखा है? प्रत्युत्तर में यदि श्रमण यह कहे कि मैंने इधर हिरण नहीं देखा है, तो श्रमण का यह कथन भी असत्य नहीं है, अपितु जीव-रक्षा के कारण इसे भाव सत्य माना गया है।

भाव सत्य से जीव क्या प्राप्त करता है? इस सन्दर्भ में उत्तराध्ययन-सूत्र में कहा गया है कि भाव सत्य से जीव भाव विशुद्धि प्राप्त करता है तथा शुद्ध भाव वाला जीव अर्हन्त प्रणीत धर्म की आराधना करता है।^२

करण सत्य :

करण सत्य में श्रमण की उपधि की पवित्रता पर बल दिया गया है। विविध प्रकार के उपकरणों को रखने, उठाने आदि में श्रमण का हिंसादि-वृत्ति से रहित जो व्यवहार है, वह करण सत्य है।

उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि करण सत्य से जीव सत्प्रवृत्ति करता है और सत्प्रवृत्ति वाला जीव जैसा कहता है वैसा ही करने वाला होता है।^३

योग सत्य :

मन, वचन एवं काय की प्रवृत्तियों को योग कहा गया है। इन तीनों प्रवृत्तियों को सत्यनिष्ठ बनाना अर्थात् इनमें प्रवंचना या छल नहीं करना योग सत्य है।

क्षमा :

श्रमण क्वचित् क्रोध का कारण उपस्थित हो जाए तो भी समभाव को धारण किये रहता है। समभाव से युक्त श्रमण सदैव क्षमारूपी अमृत का ही पान करते हैं। उत्तराध्ययनसूत्र के सम्यक्त्व-पराक्रम नामक उनतीसवें

१. समवायांगसूत्र, २७।१७८

२. उत्तराध्ययनसूत्र, २९।५१

३. वही, २९।५२

१७२ : जैनधर्म के सम्प्रदाय

अध्ययन में क्षमापना से लाभ का कथन करते हुए कहा है कि क्षमा से जीव आनन्दभाव को प्राप्त करता है और आनन्दभाव से सम्पन्न साधक प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव को प्राप्त करता है, जो आत्म विशुद्धि का कारण बनता है।^१ उत्तराध्ययनसूत्र में यह भी कहा है कि साधक क्षमा से परिषर्हों को जीत लेता है।^२

विरागता :

विरागता का अर्थ राग या ममत्व से रहित होना है। विरागता से साधक स्नेहानुबन्धनों तथा तृणानुबन्धनों का विच्छेद कर देता है तथा मनोज्ञ शब्द, स्पर्श, रस, गन्ध और सच्चित्त, अचित्त एवं मिश्र द्रव्यों से विरक्त हो जाता है।^३ दूसरे शब्दों में कहें तो विरागता ही वीतरागता है।

मनसमाधारणता :

मन का सम्यक् प्रकार से नियोजन करना मन समाधारणता है। मन समाधारणता से एकाग्रता और एकाग्रता से ज्ञान की पर्यायें प्रकट होती हैं। ज्ञान पर्यायों की प्राप्ति से सम्यक्त्व की शुद्धि और मिथ्यात्व की निर्जरा होती है।^४

वचन समाधारणता :

वचन को स्वाध्याय में सम्यक् प्रकार से संलग्न रखना वचन समाधारणता है। वचन समाधारणता से वचन योग्य दर्शन पर्यायों की शुद्धि होती है तथा सुलभबोधित्व की प्राप्ति और दुर्लभबोधित्व का क्षय होता है।^५

काय समाधारणता :

काय (शरीर) को संयम की शुद्ध प्रवृत्तियों में सम्यक् प्रकार से संलग्न रखना काय समाधारणता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २९।१८

२. "खन्तीए णं परीसहे जिणइ"

—वही, २९।४७

३. वही, २९।४६

४. वही, २९।५७

५. वही, २९।५८

कि काय समाधारणता से जीव चारित्र पर्यायों को विशुद्ध करता है। चारित्र पर्यायों को विशुद्ध करके यथाख्यात चारित्र को विशुद्ध करता है। यथाख्यातचारित्र को विशुद्ध करके जीव केवली में विद्यमान वेदना आदि चार कर्मों का क्षय करता है, तत्पश्चात् सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है और समस्त दुःखों का अन्त करता है।^१

ज्ञान सम्पन्नता :

ज्ञान की सम्पन्नता से सभी भावों का बोध होता है। ज्ञान सम्पन्न साधक चार गति रूप संसार महारण्य में भी विनष्ट नहीं होता।

उत्तराध्ययनसूत्र^२, चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक^३, भक्तपरिज्ञा प्रकीर्णक^४, मूलाचार^५ और सूत्रपाहुड^६ आदि ग्रन्थों में ज्ञान सम्पन्नता का लाभ बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार धागे सहित सुई कहीं गिर जाने पर भी खोती नहीं है, उसी प्रकार ज्ञान सम्पन्न जीव भी संसार में भटकता नहीं है।^७

दर्शन सम्पन्नता :

दर्शन सम्पन्नता से संसार परिभ्रमण का कारण मिट जाता है। मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है। दर्शन सम्पन्नता का प्रकाश कभी बुझता नहीं है वरन् साधक ज्ञान-दर्शन से आत्मा को संयोजित करता हुआ सम-भाव में विचरण करता है।^८

चारित्र सम्पन्नता :

चारित्र सम्पन्नता से साधक शैलेशीभाव (दृढ़भाव) को प्राप्त करता है। शैलेशीभाव से युक्त साधक चार अघाती कर्मों का क्षय करता है। तत्पश्चात् वह सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होता है, परिनिर्वाण को प्राप्त होता है।

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २९।५९

२. वही, २९।६०

३. चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक, गाथा ८३

४. भक्तपरिज्ञाप्रकीर्णक, गाथा ८६

५. मूलाचार, गाथा ९७३

६. सूत्रपाहुड, गाथा ४

७. सिसोदिया, सुरेश—चंदावेज्जायं पद्दण्यं, भूमिका, पृ० २४-२५.

८. उत्तराध्ययनसूत्र, २९।६१

२७४ : जैनधर्म के सम्प्रदाय

है तथा समस्त दुःखों का अन्त करता है।^१

वेदनातिसहनता :

जीवन में जो कष्ट अथवा अमनोज्ञ अनुभूतियाँ होती हैं, उनको समभाव पूर्वक सहन करना ही वेदनातिसहनता है। सामान्य शब्दों में कहें तो प्रतिकूल परिस्थितियों में भी चित्त को समभाव में रखना वेदनातिसहनता है।

मारणान्तिकातिसहनता :

मृत्यु के उपस्थित होने पर विचलित नहीं होना और उस समय समभाव में रहना मारणान्तिकातिसहनता है। दूसरे शब्दों में इसे समाधिमरण कहा जाता है।

श्रमण के मूलगुणों की समीक्षा :

श्रमण को जिन मूलगुणों का पालन करना होता है उनकी संख्या, नाम एवं क्रम आदि को लेकर श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा एकमत नहीं हैं। श्रमण के मूलगुणों में से कुछ गुण ऐसे हैं जो दोनों परम्पराओं में समान हैं, किन्तु कुछ मूलगुण ऐसे भी हैं, जो दोनों परम्पराओं में भिन्न हैं।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में पाँच महाव्रतों को समान रूप से स्वीकार किया गया है। पाँच महाव्रतों के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में पाँचों इन्द्रियों के निग्रह का उल्लेख हुआ है, किन्तु दिगम्बर परम्परा पाँच इन्द्रिय निग्रह से पहले पाँच समित्तियों को स्थान देती है। यद्यपि पाँच इन्द्रिय निग्रह को भी दोनों परम्पराओं ने समान रूप से स्वीकार किया है तथापि उनके क्रम में अन्तर है।

श्वेताम्बर परम्परा में पाँच इन्द्रिय निग्रह के पश्चात् क्रोध, मान, माया, लोभ आदि चार कषायों के त्याग को श्रमण के मूलगुण में गिनाया गया है, किन्तु दिगम्बर परम्परा में चार कषायों के त्याग को मूलगुणों में नहीं गिनाया गया है। दिगम्बर परम्परा में कषाय त्याग का कथन अन्यत्र किया गया है।^२

श्वेताम्बर परम्परा में कषाय त्याग के पश्चात् भाव सत्य, करण सत्य, योग सत्य, क्षमा, विरागता, मनसमाधारणता, वचनसमाधारणता, काय-

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २९।६२

२. षट्खण्डागम, १।१।१।१११

समाधारणता, ज्ञान सम्पन्नता, दर्शन सम्पन्नता, चारित्र्य सम्पन्नता, वेदनातिसहनता और मारणान्तिकातिसहनता आदि जो मूलगुण हैं, वे दिगम्बर परम्परा में इस रूप में नहीं हैं, किन्तु दिगम्बर मुनि भी इन सभी गुणों का पालन तो मूलगुणों के समान ही करते हैं।

दिगम्बर परम्परा में जो पाँच समितियाँ कही गई हैं, वे श्वेताम्बर परम्परा में मान्य तो हैं, किन्तु उनका उल्लेख २७ गुणों में नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा में अष्ट प्रवचन माताओं में पाँच समितियों का समावेश कर दिया गया है।^१

दिगम्बर परम्परा में श्रमण के मूलगुणों में सामायिक (समता भाव) स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग आदि जो षड्वाश्यक गिनाये गये हैं, वे यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण के मूलगुणों में नहीं गिनाये गये हैं तथापि उनका पालन आवश्यक माना गया है।

षड्वाश्यक के पश्चात् दिगम्बर परम्परा में मूलगुणों के रूप में केशलोच, अचेलकत्व, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तधावन, स्थितभोजन और एकभक्तव्रत का कथन है, उनमें से केशलोच, अस्नान और अदन्तधावन का पालन तो श्वेताम्बर परम्परा के श्रमण भी करते ही हैं। यह भिन्न बात है कि वे उन्हें मूलगुणों में परिगणित नहीं करते हैं, किन्तु अचेलकत्व, क्षितिशयन स्थितभोजन और एकभक्तव्रत—ये गुण न तो श्वेताम्बर मान्य साहित्य में श्रमण के मूलगुण बताये गये हैं और न ही श्वेताम्बर परम्परा के श्रमण इन गुणों का पालन दिगम्बर परम्परा के श्रमणों की तरह करते हैं।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के श्रमणों के मूलगुणों सम्बन्धी इस विवेचन से स्पष्ट है कि दोनों परम्पराओं में श्रमण के लिए जिन मूलगुणों को आवश्यक बतलाया गया है, वे क्रम एवं नामादि की दृष्टि से चाहे कुछ भिन्न प्रतीत होते हों, किन्तु उनका सार-तत्त्व समान ही है। दोनों ही परम्पराएँ मूलगुणों के द्वारा एक आदर्श श्रमण-व्यक्तित्व का विकास करना चाहती हैं।

श्रमण के अन्य गुण :

मूलगुणों के अतिरिक्त श्रमण जिन गुणों का पालन करता है उन्हें श्रमण के अन्य गुण कहा जा सकता है। अन्य गुण कहने का तात्पर्य यह

नहीं है कि श्रमण इन गुणों का पालन आंशिक रूप से करता है । वास्तविकता तो यह है कि प्रत्येक श्रमण अपनी-अपनी परम्परानुसार इन गुणों का भी मूलगुणों की तरह ही पालन करता है ।

भिक्षाचर्या

श्रमण भिक्षावृत्ति से जीवनयापन करता है । भिक्षाचर्या श्रमण की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है । श्रमण को उच्च-नीच और मध्यम कुलों से समभावपूर्वक निर्दोष आहार लाकर जीवनयापन करना होता है ।

आचारांगसूत्र और दशवेकालिकसूत्र में भिक्षाचर्या का कोई निश्चित काल नहीं बताकर यही कहा गया है कि भिक्षा का काल प्राप्त होने पर श्रमण भिक्षा के लिए जाए^१, किन्तु उत्तराध्ययनसूत्र में दिन के तीसरे प्रहर को भिक्षाकाल माना गया है ।^२ दिगम्बर परम्परा में केवल एक समय ही भिक्षार्थ जाने का विधान है । श्वेताम्बर श्रमण जिस देश में भिक्षा का जो उचित समय हो, उस समय भिक्षाचर्या के लिए जाते हैं, किन्तु इतना निश्चित है कि सूर्योदय से पूर्व और सूर्यास्त के पश्चात् श्रमण भिक्षाचर्या के लिए नहीं जाते हैं ।

दशवेकालिकसूत्र के पिण्डेषणा अध्ययन में भिक्षाचर्या की विधि-निषेध का कथन करते हुए कहा गया है कि भिक्षाचर्या के लिए निकला हुआ मुनि स्थिरचित्त से युगप्रमाण (साढ़े तीन हाथ) भूमि को देखता हुआ, हरी वनस्पति, द्वीन्द्रियादि प्राणी, सचित्त जल, सचित्त मिट्टी तथा अग्निकाय आदि को बचाता हुआ चले । अन्य मार्ग विद्यमान हो तो श्रमण ऊबड़-खाबड़ भू-भाग तथा कीचड़युक्त मार्ग से नही जाए, किन्तु यदि दूसरा मार्ग नहीं हो तो उस स्थिति में यतनापूर्वक उस मार्ग से जाए । जीव-हिंसा से बचने के लिए श्रमण कोयले की राशि, राख के ढेर, भूसे (घान्ध)

१. (क) "अयं संघी त्ति अदक्खु ।"

—आचारांगसूत्र, १।२।५।८८

(ख) "संपत्ते भिक्षाकालम्मि, असंभंतो अमुच्छियो ।"

—दशवेकालिकसूत्र, ५।८३

२. "पढमं पोरिसि सज्जायं बीयं क्षाणं क्षिमायई ।

तक्ष्याए भिक्षायरियं पुणो चउत्थीए सज्जायं ॥"

—उत्तराध्ययनसूत्र, २६।१२

की रासि को स्मरण नहीं जाए। वर्षा, कोहरे एवं अंबड के समय भी श्रमण को भिक्षाचर्या के लिए नहीं जाना चाहिए।^१ मूलाधार में भी भिक्षाचर्या के साथ-साथ आहारचर्या का भी उल्लेख हुआ है।^२

आहार :

आहार का सामान्य अर्थ भोजन है। भोजन से शारीरिक क्रियाओं एवं चेष्टाओं का संरक्षण होता है। तीन शरीरों (औदारिक, वैक्रिय और आहारक) और छः पर्याप्तियों (आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन) के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करने का नाम आहार है।

श्रमण की समस्त क्रियाएँ समता से परिपूर्ण होती हैं इसलिए उनका आहार भी सामान्य व्यक्ति से पृथक् होता है। सामान्य व्यक्ति का आहार जीवननिर्वाह के लिए ही होता है जबकि श्रमण का आहार तप, चारित्र्य और संयम की साधना के लिए भी होता है। श्रमण आहार ग्रहण करते समय आहार-विवेक और आहार की विशुद्धता पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखता है। आहार विवेक श्रमण साधना का प्रमुख अंग है।

श्रमण निर्दोष आहार ही ग्रहण करता है। सदोष आहार न श्रमण स्वयं ग्रहण करता है, न दूसरों से ग्रहण करवाता है और न ही सदोष आहार ग्रहण करने वालों का अनुमोदन करता है।^३ आचारांगसूत्र में कहा गया है कि ईच्छित आहार प्राप्त होने पर श्रमण उसका अहंकार नहीं करे तथा प्राप्त न हो तो शोक नहीं करे।^४ आगम ग्रन्थों में कहा गया है कि आहार देने वाले अथवा ग्रहण करने वाले की भूल से कदाचित्त सचित्त, दोषयुक्त अथवा अधिक मात्रा में आहार ग्रहण कर लिया हो और श्रमण-श्रमणी उस आहार को खाने में असमर्थ हों तो उसे लेकर वे एकान्त स्थान में चले जाएँ और जीव-रहित स्थान का भली-भाँति निरीक्षण करके उस स्थान का रजोहरण से अच्छी तरह प्रमार्जन करके, यतनापूर्वक उस आहार को वहाँ परिष्ठापित करदे (डाढदे)।^५ आचारांगसूत्र के

१. दशवैकालिकसूत्र, ५।८३-९०

२. मूलाचार, गाथा २१३

३. आचारांगसूत्र, १।२।५।८८

४. वही, १।२।५।८९

५. (क) आचारांगसूत्र, २।१।३२४, (ख) दशवैकालिकसूत्र, ५।१।९५-१९९

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के प्रथम पिंडेषणा अध्ययन में आहार-ग्रहण-विधि-निषेध का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है।

श्वेताम्बर परम्परा के श्रमण तुम्बे, लकड़ी अथवा मिट्टी के पात्रों में कई घरों से मधुकरवृत्तिपूर्वक प्रासुक आहार लाते हैं। आहार लाकर श्रमण सर्वप्रथम गुरु के पास जाते हैं और ईर्यापथिकसूत्र से प्रतिक्रमण करते हैं।^१ तत्पश्चात् भिक्षा के लिए जाने-आने तथा भिक्षा ग्रहण करने में लगे समस्त अतिचारों का क्रमशः उपयोगपूर्वक चिन्तन करते हैं और अव्यग्रचित्त से गुरु के समीप आलोचना करते हैं।^२ तथा जिस प्रकार भिक्षा ग्रहण की हो, उसी प्रकार गुरु को निवेदन करते हैं।^३ बाद में वे प्रकाशयुक्त खुले पात्र में, हाथ और मुँह से आहार को नीचे नहीं गिराते हुए यत्नपूर्वक भोजन करते हैं तथा भोजन चाहे जैसा भी बना हो, उसे मधु घृत की तरह खाते हैं।^४

दिगम्बर परम्परा के श्रमण श्रावकों के घर भोजन के लिए जाते हैं और वहाँ प्राप्त हुई निर्दोष भिक्षा को करपात्र (हाथ की अंजली) में ही ग्रहण करके मौन रहकर खड़े-खड़े वहाँ ही खाते हैं।^५

मूलाचार में आहार-ग्रहण-विधि-निषेध का कथन करते हुए कहा है कि श्रमण न बल के लिए, न आयु के लिए, न स्वाद के लिए, न शरीर की पुष्टि के लिए और न तेज के लिए आहार ग्रहण करे, किन्तु ज्ञान, संयम और ध्यान के लिए आहार ग्रहण करे।^६ इसी ग्रंथ में आगे यह भी कहा है कि श्रमण नव कोटि से शुद्ध, बियालीस-दोषों से रहित, संयोजना से हीन, प्रमाण सहित तथा विधिपूर्वक दिया गया भोजन ही ग्रहण

१. "इच्छामि पडिक्कमिउं इरियावहियाए विहारणाए गमणागमणे ।"

....जे मे जीवा विराहिया....तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।"

—आवश्यकसूत्र, सामायिक अध्ययन, पृ० १३

२. "पडिक्कमामि गोयरगगरियाए भिक्खायरियाए....परिभुत्तं वा जं न परिट्ठावियं, तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।"

—आवश्यकसूत्र, प्रतिक्रमण अध्ययन, पृ० ३३

३. दशवैकालिकसूत्र, ५।२००-२०५

४. वही, ५।२०९-२१०

५. पद्मपुराण, ४।९७

६. मूलाचार, भाषा ४८१

करे।^१ आचार्य कुन्दकुन्द ने लिगपाहुड में गरिष्ठ एवं इष्ट रस युक्त पौष्टिक आहार को श्रमण के लिए त्याज्य माना है।^२

स्वास्थ्य की दृष्टि से श्रमण के आहार प्रमाण की चर्चा करते हुए कहा गया है कि श्रमण उदर (पेट) के चार भागों में से आधा भाग भोजन से भरे, तीसरा भाग जल से परिपूर्ण करे और चौथा भाग वायु संचरण के लिए खाली रखे।^३ भगवती आराधना में पुरुष (श्रमण) के आहार का प्रमाण बत्तीस ग्रास और स्त्री (आर्यिका) के आहार का प्रमाण अट्ठाईस ग्रास कहा गया है।^४

श्वेताम्बर परंपरा में चूँकि श्रमण आहार लाकर स्थानक, उपासरे अथवा ठहरने योग्य किसी भी यथेष्ट स्थान पर ग्रहण करते हैं, इसलिए इस परंपरा में वृद्ध अथवा बीमार श्रमणों को दिगम्बर श्रमणों की तरह स्वयं आहार लेने नहीं जाना पड़ता है वरन् जो दूसरे श्रमण आहार लाते हैं उसमें से वे भी ग्रहण कर लेते हैं। इस परम्परा के श्रमण दिगम्बर परम्परा के श्रमणों की तरह न तो खड़े-खड़े भोजन करते हैं और न ही इनके यहाँ मात्र एक समय ही भोजन करने का प्रचलन है। श्वेताम्बर श्रमण अपने सीमित पात्रों में एक से अधिक बार आहार लाते भी हैं और खाते भी हैं।

दिगम्बर परंपरा के श्रमण केवल नवधाभक्तिपूर्वक दिया गया आहार ही ग्रहण करते हैं। नवधाभक्ति एक विशेष विधि है, जिसमें आहारदाता (श्रावक) श्रमण को पाद प्रक्षालण, अर्चना, प्रणाम आदि करके आहार देता है।^५ श्वेताम्बर परंपरा में नवधाभक्ति का ऐसा प्रचलन तो नहीं है, किन्तु इतना तो निश्चित है कि इस परंपरा के श्रमण भी सम्मान-पूर्वक दिया गया आहार ही ग्रहण करते हैं। दिगम्बर परंपरा के श्रमण संकल्प या अभिग्रह लेकर आहार के लिए गमन करते हैं जहाँ उनका

१. मूलाचार, गाथा ४८२

२. लिगपाहुड, गाथा १२-१३

३. "अद्धमसणस्स सत्त्विज्जणस्स उदरस्स तदियमुदयेण ।

वाउ संचरणट्ठं चउत्थमवसेसये मिक्खु ॥"

—मूलाचार, गाथा ४९१

४. भगवती आराधना, गाथा २१३

५. मूलाचार, गाथा ४८२; आचारवृत्ति, पृ० ३७२

अभिग्रह पूरा होता हो, वहीं वे आहार ग्रहण करते हैं। भगवती आराधना में विविध प्रकार के अभिग्रह एवं संकल्पों का उल्लेख हुआ है।^१ श्वेताम्बर परंपरा के श्रमण आहार ग्रहण के लिए किसी तरह का अभिग्रह या संकल्प नहीं करते हैं।

जिस प्रकार क्षुधा (भूख) शान्त करने के लिए श्रमण को भोजन की आवश्यकता रहती है उसी प्रकार तृष्णा (प्यास) शान्त करने के लिए उसे पानी की आवश्यकता होती है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परंपराओं के मान्य ग्रन्थों में निर्दोष आहार के साथ पानी का भी उल्लेख हुआ है।^२ प्रासुक पानी को धोवन पानी भी कहा जाता है। ज्ञातव्य है कि दिगम्बर परम्परा के श्रमण स्थितभोजन और एकभक्त व्रत करते हैं इसलिए वे पानी भी दिन में एक ही बार ग्रहण करते हैं, जबकि श्वेताम्बर परम्परा के श्रमण भोजन की तरह पानी भी एक से अधिक बार लाते भी हैं और पीते भी हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्परानुसार श्रमण की आहारचर्या में कुछ भिन्नता होते हुए भी आहार का समय, आहार मर्यादा, आहार के प्रकार, आहार के दोष आदि अनेक बातों में दोनों परम्पराओं के श्रमणों का व्यवहार लगभग समान है।

विहार :

एक स्थान पर रहने से राग बढ़ता है इसलिए श्रमण नित्य विहार करते हैं। श्रमण वर्षायोग के अतिरिक्त अधिक समय तक एक स्थान पर नहीं ठहरते हैं। श्रमण चाहे वज्रमयी भूमि हो, चाहे कंकड़-पत्थर से युक्त मार्ग हो, चाहे कांटों से भरा पथ हो, वे चार हाथ प्रमाण भूमि का अवलोकन करते हुए एकाग्रचित्त से ईर्यासमितिपूर्वक ग्रामानुग्राम विचरण करते हैं।^३ दुर्गम मार्गों पर भी श्रमण नग्न पैर और पैदल ही गमन करते हैं।^४

१. भगवती आराधना, गाथा २१८-२२१, १२०६

२. (क) आचारांगसूत्र, २।१।७।३६९-३७१

(ख) दशवैकालिकसूत्र, ५।१८८-१९४ (ग) मुलाचार, गाथा ४७३

३. (क) आचारांगसूत्र, २।३।१।४६९ (ख) उत्तराध्ययनसूत्र, २४।७

(ग) मुलाचार, गाथा ३०३

४. (क) आचारांगसूत्र, १।९।१।२६७

(ख) भगवती आराधना, गाथा १५२

आचारांगसूत्र में कहा है कि श्रमण को मार्ग में चलते समय इधर-उधर देखे बिना यत्नपूर्वक चलना चाहिए। श्रमण मार्ग में चलते समय जीव हिंसा से बचने के लिए दोनों हाथ-पैर सटाकर नहीं चलते हैं, ठंड से घबराकर हाथों को सिकोड़ते नहीं हैं, यहाँ तक कि कन्धों पर भी हाथ नहीं रखते हैं।^१

मूलाचार में साधु के विहार योग्य मार्ग की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जिस मार्ग पर हाथी, घोड़े, रथ, स्त्री, पुरुष आदि गमनागमन करते रहते हों तथा जिस मार्ग पर सूर्य की किरणें पड़ रही हों, जहाँ हल आदि चलाए जा चुके हों, ऐसे मार्ग-प्रासुक मार्ग हैं। श्रमण को ऐसे मार्ग पर ही चलना चाहिए।^२

वैसे श्रमण पैदल ही विहार करता है किन्तु कभी ऐसा प्रसंग आ जाए कि उसे नदी पार करनी हो और नौका (नाव) द्वारा उसे पार किया जा सकता हो तो श्रमण नौका का उपयोग कर सकता है। श्वेताम्बर परम्परा के आगम आचारांगसूत्र और दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रंथ भगवती आराधना की विजयोदया टीका में नौकारोहण विधि का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है।^३ किन्तु दोनों ग्रंथों में यह भी कहा है कि नदी पार कर लेने के पश्चात् दूसरे तट पर पहुँचकर श्रमण को कायोत्सर्ग कर लेना चाहिए। इस प्रकार स्पष्ट है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परंपराओं में श्रमणों की विहारचर्या में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

वर्षावास :

वर्षावास श्रमणचर्या का अनिवार्य एवं महत्त्वपूर्ण अंग है। वर्षाकाल में लगातार चार माह एक ही स्थान पर रहने के कारण यह समय चातुर्मास के नाम से भी जाना जाता है। आषाढ माह में जब वर्षा प्रारम्भ हो जाती है तो भूमि त्रस एवं स्थावर जीवों से व्याप्त हो जाती है। मार्ग में सर्वत्र हरी वनस्पति, काई और सूक्ष्म जीव दिखाई देते हैं। ऐसे में गमनागमन करने से सूक्ष्म जीवों की हिंसा होने की सम्भावना रहती है।^४

१. आचारांगसूत्र, १।१।१।२६५-२७६

२. मूलाचार, गाथा ३०४-३०६

३. (क) आचारांगसूत्र, २।३।१।४७४-४८२

(ख) भगवती आराधना, विजयोदया टीका, गाथा १५२

४. (क) आचारांगसूत्र, २।३।१।४६४-४६८

(ख) भगवती आराधना, गाथा ४२१

इसलिए श्रमण वर्षाकाल के चार माह एक ही ग्राम या नगर में व्यतीत करता है ।

आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वर्षावास का जो कथन किया गया है, वह विशेष ज्ञातव्य है । इस कथन में एक ओर यह कहा गया है कि वर्षाकाल आ जाने पर मार्ग में उत्पन्न जीव, अंकुरित बीज तथा हरी वनस्पति आदि की रक्षा हेतु श्रमण को इस अवधि में एक ग्राम से दूसरे ग्राम में विहार नहीं करना चाहिए ।^१ दूसरी ओर यह भी कहा गया है कि वर्षाकाल के चार माह व्यतीत हो जाने के पश्चात् दूसरे दिन ही श्रमण अन्यत्र विहार कर दे ।^२ यदि उस समय वर्षा हो रही हो तो चार माह बाद भी पाँच-दस दिन वह वहाँ और रुक जाए, तत्पश्चात् जब यह जान ले कि अब वर्षा नहीं हो रही है, मार्ग कीचड़, हरी वनस्पति एवं सूक्ष्म जीव-जन्तुओं से रहित हो गए हैं तो वह विहार कर दे ।^३ आचारांगसूत्र में वर्षावास के पश्चात् भी वर्षा होने की स्थिति में जो पाँच-दस दिन और रुकने का कथन उल्लिखित है, वह अन्तिम अवधि नहीं मानी जा सकती, क्योंकि उस कथन का मूल प्रयोजन तो इतना ही मानना होगा कि वर्षाकाल के बाद भी यदि मार्ग विहार योग्य नहीं हुए हों तो कुछ दिन वहाँ और रुका जा सकता है लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि श्रमण इस बहाने अधिक दिनों तक वहाँ रुक जाए । सम्भवतः इसी-लिए ग्रंथ में कुछ दिनों की यह मर्यादा निश्चित की गई है ।

श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ दशाश्रुतस्कन्धनियुक्ति में तो वर्षावास के पूर्व तथा पश्चात् दोनों समय एक-एक माह और उसी स्थान पर रुक सकने का कथन उल्लिखित है । ग्रंथ में कहा गया है कि आषाढ़ मासकल्प करके यदि श्रमण को चातुर्मास योग्य क्षेत्र नहीं मिले तो वह उसी स्थान पर चातुर्मास कर ले और चातुर्मास के पश्चात् भी यदि वर्षा नहीं रुके तो वह उस स्थान पर एक माह और रुक सकता है । इस प्रकार वर्षाकाल में छह माह तक श्रमण एक ही स्थान पर रुक सकता है ।^४

१. आचारांगसूत्र, २।३।१।४६४-४६८

२. वही, २।३।१।४६७

३. वही, २।३।१।४६८

४. "काळण मासकल्पं तत्थेव ठियाणज्जीए मग्गसिरे ।

सालम्बणण छम्मासितो तु जेट्ठोग्गहो हौंति ।"

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ भगवती आराधना में भी यह उल्लेख है कि वर्षाकाल के चार माह बाद भी श्रमण अधिकतम एक माह और उसी स्थान पर रह सकता है।^१

श्वेताम्बर परम्परा के मान्य आगम दशवैकालिकसूत्र में विहारचर्या की चर्चा करते हुए कहा गया है कि वर्षाकाल में चार माह और अन्य ऋतुओं में अधिकतम एक माह एक स्थान पर रहना उच्छृष्ट प्रमाण है तथा जहाँ श्रमण ने वर्षावास या मासकल्प किया हो वहाँ दूसरा वर्षावास या दूसरा मासकल्प करना उसके लिए उचित नहीं है।^२

वैसे तो श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में वर्षाकाल में श्रमण का विहार करना निषिद्ध है, किन्तु दोनों परम्पराओं ने कुछ विशेष परिस्थितियों में वर्षाकाल में भी श्रमण को विहार कर सकने की स्विकृति दी है।

श्वेताम्बर परम्परा के मान्य आगम स्थानांगसूत्र में पाँच कारणों से वर्षाकाल में भी विहार करना आचार सम्मत माना है^३—

१. विशेष ज्ञान प्राप्ति के लिए।
२. दर्शन प्रभावक शास्त्र का अर्थ जानने के लिए।
३. चारित्र्य की रक्षा के लिए।
४. आचार्य या उपाध्याय की मृत्यु हो जाने पर।
५. आचार्य या उपाध्याय की वैयावृत्य (सेवा) करने के लिए।

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ भगवती आराधना की विजयोदया टीका में भी चार कारणों से वर्षाकाल में भी श्रमण द्वारा विहार करना आचार सम्मत माना गया है^४—

१. दुर्भिक्ष (अकाल) पड़ जाने पर।
२. महामारी फैल जाने पर।
३. गाँव अथवा प्रदेश में किसी कारण विशेष से भारी उथल-पुथल हो जाने पर।
४. गच्छ के विनाश का निमित्त उपस्थित होने पर।

१. भगवती आराधना, गाथा ४२१

२. दशवैकालिकसूत्र, द्वितीय चूलिका, सूत्र ५७०

३. स्थानांगसूत्र, ५।२।१००

४. भगवती आराधना, विजयोदया टीका, सूत्र ४२१

वर्षाकाल में भी विहार करने की अनुमति स्वरूप जो कारण भगवतो आराधना में बताये गए हैं, बहुत कुछ ये ही कारण स्थानांगसूत्र में भी बतलाये गए हैं।^१

वर्षाकाल का महत्त्व इसलिए भी अधिक है कि इस समय में श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका सभी अपनी आत्म-आराधना में लीन रहते हैं और अपने दोषों का उपशमन करने का प्रयत्न करते हैं। इस समय में पर्युपाषणा की जाती है इसलिए यह समय पर्युषण काल के रूप में भी जाना जाता है। वर्षावास संबंधी इस समग्र चर्चा से यही फलित होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के श्रमण सूक्ष्मतम जीवों की हिसा से अपने को बचाने के लिए वर्षाकाल में ग्रामानुष्ठान विचरण नहीं करके एक ही स्थान पर ठहरते हैं।

उपकरण :

जिसके द्वारा उपकार किया जाता है, वह उपकरण है। उपधि का ही प्रचलित नाम उपकरण है। वस्त्र, पात्र आदि बाह्य उपधि हैं तथा राग, द्वेष, मोह एवं आसक्ति आदि अभ्यन्तर उपधि हैं। संयम साधना में लीन श्रमण को संयम रक्षा के लिए वस्त्र, पात्र आदि उपधि रखनी पड़ती है। आगम साहित्य में इसकी अनुमति दी गई है^२, किन्तु अनुमति के साथ ही आगमों में यह भी निर्देश दिख गया है कि श्रमण अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखे तथा जो भी संयमोपकरण वह रखे उन पर भी ममत्व नहीं रखे।

आचारांग टीका में श्रमण के रखने योग्य बारह प्रकार के उपकरण बतलाये गये हैं^३—

(१) पात्र, (२) पात्रबन्धन (पात्र रखने की झोली), (३) पात्र स्थापन (पात्र के नीचे का वस्त्र), (४) पात्र-केसरी (प्रमार्जनिका), (५) पटल (पात्र ढकने का वस्त्र), (६) रजस्राग (पानी छानने का वस्त्र) (७)

१. स्थानांगसूत्र, ५।२।९९

२. आचारांगसूत्र, १।८।४।२।३-२।४

३. “पत्ते पत्ताबंधो पायट्ठवणं च पायकेसरिआ।

पडलाइ रयत्ताणं च गोच्छओ पायणिज्जोगे ॥”

—आचा० शील० टीका, बुर्नाक २७७,

उद्धृत—आचारांगसूत्र, भाग २, सम्प० मधुकर भुति, पृ० २६३

गोच्छ्रग (पात्र साफ करने का वस्त्र), (८-१०) तीन प्रच्छादन (शरीर पर धोढ़ने-ढकने के वस्त्र), (११) रजोहरण और (१२) मुखवस्त्रिका ।

प्रारम्भिक सात उपकरण पात्र नियोग (पात्र सामग्री) कहलाते हैं । ये सातों ही उपकरण पात्र को रखने, उठाने और साफ करने के लिए हैं । श्वेताम्बर परम्परा के श्रमण शरीर को ढकने एवं ओढ़ने के लिए तीन वस्त्र रखते हैं तथा जीव हिंसा से बचने के लिए रजोहरण और मुख-वस्त्रिका रखते हैं ।

दिगम्बर परम्परा के श्रमण ये सभी उपकरण नहीं रखते हैं । इस परम्परा में श्रमण के उपकरण-संयमोपकरण, ज्ञानोपकरण और शौचोपकरण—इस रूप में स्वीकार किये गए हैं । मयूर पिच्छी संयमोपकरण है, अध्ययन-अध्यापन तथा ज्ञानवर्द्धन हेतु शास्त्र रखना ज्ञानोपकरण है तथा शौच-शुद्धि हेतु कमण्डलु रखना शौचोपकरण है ।

यद्यपि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के श्रमण अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखते हुए मात्र संयम की रक्षा के लिए ही उपकरण रखते हैं तथापि इन उपकरणों की मात्रा आदि को लेकर दोनों परम्पराओं में भिन्नता है । श्वेताम्बर परम्परा को अपेक्षा दिगम्बर परम्परा के श्रमण अत्यल्प उपकरण ही रखते हैं ।

वस्त्र :

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य प्राचीन आगमों में अनेकान्तव (नग्नता) को श्रमण का उत्कृष्ट गुण माना है^१, किन्तु आगे चलकर श्रमण को सीमित वस्त्र ग्रहण करने की भी अनुमति दी गई है^२ । आचारांगसूत्र में श्रमण को अधिकतम तीन वस्त्र रखने की अनुमति देने के साथ ही यह भी कथन किया है कि वह उन वस्त्रों को न तो धोए, न रंगे और न धोए एवं रंगे हुए वस्त्रों को धारण करे^३ । इसी ग्रन्थ में

१. “जे अचले परिवसिते तस्स णं भिक्खुस्स णो एवं भवति”

—आचारांगसूत्र, १।६।३।१८७

२. “वत्थं पडिग्गहणं कंबळं पम्पुं छणं उग्गहं च कक्कासणं एतेसु चेव जाणेज्जा”

—आचारांगसूत्र, १।२।५।८९

३. “णो धोएज्जा, णो रएज्जा, णो धोत्तरत्ताहं वत्थाहं प्राएज्जा”

—आचारांगसूत्र, १।८।४।२१४

श्रमणी को चार वस्त्र रखने की अनुमति दी गई है।^१

आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में वस्त्रैषणा नामक एक स्वतन्त्र अध्ययन है जिसमें श्रमण-श्रमणी के वस्त्र ग्रहण करने, धारण करने, वस्त्रों के प्रकार, वस्त्रों के परिमाण, बहुमूल्य वस्त्र ग्रहण के निषेध तथा वस्त्र ग्रहण करने से पूर्व प्रतिलेखना आदि करने का विधान है।^२

दिगम्बर परम्परा में अचेलकता को श्रमण का मूलगुण माना है इसलिए इस परम्परा के श्रमण पूर्णतः नग्न ही रहते हैं। मूलाचार में वट्टकेर ने कहा है—वस्त्र, चर्म और बल्कलों (वृक्ष की छाल) अथवा पत्तों आदि से शरीर को नहीं ढकना, सभी प्रकार के आभूषण एवं परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ वेश में रहना जगत में पूज्य अचेलकत्व नामक मूलगुण है।^३

भगवती आराधना में कहा है—यदि श्रमण वस्त्र मात्र का त्याग करने पर भी दूसरे परिग्रहों से युक्त है तो उसे संयत नहीं कहा जा सकता, अतः वस्त्र के साथ-साथ सभी प्रकार के परिग्रह का त्याग करना ही अचेलकत्व है।^४

इस प्रकार स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में श्रमण के लिए वस्त्र ग्रहण करने की अनुमति नहीं दी गई है किन्तु इस परम्परा में भो आर्यिकाएँ श्वेताम्बर श्रमणियों की तरह ही श्वेत वस्त्र धारण करती हैं।

पात्र :

जिस उपकरण में श्रमण भोजन-पानी ग्रहण करता है, वह पात्र है। आचारांगसूत्र में तरुण व बलिष्ठ श्रमण को केवल एक ही पात्र रखने की अनुमति दी गई है।^५ आचारांग वृत्तिकार कहते हैं कि जो श्रमण तरुणः

१. “जा णिग्गंथी सा चत्तारि संघाडिओ धारेज्जा”

—आचारांगसूत्र, २।५।१।५५३

२. विस्तृत विवेचन हेतु दृष्टव्य है—आचारांगसूत्र, द्वितीय श्रुतस्कन्ध, पंचम अध्ययन, प्रथम-द्वितीय उद्देशक

३. “वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणं ।

णिब्भूसण णिग्गंथं अच्चेल्लवकं जगदि पूज्जं ॥”

—मूलाचार, गाथा ३०

४. भगवती आराधना, गाथा ११२४

५. आचारांगसूत्र, १।८।४।२१३

बलिष्ठ तथा स्थिर संहनन वाला हो, वह एक ही पात्र रखे, दूसरा नहीं। इसी ग्रंथ में आगे मलमूत्र विसर्जन हेतु मात्रक नामक दूसरा पात्र रखने की अनुमति दी गई है। इसी ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि संघाड़े (समह) के साथ रहने पर वह दो पात्र रख सकता है—एक भोजन के लिए और दूसरा पानी के लिए।^१ कल्पसूत्र में श्रमण को अधिकतम तीन पात्र तक रख सकने की अनुमति दी गई है।^२

आचारांगसूत्र में तुम्बे, रूकड़ी और मिट्टी से बने पात्रों को श्रमण के लिये ग्राह्य माना है।^३ किन्तु श्रमण के निमित्त खरीदे गए एवं मूल्यवान धातु के पात्र ग्रहण करने का निषेध किया गया है।^४ ग्रन्थ में यह भी कहा गया है कि पात्र ग्रहण करने से पूर्व श्रमण उनकी प्रतिलेखना अवश्य करें।^५

दिगम्बर परम्परानुसार पात्र रखना भी परिग्रह है। दिगम्बर परंपरा के श्रमण करपात्र (हाथ की अंजली) में ही आहार ग्रहण करते हैं इसलिए वे पाणी-पात्री कहलाते हैं। श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ कल्पसूत्र में भी करपात्री श्रमण का विस्तारपूर्वक उल्लेख हुआ है।^६ इससे यही प्रतिफलित होता है कि श्वेताम्बर परम्परा में भी करपात्र में आहार करना तो उत्कृष्ट माना ही गया था, फिर भी जहाँ श्वेताम्बर परम्परा में श्रमण को सीमित संख्या में पात्र रखने की भी अनुमति दी गई है वहाँ दिगम्बर परम्परा में श्रमण को पात्र रखने की कोई अनुमति नहीं दी गई है। यद्यपि दिगम्बर श्रमण भोजन लेने के लिए पात्र भले ही नहीं रखते हों, किन्तु शरीर शुद्धि के लिए वे अपने पास एक पात्र रखते हैं; जिसे कमण्डलु कहा जाता है। कमण्डलु में दिगम्बर श्रमण प्रासुक जल रखते हैं। ज्ञातव्य है कि कमण्डलु को दिगम्बर परम्परा ने पात्र नहीं मानकर शौचोपकरण माना है।

रजोहरण :

जोव हिंसा से बचने के लिए श्रमण जो संयमोपकरण रखते हैं,

१. आचारांगवृत्ति, पत्रांक ३९९;

उद्धृत—आचारांगसूत्र, २।६।१।१८९, विवेचन-मधुकर मुनि

२. कल्पसूत्रम्, २८३

३. आचारांगसूत्र, २।६।१।५८८

४. आचारांगसूत्र, १।६।१।५९१-५९३

५. वही, ५९९-६००

६. कल्पसूत्रम्, २५३-२५५

ऊनमें रजोहरण का विधिष्ट महत्त्व है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के श्रमण रजोहरण अवश्य रखते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में ओषा, चरवला, गोछा आदि रजोहरण के प्रचलित नाम हैं। इस परम्परा में रजोहरण ऊन का बना होता है। दिगम्बर परम्परा में रजोहरण के लिए पिच्छी शब्द प्रयुक्त हुआ है। पिच्छी सामान्यतया मयूरपंखों से बनी होती है।

श्रमण कोई भी क्रिया करे, चाहे वह सोये, उठे, बैठे, खाना खाये या गमनागमन करे, प्रत्येक स्थिति में सूक्ष्म जीवों की हिंसा होने की संभावना बनी रहती है इसलिए श्रमण कोई भी क्रिया करने से पूर्व उस वस्तु अथवा स्थान की प्रतिलेखना अवश्य करता है ताकि जीव हिंसा नहीं हो। यह प्रतिलेखना रजोहरण से की जाती है। उत्तराध्ययनसूत्र में तो रजोहरण की भी प्रतिलेखना करने को कहा गया है^१ ताकि कश्चित् उसमें कोई सूक्ष्म जीव रह जाए तो उसकी भी हिंसा नहीं हो।

दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ भगवती आराधना और मूलाचार में पिच्छिका का विस्तारपूर्वक कथन किया गया है। भगवती आराधना में पिच्छिका को मुनि विषयक विश्वास दिलाने वाला चिह्न माना है और कहा गया है कि इससे जीव दया पाली जाती है।^२ मूलाचार में कहा गया है कि पिच्छिका के बिना श्रमण से जीव हिंसा हो ही जाती है।^३

षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्न टीका में कहा है—काष्ठा संघ के श्रमण गोपिच्छी (चामर) धारण करते हैं, मूलसंघ के श्रमण मयूर पिच्छी धारण करते हैं तथा माथुरसंघ के श्रमण न तो गोपिच्छी रखते हैं और न ही मयूर पिच्छी, अतः वे निष्पिच्छिक कहे गये हैं।^४

मुखवस्त्रिका :

श्रमण जो भी उपकरण धारण करता है, वह संयम की रक्षा के लिए ही होता है। जीव हिंसा से बचने के लिए श्रमण मुखवस्त्रिका (मुहपती)

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २६।२३
२. भगवती आराधना, गाथा ९७-९८
३. मूलाचार, गाथा ९१३-९१४
४. "काष्ठासंघे चमरोबालः पिच्छिका, मूलसंघे माथुरपिच्छीःपिच्छिका ।
माथुरसंघे मूलतोऽपि पिच्छिका नादृता गोप्या माथुरपिच्छिका ॥"

धारण करता है। उत्तराध्ययनसूत्र में उल्लेख है कि मुखवस्त्रिका को भी प्रतिलेखना करनी चाहिए।^१ श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य में "मुहपत्ती" शब्द प्रयुक्त हुआ है।^२

दिग्म्बर परम्परा वस्त्र को परिग्रह मानती है इसलिए इस परम्परा के श्रमण मुखवस्त्रिका नहीं रखते हैं। श्वेताम्बर परम्परा के मूर्तिपूजक सम्प्रदायों के श्रमण यद्यपि मुखवस्त्रिका धागे से मुँह पर बाँधकर नहीं रखते हैं तथापि वे अपने हाथ में मुखवस्त्रिका रखते हैं तथा बोलते समय उसे वे मुँह के नजदीक कर लेते हैं, ताकि जीव-हिंसा नहीं हो। इससे एक निष्कर्ष यह भी निकलता है कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में मुखवस्त्रिका को सदैव मुँह पर बाँधने का प्रचलन नहीं है।

श्वेताम्बर परम्परा के स्थानकवासी और तेरापन्थी सम्प्रदाय के श्रमण जीव-हिंसा से बचने के लिए सदैव अपने मुँह पर मुखवस्त्रिका धारण किबे रहते हैं। स्थानकवासी और तेरापन्थी सम्प्रदाय में मुखवस्त्रिका के आकार-प्रकार में क्वचित् अन्तर है। आहार करते समय स्थानकवासी और तेरापन्थी सम्प्रदायों के श्रमण मुखवस्त्रिका मुँह से उतार लेते हैं तथा आहार कर लेने के पश्चात् वे पूर्ववत् मुखवस्त्रिका अपने मुँह पर धारण कर लेते हैं।

प्रतिलेखना :

प्रतिलेखना श्रमण का एक विशिष्ट आचार है। श्रमण मात्र वस्त्र, पात्र, रजोहरण और मुखवस्त्रिका की ही प्रतिलेखना नहीं करता है, वरन् वह उसके उपयोग में आ रहे स्थान, पट्टे, चौकी तथा शास्त्र आदि को भी प्रतिलेखना करता है।

उत्तराध्ययनसूत्र में भाण्डोपकरण प्रतिलेखना, मुहपत्ती प्रतिलेखना, गोच्छग प्रतिलेखना, वस्त्र प्रतिलेखना, पात्र बन्ध प्रतिलेखना, शय्या प्रतिलेखना और भूमि प्रतिलेखना की विधि भी बतलाई गई है।^३ इसके अलावा ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य और तप में लगे दिवस सम्बन्धी अतिचारों का अनुक्रम से चिन्तन करके स्तुतिपूर्वक उनकी प्रतिलेखना करने को कहा गया है।^४

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २६।२३

२. विशेषावश्यकभाष्य, गाथा २५७७

३. उत्तराध्ययनसूत्र, २६।२१-३९

४. वही, २६।७५-७६

दिगम्बर परम्परा में भी चारित्र की रक्षा के लिये श्रमण शय्या, शास्त्र, पिच्छी, कमण्डलु आदि जो उपकरण धारण करता है, वह उनकी प्रतिलेखना अवश्य करता है।^१ मूलाचार के समाचाराधिकार में विविध प्रकार की प्रतिलेखना का विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। मूलाचार में तो यह भी कहा गया है कि अतिथि मुनि और संघ में रहने वाले मुनि आहार, स्वाध्याय तथा प्रतिक्रमण आदि से तो एक-दूसरे की क्रिया और चारित्र की परीक्षा करते ही हैं, किन्तु श्रमण जिस विधि से अपने उपकरणों की प्रतिलेखना करता है, उसे देखकर भी उसकी क्रिया और चारित्र की परीक्षा हो जाती है।^२

प्रतिलेखना किस समय करनी चाहिए, इसके लिए उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि सूर्योदय होने पर दिन के प्रथम प्रहर का चतुर्थ भाग प्रतिलेखना करने का समय है।^३ मूलाचार में ऐसा कोई निश्चित समय नहीं बताकर यही कहा गया है कि योग्य प्रकाश में दोनों काल (प्रातः-काल एवं सायंकाल) में यतनापूर्वक संस्तर और स्थान आदि की प्रतिलेखना करनी चाहिये।^४ वस्तुतः प्रतिलेखना सूक्ष्म जीवों की भी हिंसा नहीं हो, इसीलिए की जाती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में श्रमणों के लिये प्रतिलेखना करना आवश्यक माना गया है।

प्रतिक्रमण :

प्रतिक्रमण श्रमण जीवन का प्राण-तत्त्व है। दैनिक क्रियाओं को करते हुए ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब नहीं चाहते हुए भी व्रतों में खलना हो जाती है। उन खलनाओं की उपेक्षा नहीं करके श्रमण उन दोषों से निवृत्त होने के लिए प्रतिक्रमण करता है। वस्तुतः पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्मों से अपने को अलग करना प्रतिक्रमण है। सामान्य रूप से हम यह कह सकते हैं कि जिन प्रवृत्तियों से साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप विभाव में चला जाता है, उनसे लौटकर पुनः स्वभाव में आना प्रतिक्रमण है।

काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के पाँच प्रकार बतलाए गए हैं —

- | | |
|---------------------------------|----------------------|
| १. मूलाचार, गाथा ९१४ | २. वही, गाथा १६३ |
| ३. उत्तराध्ययनसूत्र, २६।८ | ४. मूलाचार, गाथा १७२ |
| ५. (क) मूलाचार, गाथा १७५ | |
| (ख) भगवती आराधना, गाथा ११६, १७५ | |

- (१) देवसिक (दिन के अन्त में किया जाने वाला प्रतिक्रमण),
 - (२) रात्रिक (रात्रि के अन्त में किया जाने वाला प्रतिक्रमण),
 - (३) पाक्षिक (पक्ष-पन्द्रह दिन पश्चात् किया जाने वाला प्रतिक्रमण),
 - (४) चातुर्मासिक (चातुर्मास के पश्चात् किया जाने वाला प्रतिक्रमण),
 - (५) सांवत्सरिक (वर्ष के अन्त में किया जाने वाला प्रतिक्रमण) ।
- इनके साथ-साथ ईर्यापथिक प्रतिक्रमण का भी उल्लेख मिलता है ।

यहां यह जिज्ञासा की जा सकती है कि जब श्रमण प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिक्रमण कर लेता है तो पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण को क्या आवश्यकता रह जाती है ? इस जिज्ञासा के समाधान में हम कहना चाहेंगे कि यह सही है कि प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिक्रमण करके साधक अपने दोषों से निवृत्त हो जाता है फिर भी यदि कहीं कोई असावधानी रह गई हो तो पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक प्रतिक्रमण करके वह अपने दोषों से निवृत्त होता है । पर्व के दिनों में प्रतिक्रमण करने का यह कथन प्रतिक्रमण को उपयोगिता को ही स्पष्ट करता है । श्रमण को शुभ-अशुभ कर्मों से सदैव विलग करने के लिए ही काल की दृष्टि से प्रतिक्रमण के इतने भेद किये गए हैं ।

दिगम्बर परम्परा में श्रमण के अट्ठाईस मूलगुणों में प्रतिक्रमण को षड्वाश्यक के अन्तर्गत माना है, इसी से इसकी महत्ता स्पष्ट हो जाती है । श्वेताम्बर परम्परा में यद्यपि प्रतिक्रमण को श्रमण के मूलगुणों में नहीं गिना गया है तथापि इस परम्परा के श्रमण भी प्रतिक्रमण को मूलगुणों के तुल्य ही मानते हैं तथा उसी अनुसार प्रतिक्रमण करते भी हैं ।

अतिचारों की आलोचना करने के लिए श्रमण गुरु के समक्ष विनय सहित अपना अपराध निवेदन करता है तथा "मिच्छामि दुक्कडं" रूप प्रतिक्रमण पाठ का उच्चारण करके ज्ञात-अज्ञात समस्त दोषों से अपने को विलग करता है । प्रचलन में हम यह देखते हैं कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की प्रतिक्रमण विधि भी भिन्न-भिन्न है इसलिए उसकी अवधि में भी अन्तर है । प्रतिक्रमण की विधि एवं अवधि में अन्तर भले ही हो, किन्तु वस्तुतः दोनों परम्पराओं के श्रमण अपने दोषों से निवृत्त होने के लिए ही प्रतिक्रमण करते हैं ।

१. इच्छामि ठामि काउस्सगं जो मे देवसिओ अइयारो.....

.....समणाणं जोगाणं जं खंडियं जं विराहियं तस्स मिच्छामि दुक्कडं ।

—आवश्यकसूत्र, सामायिक. अध्ययन, पृ० १०-११

समाधिमरण :

श्रमण जीवन का अन्तिम लक्ष्य समाधिमरणपूर्वक मृत्यु ग्रहण करना है। जीवन की अन्तिम वेला में श्रमण द्वारा समभावपूर्वक जो मृत्यु ग्रहण की जाती है, वह समाधिमरण है। समाधिमरण, यावज्जीवन एवं एत्वरिक-इन दो रूपों में ग्रहण की जाती है। यावज्जीवन का अर्थ जीवन पर्यन्त के लिए तथा एत्वरिक का अर्थ किसी कालविशेष के लिए है। जैन धर्म में समाधिमरण को अत्यन्त आदरपूर्ण स्थान मिला है। प्रत्येक जैन मंतावलम्बी चाहे वह श्रमण हो या श्रावक, समाधिमरण प्राप्त करने की इच्छा रखता है।

जैन ग्रन्थों में कहा गया है कि समाधिमरण के द्वारा व्यक्ति कैवल्य या निर्वाण को प्राप्त कर सकता है। पं० आशाधर ने सागरधर्ममृत में स्पष्ट कहा है कि समाधिमरण त्रिरत्न प्राप्ति का साधन है।^१ जैन परम्परा में त्रिरत्न को ही मोक्ष का साधन कहा है।

श्रमण वर्ग को सांसारिक वस्तुओं के प्रति मोह एवं ममत्व नहीं होता है इसलिए वे ममत्व की साधना करके समाधिमरण व्रत को पूर्ण कर लेते हैं, क्योंकि कहा गया है कि समाधिमरण वही ग्रहण कर सकता है, जिसके कषाय अत्यल्प हों।

व्यक्ति का सबसे ज्यादा ममत्व अपने शरीर के प्रति ही होता है और समाधिमरण की प्रक्रिया में व्यक्ति अपने इसी ममत्व का त्याग करता है। शरीर के प्रति ममत्व का त्याग कर देने से वह राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है। राग-द्वेष से मुक्त होने के कारण वह सांसारिक बन्धन में नहीं पड़ता है, अपितु निर्लिप्त भाव से अपने समीप आने वाली मृत्यु को स्वागत करता है। इस तरह भय रहित होकर साधक मृत्यु को वरण करता है।

समाधिमरण की सामान्य विधि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में समान है। दोनों परम्पराओं का मानना है कि समाधिमरण लेने वाला साधक किसी शान्त स्थान पर जीवों से रहित भूमि पर उपलब्ध संस्तारक को बिछाकर उस पर आसीन होकर एकाग्रचित्त से ध्यान करते हुए आने वाली मृत्यु की प्रतीक्षा करता है, उस समय उसके मन में किसी तरह का प्रमाद नहीं होता है। दोनों परम्पराओं में बारह वर्षीय समाधिमरण व्रत

ग्रहण करने का भी उल्लेख मिलता है, इन बारह वर्षों में समाधिमरण ग्रहण करने वाला साधक किस प्रकार की साधना करता है, कैसे वह अपना समय बीताता है, इत्यादि बातों को लेकर दोनों परम्पराओं में कुछ अन्तर है। यह चर्चा हमने अपनी पुस्तक "महापञ्चक्खाण-पइण्णयं" की भूमिका में कुछ विस्तारपूर्वक की है।^१

श्वेताम्बर परम्परा के मान्य आगम उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार बारह वर्ष के पहले चार वर्षों में व्यक्ति दुग्ध आदि विकृतियों (रसों) का त्याग करता है तथा दूसरे चार वर्षों में वह विविध प्रकार के तप करता है, फिर दो वर्षों तक वह एकान्तर तप करता है। ग्यारहवें वर्ष के पहले छः महीनों तक कोई भी अतिविशिष्ट तप (तेला आदि) करने का निषेध किया गया है, तत्पश्चात् बाद के छः महीनों में अतिविशिष्ट तप करने को कहा है अथवा इस पूरे वर्ष में आर्यबिल तप करने को कहा गया है। बारहवें वर्ष में पूरे वर्ष तक कोटि-सहित अर्थात् निरन्तर आचाम्ल-आय-म्बिल करके फिर मुनि को पक्ष या एक माह का निराहार तप-अनशन करने को कहा है।^२

दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य ग्रन्थ भगवती आराधना में बारह वर्षीय समाधिमरण व्रत ग्रहण करने का कथन इस प्रकार उल्लिखित है—पहले चार वर्ष नाना प्रकार के तप करके काय-क्लेशों को अल्प करके बिताना। तथा दूसरे चार वर्षों में भोजन में समस्त प्रकार के रसों का त्याग करना। शेष चार वर्षों में दो वर्ष काँजी और रस व्यंजनों से रहित भोजन करना तथा बाद के दो वर्षों में एक वर्ष केवल काँजी आहार लेना और बारहवें वर्ष के प्रथम छः महीने मध्यम तप तथा अन्तिम छः महीने उत्कृष्ट तप करके समय व्यतीत करना चाहिए।^३

दोनों ग्रन्थों में मुख्य अन्तर इस प्रकार है—उत्तराध्ययनसूत्र में पहले चार वर्षों में सरस भोजन के त्याग का निर्देश है, वहीं भगवती आराधना में काय-क्लेशों को अल्प करने का निर्देश है। दूसरे चार वर्षों में उत्तराध्ययनसूत्र में विविध प्रकार के तप करने का निर्देश है, जबकि भगवती आराधना में रस रहित भोजन लेने का निर्देश है। बाद के दो वर्षों में जहाँ उत्तराध्ययनसूत्र में एकान्तर तप करने का निर्देश है, वहीं भगवती

१. सिसोदिया, सुरेश-महापञ्चक्खाणपइण्णयं, भूमिका पृष्ठ ६-७

२. उत्तराध्ययनसूत्र, ३६।२५२-२५५

३. भगवती आराधना, गाथा २५४-२५६

आराधना में काँजी या रूक्ष भोजन लेने का ही निर्देश दिया गया है। पुनः ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छः महीनों के लिये उत्तराध्ययनसूत्र में बेले या उपवास तथा बाद के छः महीनों में उत्कृष्ट तप आदि करने का निर्देश है, जबकि भगवती आराधना में इस तरह का विभाजन नहीं करके वहाँ सीधे-सीधे ग्यारहवें वर्ष की पूर्ण अवधि में काँजी आहार लेने का निर्देश है। बारहवें वर्ष के लिये उत्तराध्ययनसूत्र में आहार कम करने का निर्देश दिया गया है लेकिन भगवती आराधना में बारहवें वर्ष के प्रथम छः महीनों में मध्यम तप एवं अन्तिम छः महीनों में उत्कृष्ट तप करने का निर्देश है।

उत्तराध्ययनसूत्र श्वेताम्बर परम्परा का तथा भगवती आराधना दिगम्बर परम्परा का मान्य ग्रन्थ है, अतः समाधिकरण का जो अन्तर इन दोनों ग्रन्थों में उल्लिखित है, उसे श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा का इस विषयक मुख्य अन्तर मानने में कोई बाधा नहीं आती है।

प्राचीन जैन आगम आचारांगसूत्र में समाधिमरण के तीन भेदों का वर्णन मिलता है^१—(१) भक्तप्रत्याख्यानमरण, (२) इंगितमरण और (३) प्रायोपगमण या पादोपगमण मरण। समाधिमरण का यह भेद साधक की साधना को लेकर किया गया है। मोक्ष तो तीनों से ही प्राप्त किया जा सकता है। जहाँ तक श्रेष्ठता की बात है तो भक्तप्रत्याख्यानमरण की श्रेष्ठ, इंगितमरण की श्रेष्ठतर और प्रायोपगमणमरण की श्रेष्ठतम कहा जा सकता है।^२ समाधिमरण न तो जीवन से पलायन है और न ही आत्महत्या है, अपितु यह मृत्यु के आलिङ्गन की एक कला है और जिसने यह कला नहीं सीखी, उसका जीवन सार्थक नहीं बन पाता है।

प्रस्तुत विवेचन से ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के मान्य ग्रन्थों में श्रमण के विविध गुणों को लेकर कुछ भिन्नता अवश्य रही है, किन्तु यह भी सत्य है कि दोनों ही परम्पराओं के श्रमणाचार में पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तियों का पालन करना आवश्यक माना गया है। साथ ही दोनों परम्पराओं में स्वाध्याय ध्यान और तप श्रमण जीवन के अभिन्न अंग माने गये हैं। यद्यपि वर्तमान

१. आचारांगसूत्र, १।८।२३०-२५३

२. रज्जन कुमार—जैन धर्म में समाधिमरण की अवधारणा (शोध प्रबन्ध),
पृ० २११-२१२

में देश और काल के आधार पर अधिकांश सम्प्रदायों के श्रमणों ने अपने आचार-नियमों में व्यापक परिवर्तन कर लिए हैं, तथापि कुछ सम्प्रदाय अभी भी ऐसे हैं जो यथासम्भव शास्त्रसम्मत आचार-नियमों का ही पालन कर रहे हैं। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परंपराएँ वस्तुतः श्रमणाचार के माध्यम से एक आदर्श व्यक्तित्व का विकास करना चाहती हैं।



विभिन्न सम्प्रदायों की श्रावकाचार सम्बन्धी मान्यताएँ

आगम ग्रन्थों में साधकों को उनकी योग्यता के आधार पर श्रमण और श्रावक—इन दो भागों में विभक्त किया गया है। श्रमण को साधना उत्कृष्ट मानी गयी है, क्योंकि वह सांसारिक बन्धनों से पूर्णतः मुक्त होता है तथा हिंसा, परिग्रह आदि का पूर्ण त्यागी होता है, किन्तु श्रावक सांसारिक बन्धनों से पूर्णतः मुक्त नहीं होता है इसलिए वह हिंसा, परिग्रह आदि का पूर्ण त्याग नहीं कर पाता है। इन्हीं कारणों से श्रावक साधना श्रमण साधना की अपेक्षा कुछ कम उत्कृष्ट मानी गयी है।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में गृहस्थ के लिए श्रावक^१, श्रमणोपासक^२, उपासक^३, अगार^४ तथा सागार^५ आदि शब्दों का प्रयोग

१. (क) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, ५।४।२६ (२), (ख) उवासगदसाओ, २।९२
(ग) स्थानांगटीका, पत्र २७२, (घ) दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, पत्र, ३५.
(ङ) अनुयोगद्वार टीका, पत्र २७, (च) वसुनन्दिश्रावकाचार, श्लोक ३०१.
(छ) द्रव्यसंग्रह टीका, १३।३४।५, (ज) नियमसार, गाथा १३४
(झ) दर्शनपाहुड, गाथा २७, (ञ) चारित्रपाहुड, गाथा २७
(ट) भावपाहुड, गाथा १४३, (ठ) प्रवचनसार, चारित्र अधिकार,
गाथा ५०
२. (क) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, ७।१।८, (ख) स्थानांगसूत्र, ४।३।४२८
(ग) समवायांगसूत्र, ११।७।१, (घ) ज्ञाताघमकथाङ्ग, ५।२९
(ङ) उवासगदसाओ, १।७०, (च) अन्तगडदसाओ—व्याख्याता-
आचार्य नानेश, सूत्र, ६।३।८२
३. (क) समवायांगसूत्र, ११/७।१, (ख) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र २।४।२६ (२);
(ग) उवासगदसाओ, १/७०
४. (क) आचारांगसूत्र, १/९।१।४७, (ख) सूत्रकृतांगसूत्र, १।१।१९
(ग) स्थानांगसूत्र, २।१/१०७, (घ) उवासगदसाओ, १-१
५. (क) आचारांगसूत्र, १।९।४६, (ख) व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, ७।२।७

हुआ है। आंगमों में श्राविका^१ और श्रमणोपासिका^२ शब्दों का प्रयोग त हुआ है, किन्तु उनके आचार-नियमों की स्वतन्त्र चर्चा नहीं हुई है। श्रावकाचार का विवेचन करने वाले सभी ग्रन्थों में श्राविका के आचार की चर्चा श्रावकाचार के अन्तर्गत ही की गई है, क्योंकि श्रावक और श्राविका का आचार समान माना गया है।

श्रावक का अर्थ :

“श्रुणोति गुर्वादिभ्यो धर्म इति श्रावकः” अर्थात् जो गुरुओं से धर्म सुनता है, वह श्रावक है। श्रावक के घर जन्म लेने मात्र से कोई श्रावक नहीं बन जाता है, अपितु श्रावक व्रत ग्रहण करने वाला ही श्रावक कहलाता है। दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थ सागार धर्माभूत में दान-पूजा करने वाले गृहस्थ को श्रावक कहा गया है।^३ श्रावकप्रज्ञप्ति में कहा है कि जो सम्यक्त्वी प्रतिदिन साधुओं से सम्यक् दर्शन आदि समाचारी को सुनता है, वह निश्चित रूप से श्रावक है।^४

श्रावक की पहचान :

यह जिज्ञासा की जा सकती है कि श्रमण एवं श्रावक की पहचान कैसे की जाए? समाधान में हम कहना चाहेंगे कि एक तो श्रमण पंच महाव्रतों की आराधना समग्रतया करता है जबकि गृहस्थ उनका पालन अंशतः करता है, इसलिए श्रमण के व्यवहार को देखकर ही यह ज्ञात हो जाता है कि यह श्रमण है और दूसरे श्रमण लिङ्ग (वेश) गृहस्थलिङ्ग से भिन्न होता है। श्रमण के वेश आदि से किसी सीमा तक यह भी ज्ञात हो जाता है कि यह श्रमण जैनधर्म के किस सम्प्रदाय का है? किन्तु इसी रूप में श्रावक की पहचान करना सहज नहीं है। यद्यपि कुछ समय पूर्व तक श्वेताम्बर मूर्तिपूजक एवं दिगम्बर बीसपंथी सम्प्रदाय के श्रावक सामान्यतया ललाट पर तिलक लगाते थे, लेकिन अब उनमें भी यह

(ग) पचाशकप्रकरण टीका, पत्र १५३, (घ) समयसार, गाथा ४११

(ङ) प्रवचनसार, ज्ञेय अधिकार, गाथा १०२ तथा चारित्र अधिकार, गाथा ७५

(च) चारित्रपाहुड, गाथा २२

१. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र, ५।४।२६ (२)

२. स्थानांगसूत्र, ४।३।४२९

३. सागारधर्माभूत, १।१५

४. श्रावकप्रज्ञप्ति, गाथा २

परम्परा समाप्त प्रायः हो गई है। इसलिए इस आधार पर भी श्रावक की पहचान नहीं की जा सकती है। श्रावक की पहचान उसके आचरण से ही हो सकती है। वस्तुतः श्रावक वही है जो श्रावकाचार का पालन करता है।

श्रावकाचार :

श्रावक, श्रमणोपासक, उपासक, अगार, सागार अथवा गृहस्थ आदि कुछ भी नाम दें, ये जिन आचार-नियमों का पालन करते हैं, वे आचार-नियम ही श्रावकाचार कहलाते हैं। श्रावकाचार का प्रतिपादन करने वाले कई ग्रन्थ हैं, जिनमें श्रावक के बारह व्रतों एवं उनके अतिचारों का अथवा ग्यारहप्रतिमाओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु उन सभी ग्रन्थों के आधार पर यहाँ विवेचन प्रस्तुत करना संभव नहीं है। इसलिए हमने यहाँ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं के कुछ प्रतिनिधि ग्रन्थों के आधार पर श्रावकाचार सम्बन्धी श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यता को प्रस्तुत किया है।

आगमों में श्रावकाचार :

स्थानांगसूत्र में श्रावक के तीन मनोरथों^१ एवं पाँच अणुव्रतों^२ का उल्लेख हुआ है। समवायांगसूत्र में श्रावक के बारह व्रतों का उल्लेख नहीं करके उसकी ग्यारह प्रतिमाओं का विवेचन किया गया है।^३ उपासक-दशांगसूत्र में महावीरकालीन दस श्रावकों का उल्लेख करते हुए पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत, ग्यारह प्रतिमाएँ, संलेखना आदि का वर्णन किया गया है।^४ विपाकसूत्र में पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत रूप बारह प्रकार के गृहस्थ धर्म का उल्लेख हुआ है।^५ दशाश्रुतस्कन्ध में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख है^६ तथा आवश्यकसूत्र में षड्वावश्यकों के साथ-साथ प्रतिक्रमण के अन्तर्गत श्रावक के बारह व्रतों के अतिचारों का भी वर्णन हुआ है।^७

१. स्थानांगसूत्र, ३।४।४९७

२. वही, ५।१।२

३. समवायांगसूत्र, १।१७१

४. उपासकदशांग १।१२-५७

५. विपाकसूत्र, २।१।६

६. दशाश्रुतस्कन्ध ६।१-२

७. आवश्यकसूत्र-मुनि पुण्यविजय, आश्वास ६

इसके अतिरिक्त श्रावकाचार के विविध पहलुओं का विवेचन श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र की सावयपण्णत्ति तथा धर्मबिन्दु में, जिनेश्वर-सूरिके षडस्थानप्रकरण में, शान्तिसूरिके धर्मरत्नप्रकरण में, देवेन्द्रसूरिके षडजीवकल्प में, जिनमंडनगणिके श्राद्धगुणविवरण में, रत्नशेखरको श्राद्धविधि में और उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र में मिलता है तथा दिगम्बर परंपरा में यह विवेचन कुन्दकुन्दके चारित्रपाहुड में, कार्तिकेयको कार्तिकेयानुप्रेक्षा में, समन्तभद्रके रत्नकरण्डकश्रावकाचार में, जिनसेनके आदिपुराण में, सोमदेवके उपासकाध्ययन में, अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्धयुपाय में, वसुनन्दिके वसुनन्दिश्रावकाचार में, अमितगतिके अमितगतिश्रावकाचार में, पंडित आशाधरके सागारधर्माभूत आदि ग्रन्थों में हुआ है।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में श्रावकाचारका पालन करनेवाले श्रावकके लिए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत, ग्यारह प्रतिमाएँ तथा छः आवश्यक कर्मोंका विधा किया गया है।

अणुव्रत :

अहिंसा आदि पाँच व्रतोंका पालन जब पूर्ण रूपसे किया जाता है तो ये महाव्रत कहलाते हैं और जब इन व्रतोंका पालन आंशिक रूपसे किया जाता है तो ये अणुव्रत कहलाते हैं।

स्थानांगसूत्र^१ तथा उपासकदशांगसूत्र^२ में स्थूलप्राणातिपात विरमण, स्थूलमृषावाद विरमण, स्थूलअदत्तादान विरमण, स्वदारसंतोष तथा इच्छाविधिपरिमाण—इन पाँच अणुव्रतोंका उल्लेख हुआ है। उमास्वातिके तत्त्वार्थसूत्र में हिंसा आदिसे अल्प अंशमें विरति होना अणुव्रत माना है।^३ भगवतो आराधनामें प्राणवध, मृषावाद, अदत्तादान, परदारगमन तथा अमर्यादित इच्छा (परिग्रह) से विरत होना अणुव्रत माना है।^४ समन्तभद्रने रत्नकरण्डकश्रावकाचारमें स्थूलप्राणातिपातव्युपरमण, स्थूलवितथव्याहारव्युपरमण, स्थूलस्तेयव्युपरमण, स्थूलकामव्युपरमण और

१. स्थानांगसूत्र, ५।१।२
२. उपासकदशांग, १।१३-१७
३. तत्त्वार्थसूत्र, ७।२
४. भगवती आराधना, गाथा २०७४

स्थूलमुच्छ्राव्युपरमण को अणुव्रत माना है।^१ हरिभद्र ने श्रावकप्रज्ञप्ति में स्थूलप्राणिवध आदि से विरत रहने को अणुव्रत माना है।^२ आचार्य जिनसेन ने महापुराण में स्थूल हिंसा आदि दोषों से विरत होने को अणुव्रत कहा है।^३ वसुनन्दि ने वसुनन्दिश्रावकाचार में स्थूलप्राणातिपात आदि से विरत होने को अणुव्रत माना है।^४ आचार्य कुन्दकुन्द ने चारित्र-पाहुड में अणुव्रतों को इस रूप में प्रस्तुत किया है—(१) स्थूल त्रसकाय वध परिहार, (२) स्थूल मृषावाद परिहार, (३) स्थूल अदत्त परिहार, (४) परमहिंसा परिहार और (५) परिग्रह-आरम्भ परिमाण।

जैन आगमों एवं उत्तरवर्ती ग्रन्थों में विविध आचार्यों ने अणुव्रतों के स्वरूप का जो वर्णन किया है, उनके कथन को शैली में भिन्नता अवश्य है, किन्तु सभी आचार्यों ने हिंसा आदि पाँच पापों के आंशिक त्याग को अणुव्रत माना है। अणुव्रत मूलतः तो पाँच ही माने गये हैं, किन्तु दिगम्बर परंपरा के मान्य ग्रन्थ चारित्रसार में रात्रि भोजन-त्याग को श्रावक का छोटा अणुव्रत माना गया है।^५ सर्वार्थसिद्धि टीका में यद्यपि रात्रि भोजन त्याग की गणना छठें अणुव्रत के रूप नहीं की गई है, किन्तु वहाँ यह कहा गया है कि अहिंसा व्रत की 'आलोकित भोजनपान' भावना में रात्रिभोजन विरमण व्रत का अन्तर्भाव हो जाता है।^७

पाँच अणुव्रत एवं अतिचार :

१. स्थूलप्राणातिपात विरमणव्रत—

अहिंसा अणुव्रत नाम भी इसी व्रत का है। जोवेनपर्यन्त के लिए दो करण (कृत व कारित), तीन योग (मन वचन एवं काया) से स्थूल हिंसा का त्याग करना श्रावक का स्थूलप्राणातिपात विरमण व्रत है।^६

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३१६

२. श्रावकप्रज्ञप्ति, १०६

३. महापुराण, ३९१४

४. वसुनन्दिश्रावकाचार, श्लोक २०८

५. चारित्रपाहुड, गाथा २४

६. "पंचघाणुव्रतं रात्र्यभुक्तिः षष्ठमणुव्रतं।"

—चारित्रसार, १३३

७. सर्वार्थसिद्धिटीका, ७११

८. (क) स्थानांगसूत्र, ५११२

(ख) उवासगदसाओ, ११३३

श्रावक अहिंसा अणुव्रत का पालन करने हेतु यथाशक्ति शुद्ध प्रवृत्ति करता है, किन्तु गृहस्थावस्था में रहने के कारण ज्ञात-अज्ञात रूप में उससे आंशिक रूप में इस व्रत का उल्लंघन हो जाना स्वाभाविक है। व्रत में पूर्ण प्रवृत्ति न होने के कारण श्रावक को यह भूमिका स्थूल अर्थात् आंशिक त्याग की कही गई है। इस व्रत का पालन करते हुए श्रावक निरपराध त्रस एवं स्थावर जोवों की हिंसा का मन, वचन एवं कायापूर्वक त्याग करता है।

श्रावक अपने व्यावसायिक एवं पारिवारिक दायित्वों से पूर्णतः मुक्त नहीं होता है, अतः उसके व्रताराधन में अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार या अनाचार की सम्भावना रहती है, इसलिए श्रावक के अहिंसाव्रत का स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत कहा गया है।

अतिचार :

अनभिज्ञता में व्रत में कहीं स्खलना हो जाती है तो उसे अतिचार कहा जाता है। आचार्यों ने प्रत्येक व्रत के पाँच-पाँच अतिचार कहे हैं, जिन्हें जानना चाहिए, परन्तु आचरण नहीं करना चाहिए।

उपासकदशांगसूत्र में स्थूलप्राणातिपातविरमण व्रत के पाँच अतिचार—बन्ध, वध, छविच्छेद, अतिभार, और भक्तपानविच्छेद कहे हैं।^१ तत्त्वार्थसूत्र में बन्ध, वध, विच्छेद अतिभारारोपण तथा अन्नपाननिरोध अहिंसा अणुव्रत के अतिचार माने गये हैं।^२ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में छेदन, बन्धन, पीड़न, अतिभारारोपण और आहारवारण को अतिचार बताया है।^३ सागारधर्मावृत में बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण और भुक्तिनिरोध अहिंसाणुव्रत के अतिचार माने गये हैं।^४ इसके अलावा आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में तथा आचार्य अमितगति ने अमितगतिश्रावकाचार

१. "तयाणंतरं च णं थूलगसस पाणाइवायवेरमणसस समणावासएणं पंच अइयारा पेयाला जाणियव्वा न समारियव्वा । तंजहा-बन्धे, वहे, छवि-च्छेए, अइभारे, भत्त-पान-वोच्छेए ।"

—उवासगदसाओ, १।४५

२. तत्त्वार्थसूत्र, ७।२०

३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।८

४. सागार धर्मावृत, ४।१५

में अहिंसाणुव्रत के जो पाँच अतिचार बताए हैं, वे इन्हीं अर्थों में हैं।^१ इस प्रकार स्पष्ट है कि स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत के पाँच अतिचारों को लेकर श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में कोई भेद नहीं है।

२. स्थूल मृषावाद विरमणव्रत—

उपासकदशांगसूत्र में असत्य व्यवहार से विरत होने को स्थूलमृषावाद विरमण कहा है।^२ प्रायः सभी ग्रन्थों में मृषावाद एवं अलीकवचन को ही असत्य कहा है, किन्तु आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में “असद-भिधानमनृतम्” शब्द का कथन करके स्पष्ट कहा है कि ऐसा कोई भी वचन जिससे प्राणियों को पीड़ा पहुँचती हो, चाहे वह सत्य हो या झूठ, असत्य कहलाता है।^३ उनके अनुसार जोव रक्षा के लिए बोला गया असत्य वचन भी असत्य नहीं है।

गृहस्थावस्था में रहते हुए कभी स्वार्थवश, कभी द्वेषवश और कभी व्यापार के निमित्त श्रावक के द्वारा जो कथंचित असत्य व्यवहार हो जाता है, वह अतिचार है।

अतिचार :

उपासकदशांगसूत्र में स्थूल मृषावादविरमण व्रत के पाँच अतिचार इसप्रकार कहे गए हैं—सहसाभ्याख्यान, रहस्याभ्याख्यान, स्वदारमन्त्र-भेद, मृषोपदेश और कूटलेखकरण। तत्त्वार्थसूत्र में मिथ्योपदेश, रहस्य-अभ्याख्यान, कूटलेखाक्रिया, न्यासापहार और साकार-मन्त्र भेद इस व्रत के अतिचार माने गये हैं।^४ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में परिवाद, रहस्य-अभ्याख्यान, पैशुन्य, कूटलेखकरण और न्यासापहार को सत्याणुव्रत के अतिचार कहा गया है।^५ सागारधर्माभूत में मिथ्या उपदेश, रहस्य-अभ्या-

१. (क) पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १८३ (ख) अमितगतिश्रावकाचार, ७।३

२. उवासगदसाओ, १।१४

३. तत्त्वार्थसूत्र, ७।९

४. “तयाणंतरं च णं थूलगस्स मुसावायवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियक्वा न समारियक्वा । तं जहा-सहसा-अब्भक्खाणे, रहसा-अब्भक्खाणे, सदारमंतभेए, मोसावएसे, कूडलेहकरणे ।”
—उवासगदसाओ १।४६

५. तत्त्वार्थसूत्र, ७।२१

६. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।१०

ख्यान, कूटलेख क्रिया, न्यास्तांशविस्मर्त्तुज्ञा और मन्त्रभेद—ये पाँच अतिचार माने हैं।^१

स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के जो पाँच अतिचार उपासकदशांगसूत्र में बतलाये गये हैं, उन्हीं का अनुसरण उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में किया है किन्तु उन्होंने सहस्रसंख्यस्थान के स्थान पर न्यासापहार को इस व्रत का अतिचार माना है। समन्तभद्र ने रत्नकरण्डकश्रावकाचार में सत्याणु-व्रत के अतिचारों में परिवाद और पेशुन्य इन दो नये अतिचारों का समावेश करके मिथ्योपदेश तथा साकार-मन्त्र भेद अतिचार को छोड़ दिया है। इस प्रकार स्थूल मृषावाद विरमण व्रत के अतिचारों में आंशिक भिन्नता है।

३. स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत :

श्रावक का यह व्रत अस्तेय या अचौर्यव्रत के नाम से भी जाना जाता है। “अदत्त” का अर्थ है—बिना दी गई, “आदान” का अर्थ है—ग्रहण करना, इस प्रकार बिना दी हुई वस्तु को ग्रहण करना “अदत्तादान” है। श्रावक बिना दी हुई वस्तु को स्थूल रूप से ग्रहण नहीं करने के कारण अदत्तादान विरमण व्रत का पालक कहलाता है। उपासकदशांग सूत्र में कहा है—अदत्तादान विरमण व्रतधारी श्रावक जीवनपर्यन्त दो करण, तीन योग से अदत्तादान का सेवन नहीं करता है।^२ उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में अस्तेय अणुव्रत के लिए “अदत्तादानं स्तेयं” शब्द प्रयुक्त करते हुए स्पष्ट किया है कि स्तेयबुद्धि से अर्थात् चोरी करने के अभिप्राय से वस्तु को ग्रहण करना अदत्तादान है।^३ आवश्यकसूत्र में श्रावक को सचित्त और अचित्त दोनों प्रकार के अदत्तादान का त्याग करने को प्रेरणा दी गई है।^४ श्रावकाचार की भूमिका में रहने वाला श्रावक पाँच प्रकार के अतिचारों का निवारण करता हुआ स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत का पालन करता है।

अतिचार :

स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत के पाँच अतिचार बताये गये हैं।

१. सागारघर्मामृत, ४।४५
२. उवासगदसाओ, १।१५
३. तत्त्वार्थसूत्र, ७।१०
४. आवश्यकसूत्र, ३

उपासकदशांगसूत्र में स्तेनाहृत, तस्करप्रयोग, विरुद्ध राज्यातिक्रम, कूटतुला-कूटमाण और तत्प्रतिरूपकव्यवहार को इस व्रत के अतिचार माने हैं।^१ तत्त्वार्थसूत्र में स्तेनप्रयोग, स्तेन-आहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिक मानोन्मान और प्रतिरूपकव्यवहार को अस्तेय अणुव्रत के अतिचार गिनाये हैं।^२ समन्तभद्र ने रत्नकरण्डकश्रावकाचार में विरुद्ध-राज्यातिक्रम के स्थान पर विलोप शब्द का प्रयोग किया है,^३ किन्तु उसका भी फलितार्थ राजकीय कानून का उल्लंघन करना ही है। सोमदेव ने उपासकाध्ययन में सत्याणुव्रत से पहले अचौर्याणुव्रत की चर्चा की है तथा बाट-तराज का कमती-बढ़ती रखना, चोरी का उपाय बतलाना, चोरी का माल खरीदना, देश में युद्ध छिड़ जाने पर पदार्थों का संग्रह करके रखना—ये अचौर्याणुव्रत के अतिचार माने हैं।^४ इस प्रकार स्पष्ट है कि अस्तेयव्रत के अतिचारों को लेकर आचार्य सोमदेव का दृष्टिकोण अन्य आचार्यों से कुछ भिन्न है।

४. स्वदारसंतोष परिमाणव्रत :

श्रावक का यह व्रत ब्रह्मचर्य अणुव्रत के नाम से जाना जाता है। श्रावक अपने आचरण करने योग्य नियमों को ध्यान में रखता हुआ यह व्रत भी ग्रहण करता है कि मैं अपनी विवाहिता पत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री के साथ किसी तरह का मैथुन सम्बन्ध नहीं रखूंगा। स्वदार-संतोष परिमाण व्रत ग्रहण करने से श्रावक कामवासना से पूर्ण निवृत्त तो नहीं हो जाता है, किन्तु संयमित अवश्य होता है। श्रावक और श्राविका दोनों ही इस व्रत को ग्रहण करके अपने धर्म का निर्वाह करते हैं।

रत्नकरण्डकश्रावकाचार^५, सागारधर्माभूत^६, सर्वार्थसिद्धि^७ तथा

१. "तयाणंतरं च णं थूलगस्स अदिण्णादानवेरमणस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समारियव्वा । तं जहात्तेणाहडे, तस्करण्णओगे, विरुद्ध रज्जाइक्कमे, कूडतुल्ल-कूडमाणे, तप्पडिक्खवगवहारे ।" —उवासगदसाओ, १।४७
२. तत्त्वार्थसूत्र, ७।२१
३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।१२
४. उपासकाध्ययन, श्लोक ३७०
५. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।१३
६. सागारधर्माभूत, ४।५२
७. सर्वार्थसिद्धि, ७।२०

कार्तिकेयानुप्रेक्षा^१ आदि ग्रन्थों में परस्त्री के साथ मैथुन सम्बन्ध नहीं रखना ब्रह्मचर्य-अणुव्रत माना है, किन्तु सोमदेव ने उपासकाध्ययन में विवाहिता स्त्री और वेश्या के अलावा अन्य स्त्रियों को माता, बहिन या पुत्री मानना ब्रह्मचर्याणुव्रत माना है।^२ आचार्य सोमदेव का यह कथन अकारण नहीं है। वस्तुतः इस व्रत के लिए स्वदारसंतोष और परदार-निवृत्ति दोनों शब्द प्रयुक्त हुए हैं। स्वदारसंतोष का अर्थ तो अपनी पत्नी में ही सन्तुष्ट रहना है किन्तु सोमदेव जैसे आचार्यों ने परदारनिवृत्ति का शाब्दिक अर्थ दूसरों की पत्नी से निवृत्त रहना किया है। इसी कारण उन्होंने-वेश्याएँ अथवा खरीदी गई स्त्री के साथ मैथुन सम्बन्ध रखने को इस व्रत का निषेध नहीं माना है किन्तु यह अर्थ इस व्रत की मूल भावना के अनुकूल नहीं है इसलिए अपनी पत्नी के अतिरिक्त अन्य किसी स्त्री के साथ किसी तरह का मैथुन सम्बन्ध नहीं रखना ही स्वदारसंतोषव्रत माना जाता है। परदारनिवृत्ति शब्द को भी इसी अर्थ में समझना चाहिए। वसुनन्दिश्रावकाचार में स्थूल ब्रह्मचारी के लिए अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व के दिनों में स्त्रीसेवन तथा अंगक्रीडा का सदैव त्याग करने का जो कथन किया है, वह श्रावक की काम-वासना को संयमित करने के लिए ही है।^३

अतिचार :

स्वदारसन्तोष परिमाण व्रत के पाँच अतिचार बताये गये हैं।^४ उपासकदशांगसूत्र में इत्वरिपरिग्रहोतागमन, अपरिग्रहोतागमन, अंगक्रीडा, पर-विवाहकरण तथा कामभोगतीव्वाभिलाषा—ये पाँच अतिचार माने हैं।^५ तत्त्वार्थसूत्र में परविवाहकरण, इत्वरिपरिग्रहोतागमन, अपरिग्रहोतागमन,

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३३८

२. उपासकाध्ययन, श्लोक ४०५

३. “पञ्चसु इत्थिसेवा अंगक्रीडा सया विवज्जंतो ।
शूलयड्ढंभयारी जिणेहि भणिओ पवयणम्मि ॥”

—वसुनन्दिश्रावकाचार, श्लोक २।२.

४. “तयानंतरं च णसदार-सन्तोसिए पंच अइयारा जाणियव्वा
न समारियव्वा । तं जहा-इत्तरियपरिग्रहियागमणे,
अप्परिग्रहियागमणे, अंगक्रीडा, परविवाहकरणे,
कामभोगतिव्वाभिलासे ।” —उवासमदसाओ १।४८

अनंगक्रीडा और तीव्रकामाभिनिवेश—ये पाँच अतिचार गिनाए हैं।^१ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में अन्य विवाहकरण, अनंगक्रीडा, विटत्व, विपुल तृष्णा और इत्वरिकागमन को ब्रह्मचर्य अणुव्रत के अतिचार माने हैं।^२ सोमदेव ने उपासकाध्ययन में परस्त्री संगम और कैतव्य ये दो अतिचार भिन्न बतलाये हैं।^३

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस व्रत के अतिचारों के नाम एवं क्रम में आंशिक भिन्नता है। परिणामस्वरूप कुछ अर्थभेद भी दृष्टिगोचर होता है। उपासकदशांग में जहाँ पहला अतिचार इत्वरिपरिगृह्यतागमन है वहीं तत्त्वार्थसूत्र में परविवाहकरण है। परविवाहकरण उपासकदशांग में चौथे नम्बर पर है। परविवाहकरण को समन्तभद्र ने अन्यविवाहकरण और सोमदेव ने परस्त्री संगम कहा है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में ब्रह्मचर्यव्रत के चौथे अतिचार में विटत्व का प्रयोग करके शारीरिक कुचेष्टाओं तथा अश्लोल और भद्दे वचनों के प्रयोग को भी अतिचार माना गया है। उपासकाध्ययन में विटत्व के स्थान पर कैतव्य शब्द का प्रयोग करके झूठ, धोखा और जालसाजों को भी इस व्रत के अतिचार माने हैं।

अतिचारों के कथन में शाब्दिक समानता भङ्गेन रहो हो, किन्तु कामवासना के संयम की मूल भावना में कोई भिन्नता नहीं है। सभी आचार्यों ने पाँच-पाँच अतिचारों का कथन करके यही बतलाया है कि इनसे बचे रहकर ही निर्दोष ब्रह्मचर्य का परिपालन हो सकता है।

५. इच्छाविधि परिमाण व्रत :

श्रावक का यह व्रत अपरिग्रह अणुव्रत के नाम से जाना जाता है। श्रमण की तरह श्रावक के लिए परिग्रह का पूर्ण त्याग करना सम्भव नहीं है। गृहस्थावस्था में रहने के कारण श्रावक अपने एवं अपने परिवार के भरणपोषण, बच्चों की शिक्षा, स्वास्थ्य एवं समाज में मान-मर्यादा तथा अतिथिसत्कार एवं श्रमणों के ग्रहण करने योग्य उपकरणों को जुटाने हेतु परिग्रह अवश्य करता है, किन्तु इस व्रत को ग्रहण करके श्रावक अपनी मर्यादा और स्थिति के अनुसार इच्छाओं को सीमित करने का

१. तत्त्वार्थसूत्र, ७।२३

२. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।१४

३. उपासकाध्ययन, श्लोक ४१८

संकल्प लेता है। विविध ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख है कि इस व्रत के धारण करने वाला श्रावक खेत, वस्तु, धन-धान्य, सोना, चाँदी, द्विपद, चतुष्पद, गृहसामग्री आदि की सीमा निर्धारित कर लेता है।^१

अतिचार :

अन्य व्रतों की तरह इच्छाविधि परिमाण व्रत के भी पाँच अतिचार बतलाए गए हैं। उपासकदशांगसूत्र में क्षेत्रवस्तु-प्रमाण अतिक्रम, हिरण्य-स्वर्ण-प्रमाण अतिक्रम, द्विपद चतुष्पद-प्रमाण अतिक्रम, धन-धान्य प्रमाण अतिक्रम और कुप्य-प्रमाण अतिक्रम को इस व्रत के अतिचार माने हैं।^२ तत्त्वार्थसूत्र में द्विपद-चतुष्पद प्रमाण अतिक्रम नहीं कहकर दासो-दास प्रमाण अतिक्रम कहा गया है।^३ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में अतिदाहन, अतिसंग्रह, विस्मय, लोभ और अतिभार वाहन को इस व्रत के अतिचार माने हैं।^४ सागारधर्माभूत में वास्तु-क्षेत्र अतिचार, धन-धान्य-बन्धन अतिचार, कनक-रूप्य दान अतिचार, कुप्य भाव अतिचार और गवादी गर्भतातिचार—ये पाँच अतिचार अपरिग्रह अणुव्रत के बतलाए हैं।^५

श्रावक अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार दो करण, तीन योग से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप—इन पाँच अणुव्रतों का पालन करता है। अहिंसा अणुव्रत का पालन करते हुए श्रावक स्थूल हिंसा का, सत्य अणुव्रत का पालन करते हुए स्थूल असत्य का, अस्तेय अणुव्रत का पालन करते हुए स्थूल चोरी का, ब्रह्मचर्य अणुव्रत का पालन करते हुए स्थूल अब्रह्मचर्य का तथा अपरिग्रह अणुव्रत का पालन करते हुए परिग्रह का परिमाण करता है। प्रत्येक अणुव्रत के जो पाँच-पाँच अतिचार बतलाए गए हैं, विवेकी श्रावक उनको ध्यान में रखता है ताकि अनभिज्ञता में भी उसके किसी व्रत में स्वलना न आ जाए।

१. (क) उवासगदसाओ १।४९ (ख) रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।१५
(ग) अमितगतिश्रावकाचार, ६।७३

२. “तयाणंतरं च णं इच्छा-परिमाणस्त समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियग्वा, न समारियग्वा । तं जहा-खेत-वत्थुपमाणाइक्कमे, हिरण्ण-सुवण्णपमाणाइक्कमे, बुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमे, धणघान्नपमाणाइक्कमे, कुवियपमाणाइक्कमे ।” —उवासगदसाओ, १।४९

३. तत्त्वार्थसूत्र, ७।२४

४. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।१६

५. सागारधर्माभूत, ४।६४

तीन गुणव्रत एवं अतिचार :

पाँच अणुव्रत श्रावक के मूलव्रत हैं। अणुव्रतों के पश्चात् श्रावक तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत धारण करता है। इन सात व्रतों को आचार्य अमृतचन्द्र ने 'शीलव्रत' कहा है। उनका कहना है कि जैसे परकोटे नगर की रक्षा करते हैं वैसे ही शीलव्रत अणुव्रतों की रक्षा करते हैं।^१ पं० आशाधर ने सागार धर्माभूत में कहा है कि जो अणुव्रतों में विद्युद्धि लाने वाले हों तथा जो अणुव्रतों के उपकारक हों, उन्हें गुणव्रत कहते हैं।^२

उपासकदशांगसूत्र में बारह प्रकार का अगार धर्म बतलाते हुए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का उल्लेख हुआ है।^३ इसी ग्रन्थ में श्रावक धर्म की प्ररूपणा करते हुए गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों को संयुक्त रूप से सात शिक्षाव्रत भी कहा है।^४ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में कहा है—दिग्ब्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगोपभोगपरिमाणव्रत अष्ट मूल-गुणों में वृद्धि करते हैं इसलिए इनको गुणव्रत कहते हैं।^५ गुणव्रतों का संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

१. दिग्ब्रत :

अधिकांश आचार्यों ने दिग्ब्रत को गुणव्रत माना है। श्रावकाचार का प्रतिपादन करने वाले प्रमुख स्वैताम्बर ग्रन्थ उपासकदशांगसूत्र में

१. "परिषय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि ।"

—पुरुषार्थसिद्धचुपाय, १३६

२. "यद्गुणायोपकारायणुव्रतानां व्रतानि तत् ।"

—सागार धर्माभूत, ५११

३. "अगार धम्मं दुवालसविहं आइक्खइ, तं जहा—पंच अणुब्बयाइ,
तिण्णि गुणब्बयाइ, चत्तारि सिक्खावयाइ ।"

—उवासगदसाओ, ११११

४. "अत्थेगइया पंचाणुब्बइयं सत्तसिक्खावइयं दुवालसविहं
गिहिधम्मं पड्डिवण्णा ।"

—उवासगदसाओ, ११११

५. "दिग्ब्रतमनर्थदण्डव्रतं च, भोगोपभोग-परिमाणं ।

अनुवृंहणाद् गुणानामाख्यान्ति गुणव्रतान्यार्याः ॥"

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।२१

दिग्ब्रत का विवेचन किया गया है, किन्तु उसके स्वरूप पर विस्तृत प्रकाश नहीं डाला गया है। उपासकदशांगसूत्र के टीकाकार मुनि घासीलाल जी ने दिग्ब्रत में पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओं की मर्यादा कर लेने को कहा है।^१ आवश्यकसूत्र में ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशा में गमनागमन के यथापरिमाण त्याग को दिग्ब्रत कहा है।^२ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में सूक्ष्म पापों से मुक्त होने के लिए दसों दिशाओं की मर्यादा करके जीवन-पर्यन्त उससे बाहर नहीं जाने के संकल्प को दिग्ब्रत कहा है।^३ इसी ग्रन्थ में आचार्य समन्तभद्र ने दसों दिशाओं^४ में स्थित समुद्र, नदी, पहाड़, पर्वत, शरर आदि की मर्यादा निश्चित करने को कहा है।^५

अतिचार

आचार्यों ने अन्य व्रतों की तरह दिग्ब्रत के भी पाँच अतिचार प्रतिपादित किये हैं। उपासकदशांगसूत्र में ऊर्ध्वदिशि-प्रमाणातिक्रम, अधोदिशि-प्रमाणातिक्रम, तिर्यक्दिशि-प्रमाणातिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तर्धान को दिशिब्रत (दिग्ब्रत) के अतिचार माने हैं।^६ तत्त्वार्थसूत्र में भी ये हो पाँच अतिचार कहे गये हैं।^७ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में ऊर्ध्व व्यतिपात, अधो व्यतिपात, तिर्यक् व्यतिपात, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तर्धान को दिग्ब्रत के अतिचार कहा है।^८ सागार धर्माभूत में सीमा विस्मृति, ऊर्ध्व व्यतिक्रम,

१. उपासकदशांगसूत्रटीका—मुनि घासीलाल, पृ० २३५

२. आवश्यकसूत्र, ६

३. “दिग्बलयं परिगणितं, कृत्वातोऽहं बहिनं यास्यामि ।
इति सङ्कल्पो दिग्ब्रत-मामृत्युणुपापविनिवृत्त्यै ।”

—रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।२२

४. दस दिशाएँ इस प्रकार हैं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधो, ईशान, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य ।

५. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।२३-२४

६. “तथाप्यन्तरं च नं दिसिष्वयस्स पंच अइयारा जाणियव्वा न समारियण्वा ।
तं जहा-उड्ढदिसिममाणा इक्कमे, अहो-दिसिपमाणा इक्कमे, तिरियदिसि-
पमाणाइक्कमे, खेत्तवुड्ढी, सइअंतरद्धा ।”

—उपासकदशांगो, १।५०

७. तत्त्वार्थसूत्र, ७।२५

८. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।२७

अथो व्यतिक्रम, तिर्यक् भाग व्यतिक्रम और क्षेत्रवृद्धि को दिग्घत के अति-चार माना है ।^१

यहाँ हम देखते हैं कि विभिन्न ग्रन्थों में दिग्घत के जो अतिचार बतलाए गए हैं उनमें कुछ में शब्दगत भिन्नता है और कहीं-कहीं उनके क्रम में भी अन्तर है, किन्तु अतिचारों के स्वरूप को लेकर कोई भिन्नता नहीं है। सभी आचार्यों ने व्यक्ति को गमनागमन की विविध दिशाओं की एक निश्चित मर्यादा निर्धारित करने को कहा है ताकि उस परिधि के बाहर होने वाले कार्यों का दोष उसे नहीं लगे।

२. उपभोग परिभोग परिमाण व्रत

किसी वस्तु का एक बार उपयोग में आना उपभोग तथा बार-बार उपयोग में आना परिभोग है। एक अन्य दृष्टि से किसी वस्तु का एक बार उपयोग में आना भोग तथा बार-बार आना उपभोग है। वस्तुतः बार-बार भोगे जाने वाले पदार्थों को उपभोग-परिभोग कहा जाता है।

श्रावक विविध क्रियाओं को करता हुआ भोजन सम्बन्धी और कर्म सम्बन्धी उपभोग-परिभोग अवश्य करता है। उपभोग-परिभोग की वस्तुओं की सीमा निर्धारित करना उपभोग परिभोग परिमाण व्रत है।

गुणव्रत के विवेचन में आचार्यों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रहा है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र^२ में और वसुनन्दो ने वसुनन्दिश्रावकाचार^३ में उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत को भी शिक्षाव्रत में रखा है, किन्तु समन्त-मद्र ने रत्नकरण्डकश्रावकाचार^४ में, पं० आशाधर ने सागार धर्माभूत^५ में और आचार्य सोमदेव ने उपासकाध्ययन^६ में उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत को गुणव्रत के अन्तर्गत रखा है।

इवेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में श्रावक के सातवें व्रत का नाम उपभोग परिभोग परिमाण व्रत है।^७ किन्तु दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में

१. सागारधर्माभूत, ५।५
२. तत्त्वार्थसूत्र, ७।१६
३. वसुनन्दिश्रावकाचार, श्लोक २१७
४. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।३६-३९
५. सागारधर्माभूत, ५।१३-१९
६. उपासकाध्ययन, श्लोक ७५९-७६४
७. (क) उवासगदसाओ, १५१ (ख) तत्त्वार्थसूत्र, ७।१६

इस व्रत का नाम भोगोपभोग परिमाण व्रत मिलता है।^१ नामगत यह भिन्नता इस व्रत के स्वरूप की भिन्नता नहीं है।

उपभोग परिभोग परिमाण व्रत ग्रहण करने वाला श्रावक जिन वस्तुओं की मर्यादा निश्चित करता है, उन वस्तुओं का उल्लेख उपासक-दशांगसूत्र, श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र सागारधर्माभूत, रत्नकरण्डकश्रावकाचार आदि ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक हुआ है।^२ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में भोगोपभोगपरिमाणव्रत की विधि भी बतलाई गई है।^३

अतिचार

उपासकदशांगसूत्र में उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के दो भेद किये हैं, एक भोजन सम्बन्धी और कर्म संबंधी।^४ किन्तु ग्रन्थ में इस व्रत के जो अतिचार बताये गये हैं, वे पाँचों ही अतिचार भोजन संबंधी ही हैं, कर्म संबंधी नहीं। ग्रन्थ में कर्म संबंधी पाँच अतिचारों का उल्लेख नहीं करके १५ कर्मादानों (हिंसक व्यवसाय) का उल्लेख किया है।^५ दिग्म्बर परम्परा के ग्रन्थ सागार धर्माभूत में भी खरंकर्म के रूप में १५ अतिचारों का उल्लेख मिलता है।^६

उपासकदशांगसूत्र में सचित्त आहार, सचित्त प्रतिबद्ध आहार, अपक्व औषधि भक्षण, दुष्पक्व औषधि भक्षण और तुच्छ औषधि भक्षण—ये पाँच अतिचार इस व्रत के भोजन संबंधी अतिचार माने हैं।^७ तत्त्वार्थसूत्र में

१. (क) रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।४४
(ख) अमितगतिश्रावकाचार, ६।९३ (ग) योगशास्त्र, ३।५
(घ) कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३५०
२. (क) उवासगदसाओ, १।२२-४२ (ख) श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, अणुव्रत ७
(ग) सागार धर्माभूत ५।१३-१४
(घ) रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।३६-४१
३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।४२-४३
४. उवासगदसाओ, १।५१
५. वही, १।५१
६. सागार धर्माभूत, ५।२१-२३
७. "तत्थणं भोयणाओ समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा न समारियव्वा, तं जहा-सच्चित्ताहारे, सचित्तपडिबद्धाहारे, अण्णउल्लिओ सहिमक्खणया, दुण्णउल्लिओसहिमक्खणया, तुच्छो सहिमक्खणया।"

सचित्त आहार, सचित्त संबद्धाहार, सचित्त मिश्राहार, अभिषव आहार (मादक द्रव्य) और दुष्पक्व आहार (विषाक्त आहार) को इस व्रत के अतिचार कहा है ।^१ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में विषयविषयानुपेक्षा, अनु-स्मृति, अतिलौल्य, अतितृष्णा और अभ्यनुभव को इस व्रत के अतिचार बतलाया है^२ तथा सागार धर्माभूत में सचित्त आहार, सचित्त संबद्धाहार, सचित्त सम्मिश्राहार, दुष्पक्व आहार और अभिषव आहार को इस व्रत के अतिचार कहा है ।^३

विविध आचार्यों ने उपभोग परिभोग परिमाण व्रत के जो अतिचार बतलाये हैं, उनमें आंशिक भिन्नता है ।

३. अनर्थ दंडविरमण व्रत

जिस कार्य को करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता हो, अपितु केवल पाप का ही संचय होता हो, ऐसी क्रिया अनर्थ दंड है । इस क्रिया से बचने के लिए श्रावक बिना प्रयोजन पापमय क्रियाओं को नहीं करता है । इस प्रकार वह अनर्थ दंड विरमण व्रत का पालन करता है । रत्न-करण्डकश्रावकाचार में कहा है—दिग्व्रत में को गई मर्यादा के भीतर प्रयोजनरहित पापबन्ध के कारण मन, वचन और काय की प्रवृत्तियों से विरक्त होना अनर्थ दंड विरमण व्रत है ।^४

श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में अनर्थ दंड से संबंधित प्रयोजन-भूत पापकर्म के चार भेद मिलते हैं—(१) अपमानाचरित, (२) प्रमादा-चरित (३) हिंस्रप्रदान और (४) पापोपदेश ।^५ किन्तु दिगम्बर परम्परा में कुन्दकुन्द साहित्य के अतिरिक्त अधिकांश ग्रन्थों में पाप कर्म की पाँच प्रवृत्तियों को अनर्थकारी बतलाया है । उपासकदशांग में वर्णित चार पाप-कर्मों के अतिरिक्त एक अन्य पाप कर्म दुःश्रुति भी है ।^६

१. तत्त्वार्थसूत्र, ७।३०

२. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।४४

३. सागार धर्माभूत, ५।२०

४. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।२९

५. (क) उवासगदसाओ, १।४३, (ख) श्रावकप्रतिक्रमण सूत्र-अणुव्रत ८
(ग) श्रावकप्रज्ञप्ति, २८९ (घ) योगशास्त्र, ३।७४

६. (क) रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।३३ (ख) कार्तिकेयानुपेक्षा, ४७
(ग) सागार धर्माभूत, ५।१० (घ) अभिलगतिश्रावकाचार, ६।८१
(ङ) बुद्धार्थसिद्धशुभास, १४५ (च) सर्वार्थसिद्धि, ७।२१

इस प्रकार कहा जा सकता है कि जहाँ श्वेताम्बर परम्परा में चार प्रकार के अनर्थ दण्डों का उल्लेख है वहाँ दिग्म्बर परम्परा में पाँचों प्रकार के अनर्थ दण्डों का उल्लेख हुआ है।

अतिचार :

इस व्रत के भी पाँच अतिचार बतलाए गए हैं। उपासकदशांगसूत्र में कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, संयुक्ताधिकरण और उपभोगपरिभोगातिरेक को इस व्रत का अतिचार माना गया है।^१ तत्त्वार्थसूत्र में कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और उपभोगाधिकत्व को अतिचार कहा गया है।^२ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, अतिप्रसाधन और असमीक्ष्याधिकरण ये पाँच अतिचार बतलाये हैं।^३ सागार धर्माभूत में कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और सेव्यार्थाधिकता को इस व्रत के अतिचार माना है।^४

विविध आचार्यों ने अनर्थदण्ड विरमण व्रत के जो अतिचार बतलाए हैं उनमें प्रथम तीन अतिचार—कन्दर्प, कौत्कुच्य और मौखर्य के नामों में कोई भिन्नता नहीं है, किन्तु शेष दो अतिचारों के नामों में सर्वत्र आंशिक भिन्नता है। यह भिन्नता भी शब्दगत ही अधिक है। इन अतिचारों में भावगत कोई भिन्नता नहीं है।

चार शिक्षाव्रत एवं अतिचार :

शिक्षा की प्रधानता के कारण यह व्रत शिक्षाव्रत कहलाता है। आचार्यों ने शिक्षा का अर्थ अभ्यास करते हुए कहा है कि जिसके कारण अभ्यास में प्रवृत्ति हो, वह शिक्षाव्रत है।^५ अणुव्रतों एवं गुणव्रतों को एक-बार ग्रहण करने के पश्चात् बार-बार ग्रहण नहीं करने पड़ते हैं, वे आजीवन के लिये ग्रहण किये जाते हैं किन्तु शिक्षाव्रतों को बार-बार अभ्यास

१. "तयाणंतरं च णं अणदुठदंडवेरमणस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणि-
यव्वा, न समारियव्वा, तंजहा-कंदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, संजुत्ताहिगरणे,
उवभोगपरिभोगाइस्ते ।"

—उवासगदसाओ, १।५२

२. तत्त्वार्थसूत्र, ७।२७

३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ३।३५

४. सागार धर्माभूत, ५।१२

५. सागार धर्माभूत, ४।४, द्रष्टव्य, पृ० १८७

हेतु काल विशेष के लिये ग्रहण किया जाता है। सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास एवं अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत माने गए हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—

१. सामायिक व्रत :

वस्तुतः सामायिक से सावद्य योगों की निवृत्ति होती है।^१ वस्तुतः दो करण, तीन योग से समस्त सावद्ययोगों का काल विशेष तक त्याग करने का नियम लेना सामायिक है।^२

सागार धर्माभूत में कहा गया है कि एकान्त में श्रमण को तरह सभी प्रकार की हिंसा आदि का त्याग करके अपना आत्मा का हो ध्यान करना श्रावक का सामायिक व्रत है।^३ सामायिक व्रत धारण करने वाला श्रावक त्रस और स्थावर जीवों के प्रति समभाव रखता है—इस कारण उसके सावद्य अर्थात् पापमय प्रवृत्तियों का त्याग होता है।

सामायिक की अवधि एक मुहूर्त (४८ मिनट) मानो गई है। श्रावक के लिए ऐसा कोई नियम नहीं है कि उसे प्रतिदिन कितनी सामायिक करनी चाहिए? श्रावक अपने सामर्थ्य के अनुसार एक-दो या इससे भी अधिक सामायिक करते हैं। सामायिक करने के लिए कौनसा समय उपयुक्त है इस विषय में कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा है—सामायिक का काल प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल है।^४ दिगम्बर परम्परा में आज भी त्रिसंख्याओं में सामायिक करने का विधान है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में ऐसी कोई नियत परम्परा नहीं है।

सामायिक व्रत का अभ्यास करने वाला श्रावक समता भाव को धारण कर शान्त एवं निर्मल आत्मा में रमण करता है। लाटोसंहिता में शुद्ध आत्मा के स्वरूप का चिन्तन करने को सामायिक कहा है।^५ सागार

१. उत्तराध्ययनसूत्र, २८।३२

२. (क) श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, अणुव्रत ९

(ख) रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ४।७

(ग) श्रावकप्रज्ञप्ति, २९३

३. सागार धर्माभूत, ५।२८

४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३५४

५. लाटोसंहिता, ५।१५२

धर्माभूत ने वस्त्र बन्ध पर्यन्त सम्पूर्ण राग-द्वेष और हिंसा आदि पापों का परित्याग कर आत्मा का ध्यान करने को सामायिक कहा है ।^१

प्रचलन में यही देखा गया है कि जैन परम्परा के सभी सम्प्रदायों के श्रावक किसी विशेष आसन में स्थित होकर सामायिक व्रत की साधना करते हैं किन्तु कार्तिकेयानुप्रेक्षा में यह भी कहा है कि पर्यङ्कासन को बाँधकर या उस पर सीधे खड़े होकर निश्चित समय तक इन्द्रियों के व्यापार से रहित होकर मन को एकाग्रकर, काया को संकोचकर, हाथ की अंजलि बाँध लेना और आत्मस्वरूप में लीन होकर समस्त सावद्ययोगों का त्याग करना सामायिक है ।^२

श्रावक चाहे जिस सम्प्रदाय का हो, वह सामायिक की अवस्था में सावद्य क्रियाओं को त्याग देता है तथा मन, वचन और काया की शुद्धि पर ध्यान देता है । सम्प्रदाय की दृष्टि से देखें तो अन्तर यह है कि श्वेताम्बर परम्परा के स्थानकवासी और तेरापंथी सम्प्रदाय के श्रावक सामायिक की अवधि में मुखवस्त्रिका मुख पर धारण करते हैं किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के ही मूर्तिपूजक सम्प्रदाय एवं दिग्म्बर परम्परा के सभी सम्प्रदायों के श्रावक सामायिक करते समय भी मुखवस्त्रिका धारण नहीं करते हैं, क्योंकि इन सम्प्रदायों में तो श्रमणों के लिए भी मुखवस्त्रिका धारण करने का प्रचलन नहीं है ।

अतिचार :

सामायिक व्रत के पाँच अतिचार माने गए हैं । उपासकदशांगसूत्र में मनोदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, सामायिक-स्मृति-अकरणता और सामायिक-अनवस्थित-करणता-ये पाँच अतिचार माने गए हैं ।^३ तत्त्वार्थसूत्र में कायदुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान—ये पाँच अतिचार स्वीकार किए हैं ।^४ रत्न-

१. सागार धर्माभूत, ५।२८
२. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गथा ३५४-३५६
३. त्यागन्तरं च णं सामाहयस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियब्बा, न समारियब्बा, तं जहा—मणदुप्पणिहाणे, बयदुप्पणिहाणे, कायदुप्पणिहाणे, सामाहयस्स सइअकरणया, सामाहयस्स अणवट्ठियस्स करणया ।—उवासगदसाओ, १।५३
४. तत्त्वार्थसूत्र, ७।२८

करण्डकश्रावकाचार में वाग्दुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और अस्मरण को अतिचार माना है।^१ सागार धर्माभूत में स्मृत्यनुपस्थापन, कायदुष्प्रणिधान, वाग्दुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान और अनादर—ये पाँच अतिचार सामायिक व्रत के बतलाए हैं।^२

सामायिक व्रत के ये जो अतिचार विविध ग्रन्थों में कहे गए हैं, उनको देखने से ज्ञात होता है कि अतिचारों के नाम एवं स्वरूप को लेकर कहीं पर भी विशेष अन्तर नहीं है, जो भिन्नता है वह उनके क्रम को लेकर ही है, किसी ग्रंथ में जिस अतिचार को पहले गिना गया है, उसी अतिचार को दूसरे ग्रन्थों में बाद में गिन लिया गया है।

२. देशावकाशिक व्रत :

दिग्ब्रत में ग्रहण को हुई मर्यादाओं को और अधिक सीमित करना देशावकाशिक व्रत है। उपासकदशांगसूत्र,^३ रत्नकरण्डकश्रावकाचार^४ तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा^५ आदि अनेक ग्रंथों में व्रत को शिक्षाव्रत में गिना गया है, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र,^६ पुरुषार्थसिद्धयुपाय,^७ उपासकाध्ययन,^८ अमितगतिश्रावकाचार^९, वसुनन्दिश्रावकाचार^{१०} आदि ग्रन्थों में इस व्रत को गुणव्रतों में स्थान मिला है। देशावकाशिक व्रत को चाहे गुणव्रतों में स्थान मिला हो, चाहे शिक्षाव्रतों में, इसके स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों में मत-वैभिन्न्य नहीं है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में कहा गया है कि श्रावकद्वारा लोभ और काम को घटाने के लिए तथा हिंसा आदि समस्त पापों को छोड़ने के लिए वर्ष आदि की मर्यादा करके दिग्ब्रत में ग्रहण किए हुए दिशाओं के परिमाण

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ४।१५
२. सागार धर्माभूत, ५।३३
३. उपासकदशांग १।११
४. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ४।२
५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा ३६७-३६८
६. तत्त्वार्थसूत्र, ७।१६
७. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १३८-१४०
८. उपासकाध्ययन, श्लोक ४४९
९. अमितगतिश्रावकाचार, ६।७८
१०. वसुनन्दिश्रावकाचार, २।५

को भी एक दिवस आदि के लिए कम करना देशावकाशिक व्रत है।^१ लाटीसंहिता में देशावकाशिक व्रत का कथन करते हुए विषय-भोग सेवन, भोजन और मैथुन के त्याग पर तथा मौनव्रत धारण करने पर बल दिया है।^२ लाटीसंहिता में ही इस व्रत का पालन करने वाले को घर, गली, गाँव, छावनो, नदी, क्षेत्र, वन आदि की भी एक निश्चित समय के लिए मर्यादा करने को कहा है। यह समय वर्ष, माह, पक्ष और नक्षत्र किसी भी रूप में हो सकता है।^३

अतिचार :

प्रत्येक व्रत की तरह देशावकाशिक व्रत के भी पाँच अतिचार माने गए हैं। उपासकदशांगसूत्र में आनयन-प्रयोग, प्रेष्यवण-प्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और बहिःपुद्गलप्रक्षेप—ये पाँच अतिचार बतलाए हैं^४, तत्त्वार्थ-सूत्र में आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप को इस व्रत के अतिचार माने हैं।^५ रत्नकरकण्डकश्रावकाचार में प्रेषण, शब्द, आनयन, रूपाभिव्यक्ति और पुद्गलक्षेप को अतिचार बतलाए हैं।^६ सागारधर्माभूत में पुद्गलक्षेपण, शब्दश्रावण, स्वाङ्गदर्शन, प्रेषण और आनयन—ये पाँच अतिचार बतलाए हैं।^७

देशावकाशिक व्रत के इन अतिचारों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रायः सभी ग्रन्थों में अतिचारों के नाम एवं स्वरूप में कोई भिन्नता नहीं है। मात्र कहीं शाब्दिक भिन्नता है या क्रम में अन्तर है। उपासकदशांग-सूत्र में आनयन-प्रयोग को पहले स्थान पर गिना गया है तो रत्नकरकण्डक-श्रावकाचार में तीसरे स्थान पर और सागार धर्माभूत में इसी अतिचार

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३६७-३६८

२. लाटीसंहिता, ६।१२३

३. वही, ६।१२२

४. तयाणंतरं च णं देसावगासियस्स समणोवासएणं तंच आइयारा जाणियम्वा, न समारियम्वा, तं जहा-आणवणप्पओगे, पेसवणप्पओगे, सद्दाणुवाए, रूवाणुवाए, बहिया पोग्गलपक्खेवे।

—उवासगदसाओ, १।५४

५. तत्त्वार्थसूत्र, ७।२६

६. रत्नकरकण्डकश्रावकाचार, श्लोक ४।६

७. सागार धर्माभूत, ५।२७

को पाँचवें स्थान पर गिना गया है। इस प्रकार अतिचारों के क्रम में कुछ-अन्तर स्पष्ट परिलक्षित होता है।

३. पौषधोपवास व्रत :

“पौषध” का अर्थ सामान्यतः अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व से किया जाता है तथा “उपवास” का अर्थ चारों प्रकार के आहार (अशन, पान, स्वादिम और स्वादिम) के त्याग से है। इस प्रकार “पौषधोपवास” का अर्थ पर्व के दिन किसी प्रकार का आहार ग्रहण नहीं करना है।^१ इसमें सूर्योदय से अगले सूर्योदय तक आहार-त्याग के साथ-साथ पापमय कार्यों (सावद्य प्रवृत्ति) का भी त्याग किया जाता है। यह आत्म-गुणों के पोषण के लिए होता है।

ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में अर्हन्नक श्रमणोपासक के पौषधोपवास व्रत का उल्लेख मिलता है।^२ उपवास का वास्तविक अर्थ तो विषयानुराग घटाना ही है इसलिये श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र^३, रत्नकरण्डकश्रावकाचार^४, कार्तिकेयानुप्रेक्षा^५, पुरुषार्थसिद्धयुपाय^६, योगशास्त्र^७ आदि ग्रन्थों में पौषधोपवासधारी को हिंसा आदि पाँच पापों, स्नान, विलेपन तथा सुगन्ध आदि का त्याग करने तथा उस अवधि में किसी प्रकार का आहार ग्रहण नहीं करने को कहा है।

अतिचार :

प्रायः सभी ग्रन्थों में पौषधोपवास व्रत के पाँच अतिचार माने गये हैं। उपासकदशांगसूत्र में अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखित शय्यासंस्तरक, अप्रमाजित-दुष्प्रमाजित-शय्या संस्तरक, अप्रतिलेखित-दुष्प्रतिलेखित उच्चार-प्रस्रवणभूमि अप्रमाजितदुष्प्रमाजित-उच्चारप्रस्रवणभूमि और पौषधोपवास

१. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ४।१६
२. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, ८।६६
३. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, अणुव्रत, ११
४. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ४।१७
५. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा २५७
६. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, १५७
७. योगशास्त्र, ३।८५

का अननुपालन—ये पाँच अतिचार बतलाए हैं।^१ तत्त्वार्थसूत्र में अप्रत्यक्ष-वेक्षित और अप्रमार्जित में उत्सर्ग, अप्रत्यक्षवेक्षित और अप्रमार्जित में आदान-निक्षेप, अप्रत्यक्षवेक्षित और अप्रमार्जित संस्तारक का उपक्रम, अनादर और स्मृति का अनुपस्थापन—ये पाँच अतिचार माने हैं।^२ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में ग्रहण, विसर्ग, अस्तरण, अनादर और अस्मरण—ये पाँच अतिचार स्वीकार किये हैं।^३ सागार धर्माभूत में अनवेक्षाप्रमार्जनग्रहण, अनवेक्षाप्रमार्जन स्तरण, अनवेक्षाप्रमार्जन उत्सर्ग, अनादर और अनेकाग्र—ये पाँच अतिचार बतलाये हैं।^४

भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में पौषघोपवास व्रत के जो अतिचार बतलाए गये हैं उनके नामों में भिन्नता होते हुए भी उनके स्वरूप में विशेष अन्तर नहीं है।

४. अतिथिसंविभाग व्रत :

“अतिथि” शब्द का सामान्य अर्थ जिसके आने की कोई तिथि अथवा समय निश्चित नहीं हो, से किया जाता है तथा “संविभाग” शब्द का अर्थ समुचित विभाग करना है। इस अर्थ में अतिथिसंविभाग का तात्पर्य बिना तिथि सूचित किये आये हुए व्रती, श्रमण, श्रमणी को अपनी सामग्री में से दान देना है। यही श्रावक का अतिथिसंविभाग व्रत है। इस व्रत का पालन करते हुए श्रावक भक्तिभावपूर्वक आहार, औषध, वस्त्र, पात्र, शास्त्र आदि श्रमण-श्रमणियों को प्रदान करता है। इस व्रत में श्रावक का अनुकम्पाभाव एवं आदर-सत्कार का भाव परिलक्षित होता है।

उपासकदशांगसूत्र में इस व्रत को यथा-संविभागव्रत कहा है।^५ उपासकदशांगसूत्र टीका में चारित्र सम्पन्न योग्य पात्रों के लिये यथाशक्ति

१ “तथागंतरं च णं पोसहोववासस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियव्वा, न समारियव्वा, तं जहा—अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहियसिज्जासंधारे, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जियसिज्जा संधारे, अप्पडिलेहिय—दुप्पडिलेहियउच्चारपासवणभूमि, अप्पमज्जियदुप्पमज्जियउच्चारपासवण भूमि, पोसहोववासस्ससम्मं अणणुपालणया ।”

२. तत्त्वार्थसूत्र, ७।२९

३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ४।२०

४. सागार धर्माभूत, ५।४०

५. उवासगदसाओ, १।५६

अन्न, वस्त्र आदि का संविभाग करना श्रावक का अतिथि संविभाग व्रत कहा है।^१ श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र में निर्ग्रन्थ श्रमणों को अचित्त आहार औषधि आदि के दान को अतिथिसंविभागव्रत माना है।^२ रत्नकरण्डक-श्रावकाचार में अतिथिसंविभागव्रत को वैयावृत्यव्रत नाम देकर कहा है कि गृह त्यागी मुनिजनों के लिये, स्वपर को धर्मवृद्धि के लिये, प्रतिदान एवं प्रत्युपकार की अपेक्षा से रहित होकर यथाशक्ति विधिपूर्वक दान देना चाहिए।^३ लाटीसंहिता में कहा है कि उत्तम, मध्यम या जघन्य कोई भी पात्र मिल जाए, उसे विधिपूर्वक दान देना चाहिये। यह दान प्रासुक तथा शुद्ध होना चाहिये एवं विनयपूर्वक दिया जाना चाहिये।^४

अतिचार :

अतिथि संविभाग व्रत के भी पाँच अतिचार माने गये हैं। उपासक-दशांगसूत्र में सचित्तनिक्षेपण, सचित्तपिधान, कालातिक्रम, परव्यपदेश और मत्सरिता—ये पाँच अतिचार बतलाये हैं।^५ तत्त्वार्थसूत्र में सचित्त-निक्षेप, सचित्तपिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम—ये पाँच अतिचार माने गये हैं।^६ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में हरितपिधान, निधान, अना-दर, अस्मरण और मत्सर—ये पाँच अतिचार कहे हैं।^७ सागार धर्मांमृत में सचित्त निक्षेप, सचित्तावृत्ति, कालातिक्रम, परव्यपदेश और मत्सर—ये पाँच अतिचार बतलाए हैं।^८

अतिथि संविभाग व्रत के इन अतिचारों के नाम एवं क्रम में अन्तर अवश्य है, किन्तु प्रायः सभी आचार्यों ने अचित्त वस्तु को सचित्त पर रखना, सचित्त को अचित्त पर रखना, दान देने का समय टालना, बिना

१. उपासकदशांगसूत्रटीका—मुनिघासीलालजी, पृ० २६१

२. श्रावकप्रतिक्रमणसूत्र, अणुव्रत १२

३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ४।२१

४. लाटीसंहिता, २२२

५. “तयाणंतरं च णं अहासंविभागस्स समणोवासएणं पंच अइयारा जाणियग्वा, न समारियग्वा, तं जहा-सचित्त-निक्खेवणया, सचित्तपेहणया, कालाइक्कमे, परववएसे, मच्छरिया।” उवासगदसाओ, १।५६

६. तत्त्वार्थसूत्र, ७।३१

७. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ४।३१

८. सागार धर्मांमृत, ५।५४

आदर के दान देना या दान नहीं देना हो तो अपनी वस्तु को भी दूसरों की वस्तु बता देने को इस व्रत के दोष माने हैं। श्रावक को इन दोषों का निराकरण कर सावधानीपूर्वक अतिथिसंविभाग व्रत का पालन करना चाहिए।

सल्लेखना :

जैन परम्परा में श्रमणों के समान ही श्रावक के लिए भी संलेखना (समाधिमरण) का उल्लेख मिलता है। जैन परम्परा में साधक चाहे श्रमण हो अथवा श्रावक, उसे सल्लेखना ग्रहण करने की प्रेरणा दी गई है। श्रावकाचार की भूमिका में रहता हुआ श्रावक जीवनपर्यन्त व्रतों की आराधना करता है। जब मृत्यु जीवन के द्वार पर उपस्थित होकर दस्तक देती प्रतीत होती है तो विवेकशील श्रावक देह पोषण के प्रयत्नों का परित्यागकर शरीर के प्रति भी निर्ममत्व भाव की साधना करता है। इस प्रकार वह उपस्थित मृत्यु के स्वागत हेतु तत्पर रहता है। सल्लेखना न तो जीवन से पलायन है और न ही आत्महत्या है अपितु वह तो शान्त भाव से मृत्यु का आलिङ्गन करने की एक कला है।

उपासकदशांगसूत्र में गृहस्थ के लिए मरणान्तिक सल्लेखना का निर्देश है।^१ तत्त्वार्थसूत्र में “मारणान्तिकीं संलेखना जोषिता” कहकर जीवन के अन्तिम समय में संलेखना ग्रहण करने को कहा है।^२ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में उपसर्ग, अकाल, बुढ़ापा अथवा असाध्य रोग आदि होने पर धर्मपालन हेतु कषायों को कृश करते हुए शरीर त्याग करने को सल्लेखना कहा है।^३ इस ग्रंथ में सल्लेखना के महत्त्व को बताते हुए इतना तक कहा गया है कि जिसका मरण सल्लेखनापूर्वक नहीं हुआ है उसके जीवनभर के समस्त जप, तप भी व्यर्थ हैं।^४ इसमें सल्लेखना की विधि का उल्लेख इस प्रकार है—सल्लेखना ग्रहण करने वाला व्यक्ति इष्ट वस्तु से राग, अनिष्ट वस्तु से द्वेष, परिजनों से ममत्व तथा समस्त बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह को छोड़कर शुद्ध मन से अपने परिजनों से अपने दोषों को क्षमा

१. उपासकदशांगो, १।५७

२. तत्त्वार्थसूत्र, ७।१७

३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ५।१

४. वही, श्लोक १२३

करावे तथा स्वयं भी उनके अपराधों को क्षमा करे ।^१ इसी ग्रन्थ में सल्लेखनाधारी के भोजन त्याग का क्रम भी समझाया गया है ।^२

आचार्यों ने सल्लेखना का जितना वर्णन श्रमण के लिए किया है उतना ही श्रावक के लिए भी किया है । उपासकदशांगसूत्र,^३ तत्त्वार्थसूत्र^४, रत्नकरण्डकश्रावकाचार^५, श्रावकप्रज्ञप्ति,^६ अमितगतिश्रावकाचार^७, वसुनन्दिश्रावकाचार^८, सागारधर्मावृत,^९ पुरुषार्थसिद्धयुपाय^{१०} और सर्वार्थसिद्धि^{११} आदि अनेक ग्रन्थों में श्रावक की सल्लेखना का विस्तार से वर्णन मिलता है ।

अधिकांश ग्रन्थों में सल्लेखना को श्रावक के बारह व्रतों में स्थान नहीं देकर, इसका स्वतन्त्र रूप से कथन किया गया है किन्तु वसुनन्दिश्रावकाचार में सल्लेखना को चौथा शिक्षाव्रत माना गया है ।^{१२} वसुनन्दिश्रावकाचार में सल्लेखना के समय भी पान (पानी) आहार ग्रहण करने की स्वीकृति दी गई है ।^{१३} श्वेताम्बर परम्परा में पञ्चमचरियं में विमलसूरि ने भी सल्लेखना का अन्तर्भाव श्रावक के बारह व्रतों में ही किया है । जो आचार्य सल्लेखना का अन्तर्भाव श्रावक के बारह व्रतों में करते हैं वे दिग्ब्रत और देशावकाशिकव्रत को एक मानकर व्रतों की संख्या बारह ही रखते हैं ।

अतिचार :

जिस प्रकार प्रत्येक व्रत के पाँच अतिचार कहे गये हैं उसी प्रकार

१. वही, श्लोक १२४
२. वही, श्लोक १२७
३. उवासगदसाओ, १।५७
४. तत्त्वार्थसूत्र, ७।१७
५. रत्नकरण्डक श्रावकाचार, ५।१-९
६. श्रावकप्रज्ञप्ति, श्लोक ३७८
७. अमितगतिश्रावकाचार, ६।९८
८. वसुनन्दिश्रावकाचार, श्लोक २७१-२७३
९. सागारधर्मावृत, ८।४-४१
१०. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक १७५-१७९
११. सर्वार्थसिद्धि, ७।२२
१२. वसुनन्दिश्रावकाचार, श्लोक २७१-२७२
१३. वही, श्लोक २७१-२७२

सल्लेखना के भी पाँच अतिचार कहे गये हैं। उपासकदशांगसूत्र में इह्लोकाशंसाप्रयोग, परल्लोकाशंसाप्रयोग, जीविताशंसाप्रयोग, मरणाशंसाप्रयोग तथा कामभोगाशंसाप्रयोग—ये पाँच अतिचार बतलाए हैं।^१ तत्त्वार्थसूत्र में जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबंध और निदानकरण—ये पाँच अतिचार वर्णित हैं।^२ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में जीविताशंसा, भय, मित्रस्मृति और निदान—ये पाँच अतिचार कहे गये हैं।^३ सागारधर्माभूत में जीविताशंसा, मरणाशंसा, सुहृदानुराग, सुखानुबंध और निदान ये पाँच अतिचार उल्लिखित हैं।^४

पं० आशाधर ने सागारधर्माभूत में लिखा है कि आर्यिका समाधि-मरण के समय में एकान्त स्थान में पुरुषों की तरह नग्न हो सकते हैं।^५

प्रतिमाएँ :

सर्वप्रथम श्रावक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत ग्रहण करता है, तत्पश्चात् वह ग्यारह प्रतिमाओं को धारण करता है। प्रतिमा वस्तुतः श्रावक द्वारा ग्रहण किये गये नियमों को जीवन पर्यन्त स्थिर रखने को एक प्रक्रिया है। अभिग्रह, तप या व्रत विशेष का नाम भी प्रतिमा है। प्रतिमा आध्यात्मिक विकास का एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा श्रावक अपने जीवन को उन्नत एवं पवित्र बनाता है।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य ग्रन्थ—समवायांगसूत्र^६, उपासकदशांगसूत्र^७ तथा दशाश्रुतस्कन्ध^८ में श्रावक को ग्यारह प्रतिमाओं का

१. “तयाणंतरं च णं अपच्छिममारणांतिय-संलेहणा-क्षूसणाराहणाए पंच अइयारा जाणियग्वा न समारियग्वा, तं जहा इह्लोगा-संसप्पओगे, परल्लोगा-संसप्पओगे, जीवियासंसप्पओगे मरणासंसप्पओगे, कामभोगासंसप्पओगे।”

—उवासगदसाओ, १।५७

२. तत्त्वार्थसूत्र, ७।३२

३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ५।८

४. सागारधर्माभूत, ८।४५

५. “यदोत्सर्गिकमन्यद्वालिङ्गमुक्तं जिनैः स्त्रियाः ।
पुं वत्तदिष्यते मृत्युकाले स्वल्पीकृतोपधेः ॥”

—सागारधर्माभूत, ८।३५

६. समवायांगसूत्र, १।१७१

७. उवासगदसाओ, १।७०-७१

८. दशाश्रुतस्कन्ध, छठी दशा

उल्लेख हुआ मिलता है। दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य चारित्रसार^१, उपासकाध्ययन^२, रत्नकरण्डकश्रावकाचार^३, ज्ञानार्णव^४, लाटीसंहिता^५, कार्तिकेयानुप्रेक्षा^६, सागारधर्माभूत^७, वसुनन्दिश्रावकाचार^८ तथा अमितगतिश्रावकाचार^९ आदि ग्रन्थों में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं का उल्लेख उपलब्ध है।

श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं द्वारा मान्य साहित्य का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि इन दोनों परम्पराओं में ग्यारह प्रतिमाओं के जो नाम गिनाए गये हैं, उनमें आंशिक अन्तर है। यहाँ हम दोनों परम्पराओं के अनुसार उल्लिखित प्रतिमाओं का नामोल्लेख कर रहे हैं।

श्वेताम्बर साहित्यानुसार ग्यारह प्रतिमाएँ—श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य साहित्य के अनुसार ग्यारह प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं—

(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रौषध, (५) नियम, (६) ब्रह्मचर्य, (७) सच्चित्त्याग, (८) आरम्भ त्याग, (९) प्रेष्य त्याग, (१०) उद्दीष्ट त्याग और (११) श्रमण भूत।

दिगम्बर साहित्यानुसार ग्यारह प्रतिमाएँ—दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य साहित्य के अनुसार ग्यारह प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं—

(१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रौषध, (५) सच्चित्त त्याग, (६) रात्रिभोजन त्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भ त्याग, (९) परिग्रह त्याग, (१०) अनुमति त्याग और (११) उद्दीष्ट त्याग।

दोनों परम्पराओं द्वारा कथित प्रतिमाओं के विवेचन से ज्ञात होता है कि प्रथम चार प्रतिमाओं के नाम दोनों परम्पराओं में समान हैं।

-
१. चारित्रसार, २४-२५
 २. उपासकाध्ययन, ८५३-८५४
 ३. रत्नकरण्डकश्रावकाचार, ५११५-२६
 ४. ज्ञानार्णव, २७१३-१४
 ५. लाटीसंहिता, ७३३
 ६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, ३३९-३४०
 ७. सागारधर्माभूत, ७११-३७
 ८. वसुनन्दिश्रावकाचार, श्लोक २७४-३१३
 ९. अमितगतिश्रावकाचार, ७१६७-७७

श्वेताम्बर परम्परा में रात्रिभोजन त्याग को स्वतन्त्र प्रतिमा नहीं मानकर उसका समावेश पाँचवीं प्रतिमा “नियम” में कर दिया है। ब्रह्मचर्य प्रतिमा का क्रम श्वेताम्बर परम्परा में छठा है तो दिगम्बर परम्परा में सातवाँ। सचित्त त्याग को दिगम्बर परम्परा ने पाँचवें स्थान पर रखा है, तो श्वेताम्बर परम्परा ने सचित्त त्याग को सातवाँ स्थान दिया है। आरम्भ त्याग को दोनों ही परम्पराओं ने आठवाँ स्थान दिया है। नवें क्रम पर श्वेताम्बर परम्परा में प्रेष्य त्याग है, जबकि दिगम्बर परम्परा में परिग्रह त्याग है। दोनों में मात्र शाब्दिक या क्रमगत अन्तर है। श्वेताम्बर परम्परा में दसवें क्रम पर उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का कथन है जबकि दिगम्बर परम्परा में इसका क्रम ग्यारहवाँ है। श्वेताम्बर परम्परा में अन्तिम प्रतिमा श्रमणभूत प्रतिमा मानी गई है जिसका तात्पर्य श्रावक का श्रमण तुल्य हो जाना है। इस प्रतिमा की चर्चा करते हुए श्री देवेन्द्र-मुनि शास्त्री लिखते हैं कि दिगम्बर परम्परा में जो उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा कही गई है, वह श्वेताम्बर परम्परा की श्रमणभूत प्रतिमा ही है, क्योंकि इस प्रतिमा में श्रावक भी श्रमण के सदृश हो जाता है।^१ दोनों ही परम्पराओं में उद्दिष्ट त्याग का अर्थ भिक्षावृत्ति से भोजन करना है। इस अवस्था में गृहस्थ का आचार भी श्रमण की तरह ही होता है।^२ रत्नकरण्डकश्रावकाचार में उद्दिष्ट त्याग प्रतिमाधारी को खण्डवस्त्र धारण करने वाला कहा है।^३

श्रावकाचार का पालन करने वाला दया, दान और शोलरूप श्रावक धर्म का पालन करता है। श्वेताम्बर परम्परा में श्रावक के ३५ मार्गानुसारी गुणों और २१ गुणों का उल्लेख आचार्य हरिधर ने पंचाशक में तथा आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में किया है। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर आगमों में २१ गुणों अथवा ३५ मार्गानुसारी गुणों की कोई चर्चा नहीं है, उनमें तो श्रावक धर्म का विवेचन मात्र १२ व्रतों एवं ११ प्रतिमाओं के माध्यम से ही हुआ है। जहाँ तक दिगम्बर परम्परा का प्रश्न है, उसमें भी अष्ट मूलगुणों की चर्चा कुन्दकुन्द के बाद ही विकसित लगती है। श्रावक के ये अष्टमूलगुण क्या हैं? इस प्रश्न को लेकर दिगम्बर आचार्यों में परस्पर मतभेद है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में

१. सप्तबायांगसूत्र, मधुकर मुनि, प्रस्तावना, पृ० २२

२. (क) सप्तबायांगसूत्र, मधुकर मुनि, विवेचनसूत्र, ११।७१

(ख) रत्नकरण्डकश्रावकाचार, श्लोक ५।२६

३. वही, श्लोक ५।२६

मद्य, मांस और मधु के त्याग के साथ-साथ पाँच अणुव्रतों का पालन अष्टमूलगुण माने गये हैं। चारित्र्यसार में पाँच अणुव्रतों तथा मद्य और मांस को तो उसमें सम्मिलित किया है किन्तु शहद के स्थान पर वहाँ जुआ का उल्लेख हुआ है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय में मद्य, मांस और शहद के साथ पाँच प्रकार के उदम्बर फलों के त्याग को ही अष्टमूलगुण माना गया है। सागारधर्मामृत में किन्हीं आचार्यों का मत देते हुए मद्य, मांस, मधु, रात्रिभोजन, उदम्बरफल आदि के त्याग, देववन्दन, जीवदया और जलगालन—ये आठ मूलगुण कहे गये हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रावक के मार्गानुसारी गुणों और मूलगुणों को लेकर दोनों ही सम्प्रदायों के आचार्यों में परस्पर मतभेद है। यद्यपि सभी जैनाचार्य इस सन्दर्भ में एकमत हैं कि श्रावक जीवन को प्राथमिक अपरिहार्यता सप्त कुव्यसनों का त्याग है। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा में सप्त कुव्यसनों में क्रम को छोड़कर सामान्यतया एकरूपता ही है।

पूजा विधि :

जैन परम्परा में कुछ सम्प्रदाय मूर्तिपूजक हैं और कुछ अपूर्तिपूजक हैं। सभी मूर्तिपूजक सम्प्रदायों की पूजा विधि भी समान नहीं है। श्वेताम्बर परम्परा में स्थानकवासि तथा तेरापंथी सम्प्रदाय अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय हैं। दिगम्बर परम्परा में तारणपंथ सम्प्रदाय अमूर्तिपूजक होते हुए भी इसमें शास्त्रपूजा होती है तथा इसके श्रावक चैत्यालय भी बनवाते हैं।

श्वेताम्बर और दिगम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदायों में भी श्रमण जिन प्रतिमाओं की केवल भावपूजा ही करते हैं, द्रव्यपूजा नहीं करते हैं। द्रव्यपूजा श्रावक ही करते हैं। श्वेताम्बर परम्परा के मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के श्रावक सचित्त द्रव्य (फल, फूल इत्यादि) से पूजा करते हैं, लेकिन दिगम्बर परम्परा में सिर्फ बीसपंथी सम्प्रदाय के श्रावक ही सचित्त द्रव्य से पूजा करते हैं। दिगम्बर तेरापंथी सम्प्रदाय के श्रावक अचित्त द्रव्य (सूखे चावल एवं सूखे मेवे आदि) से ही प्रतिमा पूजन करते हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के श्रावक जिन प्रतिमा को वस्त्र, आभूषण आदि से अलंकृत करते हैं, किन्तु दिगम्बर परम्परा में वस्त्र, आभूषण से युक्त प्रतिमा को पूजनोय नहीं माना गया है। दिगम्बर परम्परा में प्रतिष्ठा के पूर्व पंचकल्याणक के समय दीक्षा कल्याणक के पहले तक ही प्रतिमा को वस्त्र, आभूषण आदि पहनाये जाते हैं, बाद में नहीं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में जिनप्रतिमा के चक्षु खुले हुए प्रदर्शित करने की परम्परा है, जबकि दिगम्बर परम्परा में प्रतिमा के चक्षु अर्द्धनिर्मिलित ही दर्शाये जाते हैं। फिर भी दिगम्बर परम्परा की कुछ मूर्तियाँ, जो ग्वालियर किले पर उत्कीर्ण हैं, उनके चक्षु खुले हैं। परवर्ती श्वेताम्बर प्रतिमाओं में लंगोट का अंकन भी पाया जाता है।

जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदायों को श्रावकाचार सम्बन्धी मान्यताओं के इस विवेचन से ज्ञात होता है कि जैनधर्म में श्रावकाचार को लेकर जितनी भिन्नता है, उतनी श्रावकाचार के सम्बन्ध में नहीं है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में श्रावक के बारह व्रतों, ग्यारह प्रतिमाओं तथा संलेखना आदि का प्रतिपादन समान रूप से हुआ है। मात्र व्रतों के क्रम एवं उनके अतिचारों के नाम तथा क्रम में आंशिक भिन्नता है, जिसको चर्चा हमने यथास्थान की है।

सप्तम अध्याय

उपसंहार

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में हमने मुख्य रूप से जैन धर्म के उद्भव एवं विकास का परम्परागत एवं ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है। परम्परानुसार तो जैनों की यह मान्यता है कि इस अवसर्पिणी काल में उनके धर्म का प्रारम्भ ऋषभदेव से हुआ है। जैनों की चौबीस तीर्थंकर की मान्यता भी यह स्वीकार करती है कि कालचक्र की प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी में २४-२४ तीर्थंकर जैन धर्म का प्रवर्तन करते रहते हैं। उनकी यह भी मान्यता है कि जम्बूद्वीप में कुछ क्षेत्र ऐसे हैं, जहाँ तीर्थंकर सदैव बने रहते हैं। इस दृष्टि से जैन मतावलम्बी अपने धर्म को अनादि भी घोषित करते हैं। जहाँ तक इतिहासविदों का प्रश्न है, वे चौबीस तीर्थंकरों की अवधारणा को एक क्रमिक विकास मानते हैं। उनके अनुसार चौबीस तीर्थंकरों में से महावीर निर्विवाद रूप से ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता को भी वे किसी सीमा तक स्वीकार करने में सहमत हैं, किन्तु अरिष्टनेमि और ऋषभदेव सहित शेष सभी तीर्थंकरों को वे प्रागैतिहासिक व्यक्ति ही मानते हैं। ऋग्वेद आदि में इन तीर्थंकरों के नामोल्लेख होने से यह तो माना जा सकता है कि वे हुए होंगे, किन्तु उनका आचार और दर्शन क्या था? यह सब ऐतिहासिक दृष्टि से अनिश्चित-सा ही है।

यद्यपि जैन धर्म में दिगम्बर सम्प्रदाय की सामान्य अवधारणा तो यह है कि सभी तीर्थंकर समान धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं तथा उनकी आचार एवं दार्शनिक मान्यताओं में भी एकरूपता होती है, किन्तु यापनीय एवं श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन आगमों एवं आगमिक व्याख्याओं—विशेष रूप से नियुक्तियों में यह माना गया है कि तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित आचार-नियमों में देश और काल के अनुसार कथंचित् अन्तर होता है। इस अन्तर का उल्लेख सर्वप्रथम उत्तराध्ययनसूत्र में मिलता है। महावीर और पार्श्वनाथ की आचार व्यवस्था का यह भेद न केवल श्वेताम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में, अपितु दिगम्बर परम्परा के द्वारा मान्य यापनीय ग्रन्थ—भगवती आराधना और मूलाचार में भी उल्लिखित है।

इस सम्बन्ध में सामान्य अवधारणा यह है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों से मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के आचार-नियमों और व्यवस्थाओं में कुछ भेद रहता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से हम केवल इतना ही प्रतिपादन कर सकते हैं कि जैन धर्म का स्वरूप और उसके आचार-विचार भी युग-युग में परिवर्तित हुए हैं। यद्यपि यह सत्य है कि धर्म के सामान्य तत्त्व सभी में समान रूप से निहित रहे हैं, फिर भी दर्शन और आचार संबंधी विशेषताओं के कारण उनमें अन्तर तो है। प्रथम अध्याय में हमने इसी दृष्टि से तीर्थंकरों के मान्यता भेद के सम्बन्ध में थोड़ी गहराई से चिन्तन किया है। हम यह मानते हैं कि देश और कालगत परिस्थितियों के कारण तीर्थंकरों द्वारा प्रतिपादित आचार-व्यवहार के नियमों में भी भिन्नता रही है। महावीर और पार्श्वनाथ की मान्यता में जो बिन्दु मुख्य रूप से त्रिवादास्पद थे, उनकी समीक्षा करने पर भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। जैन धर्म में जो सचेल और अचेल परम्पराएँ विकसित हुई हैं उनके मूल में भी कहीं न कहीं महावीर और पार्श्वनाथ की आचार सम्बन्धी मान्यताएँ हैं।

इस अध्याय में हमने महावीर निर्वाण के पश्चात् जैन धर्म की स्थिति को चर्चा करते हुए कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावली से यह भी स्पष्ट किया है कि महावीर निर्वाण के बाद भी गौतम और सुधर्मा जैसे प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण जैनधर्म में संघभेद की स्थिति नहीं बनी थी। जम्बूस्वामी के पश्चात् श्वेताम्बर और दिगम्बर पट्टावलिओं में जो मतभेद दिखाई देता है, उससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि जम्बूस्वामी के बाद जैन धर्म में मतभेद विस्तार पाने लगा था। भद्रबाहु ने मतभेदों को दूर करने का प्रयास तो किया, किन्तु वे सफल नहीं हो सके। कल्पसूत्र स्थविरावली में हमें विविध गणों के विकसित होने की सूचना तो मिलती है, किन्तु उसमें जैन धर्म के श्वेताम्बर, दिगम्बर आदि विविध सम्प्रदायों में विभक्त होने की कोई सूचना नहीं मिलती है।

नन्दीसूत्र और कल्पसूत्र की स्थविरावली में भगवान महावीर से लेकर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण (वी० नि० सं० ९८०) तक के युगप्रधान आचार्यों की परम्परा उल्लिखित है। कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावली में केवल गणभेद को ही चर्चा है, सम्प्रदाय भेद को उनमें कहीं कोई चर्चा नहीं हुई है।

जैन आगम-सहित्य, जैन मन्दिर एवं मूर्तियाँ, जैन गुफाएँ, जैन अभि-

लेख तथा जैन चित्रकला जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों के उद्भव एवं विकास को समझने के महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत हैं, इनके आधार पर जैन सम्प्रदायों का प्रामाणिक इतिहास किस प्रकार लिखा जा सकता है, इसकी चर्चा हमने इस ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में की है।

तृतीय अध्याय में जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों और उपसम्प्रदायों का विकास कैसे हुआ ? इसकी विस्तृत चर्चा की गयी है। इससे स्पष्ट रूप से यह फलित होता कि जैन धर्म में दार्शनिक मतभेदों का बीजारोपण महावीर के जीवनकाल में ही हो चुका था। गोशालक, जमालि और तिष्यगुप्त इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। आजीवक परम्परा भले ही महावीर से प्राचीन रही हो, किन्तु महावीर के समय में ही गोशालक जैसे व्यक्तित्व को पाकर वह परम्परा सुदृढ़ और प्रभावशाली बनी, इस तथ्य को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। गोशालक का आजीवक सम्प्रदाय एक प्रतिस्पर्धी के रूप में महावीर के समक्ष दृढ़ता से खड़ा हुआ था। इस तथ्य की पुष्टि न केवल जैन साहित्य से अपितु बौद्ध साहित्य से भी होती है। जमालि और तिष्यगुप्त द्वारा उठाये गये दार्शनिक प्रश्न भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं थे। यह एक भिन्न बात है कि महावीर के प्रभावशाली व्यक्तित्व के सामने जमालि की परम्परा विकसित और पल्लवित नहीं हो सकी। इसी अध्याय में की गई निह्नवों की चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि महावीर के परिनिर्वाण के बाद भी कुछ दार्शनिक प्रश्नों को लेकर जैन संघ में विवाद चलता रहा था। किन्तु किसी भी निह्नव का कोई स्वतन्त्र सम्प्रदाय चला हो, ऐसा जानकारी हमें उपलब्ध नहीं हुई है। ज्ञात विवरण के अनुसार अधिकांश निह्नव अपने मतभेदों को रखते हुए भी जैन संघ में ही सम्मिलित रहे। सामान्यतया निह्नवों ने जो प्रश्न उठाये थे वे सभी दार्शनिक ही थे, इसलिए आचारनिष्ठ जैन संघ उनसे इतना विचलित नहीं हुआ। वे उसे विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित नहीं कर सके।

श्वेताम्बर परम्परा के मान्य आगम साहित्य और दिगम्बर परम्परा के मान्य ग्रन्थों में उल्लिखित कथानकों से यह ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम सचेलता और अचेलता के प्रश्न को लेकर वीर निर्वाण संवत् ६०६ अथवा ६०९ में जो विवाद हुए थे, वे विवाद ही आगे चलकर श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदायों के उद्भव के कारण बनें।

श्वेतपट्टमहाश्रमण संघ, यापनीय संघ, मूलसंघ, कूर्चकसंघ, निर्ग्रन्थ महासंघ आदि के सर्वप्रथम उल्लेख हमें पाँचवीं शताब्दी से मिलने लगते हैं। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय आदिके रूप में जैन संघ में स्पष्ट विभाजक रेखा पाँचवीं शताब्दी के लगभग ही कभी खिंची गई थी। इसके पश्चात् ये सभी संघ पुनः विविध गण एवं अन्वयों आदि में विभाजित होते गए। श्वेताम्बर परम्परा में यद्यपि विद्याधरकुल, नागेन्द्रकुल आदि के उल्लेख आठवीं-नवों शताब्दी तक यथावत मिलते रहे हैं किन्तु यह बात भी सत्य है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में पाँचवीं-छठीं शताब्दी के बाद से चैत्यवासी परम्परा पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गई थी।

श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में शिथिलाचार के विरोध में समय-समय पर जो स्वर उभरे उन्हीं का परिणाम है कि एक ओर श्वेताम्बर परम्परा में दसवीं शताब्दी के बाद खरतर, तपा, अंचल आदि अनेक गच्छों और उनकी विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं का विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर दिगम्बर परम्परा में मूलसंघ के साथ-साथ द्राविड, काष्ठा, माथुर और यापनीय संघ का भी विकास हुआ।

बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी से श्वेताम्बर परम्परा में विविध गच्छ और उनकी शाखाओं में उत्तरोत्तर वृद्धि हुई, वहीं दिगम्बर परम्परा में भी धीरे-धीरे अनेक गण, अन्वय, कुल और शाखाएँ मूलसंघ के साथ जुड़ती गईं। इस प्रकार दसवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य जहाँ दिगम्बर सम्प्रदाय में एक ध्रुवीकरण हुआ वहीं श्वेताम्बर परम्परा में विभाजन होता गया। दिगम्बर परम्परा में जो ध्रुवीकरण हुआ उसका परिणाम यह निकला कि यापनीय, कूर्चक, आदि अनेक संघ नामशेष हो गए।

१६वीं-१७वीं शताब्दी जैन धर्म में परिवर्तन की दृष्टि से एक क्रान्तिकारी शताब्दी रही है। इस शताब्दी में जहाँ एक ओर मुस्लिम धर्म के प्रभाव से श्वेताम्बर परम्परा में मूर्तिपूजा विरोधी लोकागच्छ और स्थानकवासी परम्परा का विकास हुआ वहीं दिगम्बर परम्परा में अमूर्तिपूजक सम्प्रदाय के रूप में तारणपंथ का उदय हुआ। दूसरी ओर पूजा पद्धति और श्रमण आचार में बढ़ते हुए आडम्बर के विरोधस्वरूप बनारसीदास, टोडरमल आदि से दिगम्बर तेरापन्थी परम्परा का विकास हुआ। यह परम्परा मूर्तिपूजा को स्वीकार तो करती है किन्तु पूजा में सचित्र वस्तुओं के प्रयोग तथा यज्ञ आदि का विरोध भी करती है।

श्वेताम्बर परम्परा में आगे चलकर १८वीं शताब्दी में स्थानकवासो परम्परा से तेरापन्थ सम्प्रदाय का उदय हुआ। जिसने दया-दान के प्रश्न को लेकर जैन परम्परा में एक भिन्न धारा को उपस्थित किया। यद्यपि जैनधर्म में आध्यात्मवाद को सदैव ही प्रमुखता मिलती रही है, फिर भी इसको प्रमुखता देने के फलस्वरूप एक ओर महान साधक श्रीमदरामचंद्र से कविपन्थ का उदय हुआ तो दूसरी ओर कुन्दकुन्द के ग्रन्थों से प्रभावित होकर कानजी स्वामी ने दिगम्बर परम्परा में एक निश्चयनय प्रधान परम्परा को विकसित किया, जो वर्तमान में कानजी पन्थ नाम से जानी जाती है। इस प्रकार कालक्रम में जैन संघ अनेक विभागों में विभाजित होता गया। इस विभाजन का मूल आचार और दर्शन आचार सम्बन्धो मान्यताएँ भी रही हैं।

विभिन्न सम्प्रदायों की दर्शन सम्बन्धो जो परस्पर भिन्न मान्यताएँ रही हैं, उनकी चर्चा हमने चतुर्थ अध्याय में की है। इस चर्चा में हमने निम्न प्रमुख बिन्दुओं का स्पर्श किया है—१. तत्त्व की संख्या का प्रश्न, २. काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानने का प्रश्न, ३. पुद्गल के बन्ध के नियम सम्बन्धी मतभेद, ४. जीव के भेद, ५. त्रस एवं स्थावर के वर्गीकरण का प्रश्न, ६. जगत का स्वरूप, ७. कर्म के भेद और उनका स्वरूप, ८. स्त्री-भुक्ति का प्रश्न, ९. केवलोभुक्ति की अवधारणा तथा १०. केवलो में ज्ञान और दर्शन के भेद-अभेद का प्रश्न।

तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय क्षेत्रों में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में आवान्तर मतभेदों के साथ-साथ दृष्टिकोणों की प्रमुखता भी परिलक्षित होती है। उदाहरण के रूप में तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में तत्त्व सात हैं या नौ तथा पुण्य एवं पाप को स्वतन्त्र तत्त्व माना जाए अथवा नहीं, ये प्रश्न उठे हैं। यद्यपि दोनों परम्पराओं में दोनों मान्यताएँ पाई जाती हैं तथापि दिगम्बर परम्परा में सात तत्त्वों की और श्वेताम्बर परम्परा में नौ तत्त्वों की मान्यता प्रमुख रही है। दिगम्बर परम्परा में पुण्य और पाप को स्वतन्त्र तत्त्व नहीं मानकर उनका अन्तर्भाव आस्रव तत्त्व में ही किया गया है। इसी प्रकार षड्द्रव्य की अवधारणा में काल स्वतन्त्र द्रव्य है अथवा नहीं, यह प्रश्न भी प्रमुख रहा है। यद्यपि दिगम्बर परम्परा एकमत से काल को स्वतन्त्र द्रव्य मानती है किन्तु श्वेताम्बर परंपरा में कुछ प्राचीन आचार्यों ने काल को स्वतन्त्र द्रव्य माना है तो कुछ ने काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं मानकर, उसे जीव और पुद्गल की पर्यायों के रूप में ही माना है।

लोक के स्वरूप को लेकर भी दोनों परम्पराओं में कुछ मतभेद हैं। उदाहरण के रूप में स्वर्ग सोलह हैं या बारह, लोकगाल आठ हैं या नौ, ये प्रश्न उठाये गये हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों के मान्य ग्रन्थों के आधार पर कहा जा सकता है कि इस विषयक जो भी भिन्नता है वह इन परम्पराओं के भिन्न-भिन्न आचार्यों के कथनानुसार ही है।

आत्मा के कर्तृत्व, भोक्तृत्व, कर्म और आत्मा के सम्बन्ध तथा आत्मा के बन्धन आदि ऐसे अनेक बिन्दु हैं जिनमें सामान्यरूप से तो श्वेताम्बर और दिगम्बर मान्यता में एकरूपता ही है, किन्तु दिगम्बर परम्परा के महान् आचार्य कुन्दकुन्द ने इन सभी तथ्यों को निश्चयनय से जो व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं वे भी अपने आप में विशिष्ट हैं। उसी के आधार पर दिगम्बर परंपरा में निश्चयपंथ—ज्ञानजो पंथ जैसे उपसम्प्रदाय अस्तित्व में आए हैं।

दार्शनिक दृष्टि से श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा में विवाद के मुख्य बिन्दु तो स्त्रीमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, केवलो भुक्ति, सचेरता-अचेरता आदि रहे हैं। इन मुद्दों को हमने इस अध्याय में विस्तारपूर्वक चर्चा की है। इसी सन्दर्भ में विशेष ज्ञातव्य तथ्य यह है कि दिगम्बरत्व और अवे-लकत्व की प्रतिपादक होते हुए भी यापनीय परंपरा ने स्त्रीमुक्ति, सवस्त्र-मुक्ति और केवलीभुक्ति की मान्यता को स्वीकार किया है।

पंचम अध्याय में हमने श्रमणाचार की चर्चा की है। इस चर्चा में हमने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि श्रमण आचार के प्रश्न को लेकर सामान्य रूप से मूर्खभूत सिद्धान्तों में कहीं कोई विवाद नहीं है। महाव्रत, गुप्ति, समिति आदि को स्वोक्तित और व्यवहार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परंपराओं में समान ही है। षडावश्यक तथा दसधर्म आदि को भी दोनों परम्पराएँ समान रूप से ग्रहण करती हैं। दोनों परंपराओं में श्रमण आचार को लेकर जो मुख्य विवाद हैं वह तो सचेरता-अचेरता का ही है, जिसकी चर्चा चौथे अध्याय में की जा चुकी है। साथ ही सचेरता और अचेरता का मुद्दान केवल आचार का है, वरन दर्शन का भी है क्योंकि उसके साथ मुक्ति को यह अवधारणा भी जुड़ी हुई है कि सचेर मुक्त हो सकता है या नहीं? श्वेताम्बर और दिगम्बर परंपरा में विवाद का एक मुख्य बिन्दु यह भी रहा है कि परिग्रह क्या है? क्या मूर्च्छा और आसक्ति परिग्रह है या वस्त्र परिग्रह है?

श्रमणाचार की चर्चा करते हुए हमने भिक्षाचर्या, आहार, विहार, चर्षावास, उपकरण, वस्त्र, पात्र, रजोहरण, मुखवस्त्रिका, प्रतिश्लेखता और

प्रतिक्रमण आदि बिन्दुओं को स्पर्श करते हुए यह स्पष्ट किया है कि विभिन्न सम्प्रदायों में इनको लेकर क्या भिन्नताएँ हैं? इस अध्याय के अन्त में हमने समाधिमरण की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया है कि समाधिमरण की सामान्य विधि तो श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों परंपराओं में समान है। किन्तु दोनों परंपराओं में बारह वर्षीय समाधिमरण व्रत ग्रहण करने की प्रक्रिया के संबंध में भेद पाया गया है, जिसके उल्लेख विविध ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। चतुर्थ अध्याय में इसी संदर्भ में चर्चा की गई है।

षष्ठम अध्याय श्रावकाचार से संबंधित है। श्रावकाचार में जो विवाद का मुख्य विषय है वह मूलगुणों की अवधारणा से संबंधित है। दिगंबर परंपरा में अष्ट मूलगुणों की चर्चा विस्तार से हुई है जबकि श्वेताम्बर परंपरा में इसके स्थान पर सप्त कुव्यसन त्याग और श्रावक के २१ गुणों या ३५ मार्गानुसारीगुणों का पालन मुख्य बतलाया गया है। जहाँ श्वेताम्बर परंपरा में श्रमणों की तरह ही श्रावकों के लिये भी षडावश्यक करने का उल्लेख मिलता है, वहीं दिगम्बर परंपरा में श्रावकों के लिए देवपूजा, गुरुवन्दन आदि षट्कर्तव्यों का विचार प्रस्तुत किया गया है।

श्रावक के बारह व्रतों में संख्या की दृष्टि से सभी परंपराएँ एकमत हैं, किन्तु अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के विभाजन और उनके क्रम आदि को लेकर श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों परंपराओं में मतभेद देखा जा सकता है। बारह व्रतों के अतिचारों को भी सभी आचार्यों ने समान रूप में नहीं स्वीकारा है, कहीं उनके नाम को लेकर तो कहीं उनके क्रम को लेकर भिन्नता है। इस भिन्नता की चर्चा हमने विस्तारपूर्वक इस अध्याय में की है।

श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की स्वीकृति यद्यपि दोनों परंपराओं में समान रूप से पाई जाती है, तथापि उनके क्रम आदि को लेकर कुछ अवान्तर मतभेद है। प्रतिमाओं के सन्दर्भ में दोनों परंपराओं में मूलभूत अन्तरयह है कि श्वेताम्बर परंपरा में प्रतिमाओं को विशिष्ट प्रकार का माना गया है, जबकि दिगम्बर परंपरा में प्रतिमाएँ निर्ग्रन्थ श्रमणजीवन तप की ओर अग्रसर होने के क्रमिक सोपान हैं।

इस विवेचन से यह भी स्पष्ट होता है कि जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की आचारगत मान्यताओं की भिन्नता में नीतिदर्शन के सिद्धान्त निहित हैं। नीतिदर्शन सिद्धान्त के धरातल पर चाहे निरपेक्ष हो किन्तु

व्यवहार के धरातल पर वह सापेक्षा ही होता है। नीति का यह सापेक्षात्मक स्वरूप हमें धर्म में भी प्राप्त होता है जो आचारगत भिन्नताओं का आधार है। इसके साथ ही हमने आचार संबंधी भिन्नता की चर्चा में यथास्थान उन परिस्थितियों को ओर भी संकेत किया है जिनने विभिन्न सम्प्रदायों में आचारगत भिन्नता को प्रवर्तित करने में सहायक भूमिका निभाई है। जैन दर्शन अनेकान्तवाद का प्रस्तावक होने के नाते इन भिन्नताओं को न केवल सहज ही स्वीकार कर सका, अपितु इन भिन्नताओं के अनुसार चलने में भी उसे किसी दुविधा का सामना नहीं करना पड़ा। विचार-सहिष्णुता और विरोध सहिष्णुता जैन धर्म एवं दर्शन की विशिष्ट पहचान है, जो शताब्दियों से अजस्ररूप में प्रवाहित है। समस्या तभी उपस्थित होती है जबकि सम्प्रदाय विशेष की आचारगत मान्यताओं को ही एकमात्र जैन समस्त विचारधारा अथवा नीति-सिद्धान्त का प्रतिनिधि मान लिया जाता है। परिणामतः साम्प्रदायिक तनाव बढ़ने लगते हैं और अनेकांत दृष्टि की आत्मा मर जाती है।

अतः प्रस्तुत कृति में हमने जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की दर्शन तथा आचार संबंधी मान्यताओं को जो चर्चा की है, उससे यह ज्ञात होता है कि जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की मान्यताओं में कहीं समानता है तो कहीं भिन्नता। जिन भिन्नताओं को हमने चर्चा की है वे सभी भिन्नताएँ ऐसी नहीं हैं, कि उनके समन्वय के सूत्र नहीं खोजे जा सकते हों। आवश्यकता इस बात की है कि श्रमण जीवन और श्रावक जीवन के समस्त आचार-व्यवहार का वर्तमान सन्दर्भ में सम्यक् मूल्यांकन हो और उनकी मूलभूत अवधारणाओं को मान्य रखते हुए वर्तमान देश और काल के परिप्रेक्ष्य में उन पर पुनर्विचार किया जाए। यदि समन्वयात्मक दृष्टिकोण से यह प्रयास किया जाए तो विभिन्न सम्प्रदायों को वैचारिक और आचारगत भिन्नता को दूर किया जा सकता है।



सन्दर्भ ग्रंथ सूची

(क) प्राचीन ग्रन्थ—

१. अन्तगडदसाओ—व्याख्याता—आचार्य नानेश, प्रका० श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर; वर्ष १९८५
२. अमितगतिश्रावकाचार (अमितगति) विवेचन—पं० भागचन्द्र, प्रका० मुनि श्री अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई; वि० सं० १९७९
३. अष्टपाहुड (कुन्दकुन्द) भाषा परिवर्तन—महेन्द्र कुमार जैन, प्रका० श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़; वि० सं० २३०८
४. आचारांगसूत्र—सम्पादक मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर, भाग १-२; वर्ष १९८०
५. आचारांगटीका—मुनि जम्बूविजय, प्रका० मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वर्ष १९७८
६. आदिपुराण—(जिनसेन) प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; द्वितीय संस्करण, १९६३
७. आवश्यकसूत्र—सम्पा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर; वर्ष १९८५
८. आवश्यकसूत्र—सम्पा० पं० घासीलाल, प्रका० जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट; वि० सं० २०१४
९. आवश्यकचूर्ण—(जिनदासगणि) प्रका० श्री ऋषभदेव जी केशरीमलजी श्वेताम्बर संस्था, भाग १-२; वर्ष १९२८, १९२९
१०. इसिभासियाइ सुत्ताइ—सम्पा० महोपाध्याय विनयसागर, प्रका० प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर; वर्ष १९८८
११. उत्तराध्ययनसूत्र—सम्पा० मधुकरमुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, वर्ष १९८४
१२. उपासकाध्ययन—(सोमदेव) सम्पा० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस; वर्ष १९६४
१३. उवासगदसाओ—सम्पा० मधुकरमुनि, प्रकाशक श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; वर्ष १९८०
१४. औपपातिकसूत्र—सम्पा० मधुकरमुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, वर्ष १९८२

१५. कल्पसूत्रम्—सम्पा० महोपाध्याय विनयसागर, प्रका० प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर; वर्ष १९७७
१६. कार्तिकेयानुप्रेक्षा—सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, प्रका० श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास; वर्ष १९७८
१७. गोम्मटसार—(कर्मकाण्ड) सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, भाग १-२; वर्ष १९८१-१९८२
१८. गोम्मटसार—(जीवकाण्ड) सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, भाग १-२; वर्ष १९७८, १९७९
१९. चारित्रसार—(चावण्ड राय) सम्पा० गजाधरलाल जैन, प्रकाशन वर्ष १९९०
२०. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—सम्पा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, वर्ष १९८६
२१. तत्त्वार्थसूत्र—(उमास्वाति) (श्वेताम्बर मान्य पाठ) विवेचक—पं० सुखलाल संघवी, प्रका० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी; तृतीय संस्करण, १९७६
२२. तत्त्वार्थसूत्र—(उमास्वामि) (दिगम्बर मान्य पाठ) विवेचक—फूलचन्द्र शास्त्री, प्रका० श्रीगणेशवर्णी दिगम्बर जैन संस्थान, वाराणसी; द्वितीय संस्करण, वर्ष १९९१
२३. तत्त्वार्थराजवार्तिक—(अकलंकदेव) सम्पा० महेन्द्र कुमार जैन, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, भाग १-२; वर्ष १९५३-१९५७
२४. तत्त्वार्थवार्तिकम्—(भट्ट अकलंकदेव) सम्पा० महेन्द्र कुमार जैन, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, वर्ष १९८२
२५. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र (उमास्वाति) संशोधक—हीरालाल, प्रका० श्री देवचन्द्रलाल भाई जैन पुस्तकोद्धार समिति; वर्ष १९८२
२६. तिलोयपण्णत्ति—(यति वृषभाचार्य) सम्पा० आर्यिका विशुद्धति, प्रका० भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा, लखनऊ, भाग १-३, वर्ष १९८४-१९८८
२७. तिलोयपण्णत्ति—(यतिवृषभाचार्य) सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, प्रका० जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, भाग १-२; वर्ष १९४३, १९५१
२८. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र—अनु० कृष्णलाल वर्मा, प्रका० गोड़ीजी जैन मन्दिर, बम्बई, भाग १-२
२९. ब्रह्मवैकालिकसूत्र—सम्पा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; वर्ष १९८५

२३८ : जैनधर्म के सम्प्रदाय

३०. दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि—प्रका० विजयगणि ग्रन्थमाला, वि० सं० २०११
३१. द्रव्यसंग्रह—(नेमिचन्द्र) सम्पा० मोहनलाल शास्त्री, प्रका० सरल जैन ग्रंथ भण्डार, जबलपुर; द्वादश संस्करण, वी० नि० सं० २५०५
३२. धम्मपद—संशोधक—जगदीशकश्यप, प्रका० बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल; वर्ष १९५९
३३. धर्मोत्तरप्रदीप—सम्पा० दलसुख मालवणिया, प्रका० काशीप्रसाद जायसवाल शोध संस्थान, पटना; वर्ष १९७१
३४. नन्दीसूत्र—सम्पा० मधुकरमुनि, प्रका० श्री० आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; वर्ष १९८२
३५. नियमसार—(कुन्दकुन्द) अनु० पं० परमेष्ठीदास, प्रका० श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर; पंचम संस्करण, वर्ष १९८४
३६. नियुक्तिसंग्रह—(भद्रबाहु) सम्पा० विजयजिनेन्द्रसूरिस्वर, प्रका० श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, शांतिपुरी (सीराष्ट्र); वर्ष १९८९
३७. न्यायकुमुदचन्द्र—(प्रभाचन्द्र) सम्पा० महेन्द्र कुमार, प्रका० माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई, भाग १-२
३८. पद्मण्यसुत्ताह—सम्पा० मुनिपुण्यविजय, प्रका० श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई; वर्ष १९८४
३९. पउमचरियं—सम्पा० मुनिपुण्यविजय, प्रका० प्रभाकर प्रकाश परिषद्, कासाबसी, भाग १-२; वर्ष १९६२
४०. पंचास्तिकाय—(कुन्दकुन्द) अनु० मनोहरलाल, प्रका० श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास; वि० सं० २०२५
४१. पंचास्तिकायसंग्रह—(कुन्दकुन्द) अनु० मगनलाल जैन, प्रका० श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, जयपुर; चतुर्थ संस्करण, वर्ष १९८४
४२. पंचास्तिकायसार—(कुन्दकुन्द) सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; वर्ष १९७५
४३. पद्मपुराण (रविषेण) अनु० पन्नालाल जैन, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, भाग १-२, वर्ष १९५८, १९५९
४४. पुरुषार्थसिद्धयुपाय (अमृतचंद्र) प्रका० श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई; वी० नि० सं० २४३१
४५. प्रमेयकमलमार्तण्ड—(प्रभाचंद्र) सम्पा० आर्थिका जिनमति, प्रका० श्री दिगम्बर जैन त्रिलोक शोध संस्थान, हस्तिनापुर; वि० सं० २०४१
४६. प्रवचनसार—(कुन्दकुन्द) सम्पा० ए० ए० उपाध्ये, प्रका० श्रीमद्राजचन्द्र न०, आश्रम, अगास (गुजरात); वर्ष १९६४

४७. प्रस्नव्याकरणसूत्र—सम्पा० मधुकरमुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; वर्ष १९८३
४८. प्रस्नोपनिषद्—सम्पा० वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, प्रका० पाण्डुरंग जावाजो, बम्बई; वर्ष १९३२
४९. भगवती आराधना—(शिवार्या) सम्पा० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका० जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, भाग १-२, वर्ष १९७८
५०. भद्रबाहुचरित—अनु० उदयलाल कासलीवाल, प्रका० जैन भारती भवन, बनारस; बी नि० सं० २४३७
५१. भावसंग्रह—(देवसेनसूरि) सम्पा० पन्नालाल सोनीति, प्रका० माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला समिति, बम्बई; बी० नि० सं० २४४७
५२. मत्स्यपुराण—सम्पा० श्रीराम शर्मा, प्रका० संस्कृति संस्थान, ख्वाजा, बरेली, भाग १-२, वर्ष १९७०
५३. मनुस्मृति—सम्पा० योगी सत्यभूषण, प्रका० मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, वर्ष १९६६
५४. महापुराण—सम्पा० डा० पी० एल० वैद्य, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, भाग १-२; वर्ष १९४४, १९७९
५५. मूलाचार—(वट्टकेर) सम्पा० पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; भाग १-२, वर्ष १९४४
५६. रत्नकरण्डकश्रावकाचार—अनु० मोहनलाल शास्त्री, प्रका० सरल जैन ग्रंथ भण्डार, जबलपुर; नवम संस्करण, बी० नि० सं० २४९९
५७. ललितविस्तरा—प्रका० श्री ऋषभदेव जी केसरीमल जी श्वेताम्बर संस्था, सूरत, वर्ष १९३४
५८. वसुदेवहिण्डी—(संघवास) सम्पा० मुनि पुण्यविजय, प्रका० आत्मानन्द जैन ग्रंथमाला, भावनगर
५९. वसुनन्दिश्रावकाचार—(वसुनन्दि) पं० हीरालाल जैन, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; वर्ष १९४४
६०. वाराणसीचरित्र—(जटासिहनन्दि) सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, प्रका० माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रंथमाला समिति, बम्बई
६१. विषीषावश्यकभाष्य—सम्पा० डा० नथमल टाटिया, प्रका० दिव्य दर्शन ट्रस्ट, बम्बई, भाग १-२, वि० सं० २०३९
६२. विष्णुपुराण—सम्पा० श्रीराम शर्मा, प्रका० संस्कृति संस्थान, ख्वाजा, बरेली, भाग १-२; वर्ष १९६९

२४० : जैनधर्म के सम्प्रदाय

६४. व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र—सम्पा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, भाग १-४; वर्ष १९८२-१९८५
६४. बृहत्कथाकोश (हरिषेण)—सम्पा० ए० एन० उपाध्ये, प्रका० भारतीय विद्याभवन, बम्बई; वि० सं० १९९९
६६. बृहद्द्रव्यसंग्रह (नेमिचन्द्र) संशोधक—मनोहरलाल शास्त्री, प्रका० श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास; वर्ष १९७९
६७. शाकटायण—व्याकरण (शाकटायन) सम्पा० पं० शुभनाथ त्रिपाठी, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; वर्ष १९४४
६८. श्रावकप्रज्ञप्ति (उमास्वाति)—सम्पा० मुनि राजेन्द्र विजय, प्रका० संस्कार साहित्य सदन, डीसा; वि० सं० २०२८
६९. श्रावकप्रज्ञप्ति (हरिभद्रसूरि)—सम्पा० पं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; वि० सं० २०३८
७०. श्रीमद्भागवतमहापुराण—प्रका० गोता प्रेस, गोरखपुर, भाग १-२, वि० सं० २०२१
७१. षड्दर्शनसमुच्चय (हरिभद्रसूरि)—प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; वर्ष १९७०
७२. संबोध प्रकरण (हरिभद्र)—प्रका० राजनगर जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा, राजनगर, अहमदाबाद; वि० सं० १९७२
७३. समयसार (कुन्दकुन्द)—सम्पा० पं० पन्नालाल, प्रका० श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी; द्वितीय संस्करण, वी० नि० सं० २५०१
७४. समवायांगसूत्र—सम्पा० मधुकरमुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; वर्ष १९८२
७५. सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपाद) सम्पा० फूलचन्द शास्त्री, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वर्ष १९५५
७६. सूत्रकृतांगसूत्र—सम्पा० मधुकरमुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, वर्ष १९८२
७७. स्थानांगसूत्र—सम्पा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर : वर्ष १९८१
७८. हरिवंशपुराण (जिनसेन)—सम्पा० पन्नालाल जैन, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; वर्ष १९६२
७९. ज्ञाताधर्मकथाङ्ग—सम्पा० मधुकर मुनि, प्रका० श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर; वर्ष १९८१

(ख) आधुनिक ग्रन्थ—

१. आशाधर पण्डित—सागार धर्मामृत, प्रका० भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद, सोनागिर; वर्ष १९८९-१९९०
२. Uttam Kamal Jain Muni—Jain Sects and Schools, Pub. Concept Publishing Company, Dehi; Year 1975
३. Ekambarnathan, A—Jain Inscriptions in Tamilnadu. Pub. Research Foundation for Jainology, Madras; Year 1987
४. कल्याणविजयगणि—श्री पट्टावलो पराग संग्रह, प्रका० श्री क० वि० शास्त्र संग्रह समिति, जालोर (राज०); वर्ष १९६६
५. गुप्त रमेशचन्द्र—तीर्थंकर बुद्ध और अन्तार, प्रका० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी; वर्ष १९८८
६. चन्द्रप्रभासागर मुनि—खरतरगच्छ का आदिकालीन इतिहास, प्रका० अ० भा० श्री जैन स्वे० खरतरगच्छ महासंघ दिल्ली; वर्ष १९९०
७. चन्द्रप्रभासागर मुनि—महोपाध्याय समग्रसुन्दरः व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रका० केशरिया एण्ड कम्पनी, कलकत्ता; वर्ष १९८६
८. जयमलमुनि—भिक्षु विचार दर्शन, प्रका० श्री जैन स्वेताम्बर तेषर्पथी महासभा, कलकत्ता; वर्ष १९६०
९. जयवन्तविजय—बुद्धदासक प्रवृत्तिणा जैन लेख संग्रह, प्रका० श्री यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर; वि० सं० २००५
१०. Jain, K. C.—Jainism in Rajasthan, Pub. Jain Sanskrit Samrakshaka Shanga, Solapur
११. जैन, योगेशचन्द्र—जैन श्रमण स्वरूप और समीक्षा, प्रका० मुक्ति प्रका०, अलीगंज (उ० प्र०); वर्ष १९९०
१२. जैन, रतनलाल—जैनधर्म, प्रका० अ० भा० दिगम्बर जैन परिषद्, दिल्ली; वर्ष १९७४
१३. जैन, श्रीमती राजेश—मध्यकालीन राजस्थान में जैन धर्म, प्रका० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी; वर्ष १९९१
१४. जैन, सगरमल—अहंत पार्श्व और उनकी परम्परा, प्रका० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी; वर्ष १९८७
१५. जैन, सगरमल—जैन कर्म सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन, प्रका० राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर
१६. जैन, सगरमल—जैन धर्म का राष्ट्रीय सम्प्रदाय, प्रका० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

२४२ : जैनधर्म के सम्प्रदाय

१७. जैन सागरमल—जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, प्रका० राजस्थान प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, भाग १-२; वर्ष १९८२
१८. जैन, सागरमल—धार्मिक सहिष्णुता और जैन धर्म, प्रका० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी; वर्ष १९८५
१९. जैन, सागरमल—पर्युषण पर्व : एक विवेचन, प्रका० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, वर्ष १९८३
२०. जैन, हीरालाल—भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, प्रका० मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल; वर्ष १९६२
२१. Jaini, Padmanabh—Gender & Salvation, Pub. Munshiram Manoharlal Publishers Pvr. Ltd., New Delhi; Year 1992
२२. जोहरापुरकर, विद्याधर—जैन शिलालेख संग्रह, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; वर्ष १९७१
२३. Tatia, Nathmal—Studies in Jain Philosophy, Pub. P. V. Research Institute, Varanasi; Year 1951
२४. तिवारी, मारुतिनन्दन प्रसाद—जैन प्रतिमाविज्ञान, प्रका० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी; वर्ष १९८१
२५. त्रिपुटी, महाराज—जैन परम्परानों इतिहास, प्रका० श्री चारित्र स्मारक, ग्रन्थमाला, भावनगर
२६. नागराज मुनि—तेरापंथ दिग्दर्शन, प्रका० श्री जैन स्वस्ताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता; वर्ष १९५९
२७. नाहटा, अजरचन्द—बीकानेर जैन लेख संग्रह, प्रकाशक नाहटा ब्रदर्स, कलकत्ता
२८. नाहर, पुरणचन्द—जैन लेख संग्रह, प्रका० कोम्पलियर, कलकत्ता, भाग १-२
२९. पटोरिया, श्रीमती कुसुम—यापनीय और उनका साहित्य, प्रका० वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, वाराणसी; वर्ष १९८८
३०. प्रेमी, नाथुराम—जैन साहित्य और इतिहास, प्रका० संशोधित साहित्य-माला ठाकुरद्वार, बम्बई, द्वितीय संस्करण, वर्ष १९५६
३१. प्रेमी, फूलचन्द जैन—मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, प्रका० पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी; वर्ष १९८७
३२. भास्कर, भागचन्द—जैन दर्शन और संस्कृति का इतिहास, प्रका० नागपुर विद्यापीठ प्रकाशन, नागपुर; वर्ष १९७७

३३. भिक्षु आचार्य—नव पदार्थ, प्रका० श्री जैन स्वताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता; वर्ष १९६१
३४. महाप्रज्ञ युवाचार्य—भिक्षु विचार दर्शन, प्रका० जैन विश्व भारती, लाइन् (राज०); अष्टम संस्करण, १९८५
३५. मुस्तार, जुगलकिशोर—जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, प्रका० श्री वीर शासन संघ, कलकत्ता
३६. मेहता, मोहनलाल—जैनधर्म दर्शन, प्रका० पाख्वाणाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी; वर्ष १९७३
३७. राजेन्द्र मुनि—चौबीस तीर्थंकर : एक पर्यवेक्षण, प्रका० श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर; वर्ष १९७६
३८. राधाकृष्ण, सर्वपल्ली—भारतीय दर्शन, प्रका० राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, भाग १-२, तृतीय संस्करण; वर्ष १९७३
३९. रामपुरिया, श्री चन्द—तेरापंथ आचार्य चरितावलि, प्रका० श्री जैन स्वताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, भाग १-२, वर्ष १९६०-१९६१
४०. षोड़ा, दीलतसिंह—श्री जैन प्रतिमा लेख संग्रह, प्रका० श्री यतीन्द्र साहित्य सदन, धामडिया (मेवाड़); वर्ष १९५१
४१. विजय धर्मसूरि—प्राचीन लेख संग्रह, प्रका० ओ यशोविजय जैन ग्रंथमाला, भावनगर; वर्ष १९२९
४२. विजयमूर्ति—जैन शिलालेख संग्रह, प्रका० श्री माणिकचन्द्र विगम्बर जैन ग्रंथमाला, बम्बई
४३. विनयसागर महोपाध्याय—प्रतिष्ठा लेख संग्रह, प्रका० सुमति सदन, कोटा, वर्ष १९५३
४४. व्यास, एस. आर.—पुनर्जन्म का सिद्धान्त, प्रका० प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, वर्ष १९९१
४५. शक्तिमुनि—जिणधम्मो, प्रका० श्री समता साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, इन्दौर; वर्ष १९८४
४६. शास्त्री, कैलाशचन्द्र—जैनधर्म, प्रका० भा० दि० जैन संघ चौरासी, मथुरा; अक्षुर्ष संस्करण, वर्ष १९६६
४७. शास्त्री, कैलाशचन्द्र—जैन साहित्य का इतिहास, प्रका० श्री गणेश प्रसाद वर्धी जैन ग्रंथमाला, वाराणसी, भाग १
४८. शास्त्री, जगदीश चन्द्र—श्रीमद्भारतचन्द्र, प्रका० श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई; वर्ष १९३८

२४४ : जैनधर्म के सफ़रनाम

४९. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि—जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा, प्रका० श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर; वर्ष १९७७
५०. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—जैन दर्शन स्वरूप और विश्लेषण, प्रका० श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर; वर्ष १९७५
५१. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—भगवान अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन, प्रका० श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, पदराड़ा (राज०) वर्ष १९७१
५२. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—भगवान पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन, प्रका० श्री वर्द्धमान श्वे० स्था० जैन धावक संघ, नाना पेठ, पूना; वर्ष १९६९
५३. शास्त्री, देवेन्द्र मुनि—भगवान महावीर : एक अनुशीलन, प्रका० श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर; वर्ष १९७४
५४. Shah, U. P.—Studies in Jain Art, Pub. Jain Cultural Research Society; Year 1955
५५. संघवी, सुखलाल—दर्शन और चिन्तन, प्रका० ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद; वर्ष १९५५
५६. संघवी, सुखलाल—सन्मति प्रकरण, प्रका० ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, वर्ष १९६३
५७. समयसुन्दर महोपाध्याय—समाचारीकृत, प्रका० श्री जिनवस्तसूरि ज्ञान भण्डार, बम्बई; वर्ष १९३९
५८. सिसोदिया, सुरेश—बंदाकेज्जयं पइण्णयं, प्रका० आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर; वर्ष १९९१
५९. सिसोदिया, सुरेश—दीधसागरपण्णत्ति पइण्णयं, प्रका० आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर; वर्ष १९९३
६०. सिसोदिया, सुरेश—महापञ्चकक्षान पइण्णयं, प्रका० आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर; वर्ष १९९१-९२
६१. सेठिया, भैरोदान—श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, प्रका० श्री अजरचन्द भैरोदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर
६२. Sogani, K. C.—Ethical Doctrine of Jainism, Pub. Jain Sanskriti Samrakshaka Sang, Sholapur; Year 1967
- (ग) स्मृति, अभिनन्दन एवं महोत्सव ग्रन्थ—
१. अम्बालाल जी म० सा० अभिनन्दन ग्रन्थ—ग्रन्था० सौभार्यमुनि “कुमुद” प्रका० श्री अम्बालाल जी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, आग्रेट; वर्ष १९७६

२. अमृत महोत्सव गौरव ग्रन्थ—प्रका० श्री अ० भा० श्वे० स्या० जैन कान्फ्रेन्स, नई दिल्ली; वर्ष १९८८
३. आचार्य आनन्दऋषि अभिनन्दन ग्रन्थ—सम्पा० श्रीचन्द्र सुराणा, प्रका० महाराष्ट्र स्थानकवासी जैन संघ, पूना; वर्ष १९७५
४. आचार्य तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ—प्रबन्ध सम्पा० अक्षयकुमार जैन, प्रका० आचार्य श्री तुलसी षवल समारोह समिति; वर्ष १९६१
५. आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ—प्रबन्ध सम्पा० कन्हैयालाल दूगड़, प्रका० श्री जैन श्वे० तेरापंथी महासभा, कलकत्ता; वर्ष १९६१
६. Aspects of Jainology, Vol. 3, Pt. Dalsukhbhai Malvania Felicitation (Vol. 1) : Editors Prof. M. A. Dhaky & Prof. Sagarmal Jain, Pub. P. V. Research Institute, Varanssi; Year 1991
७. केसरीमल सुराणा अभिनन्दन ग्रन्थ—प्रधान सम्पा० नथमल टाटिया, प्रका० केसरीमल सुराणा अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, राणावास; वर्ष १९८२
८. पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ—प्रधान सम्पा० देवेन्द्रमुनि शास्त्री, प्रका० राजस्थान केसरी अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, बम्बई; वर्ष १९७९
९. यतीन्द्रसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ—सम्पा० मुनि विद्या विजय, प्रका० श्री भूपेन्द्र-सूरि साहित्य समिति, आहोर (राजस्थान), वर्ष १९५८
१०. युवाचार्य श्री मधुकर मुनि स्मृति ग्रन्थ—सम्पा० श्रीचन्द्र सुराणा, प्रका० मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन, ब्यावर; वर्ष १९८५
११. श्रीमदराजेन्द्र स्मारक ग्रन्थ—प्रका० श्री सौधर्मवृहदत्तपागच्छीय जैन श्वेताम्बर संघ, आहोर, बगरा; वि० सं० २०१३

(ख) कोश ग्रन्थ—

१. अंग्रेजी हिन्दी कोश—सम्पा० फादर कामिल बुल्के, प्रका० एस० चन्द्र एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली; वर्ष १९६८
२. अर्द्धमागधी कोश—सम्पा० रतनचन्द्र जी म०, प्रका० अमर पब्लिकेशन, वाराणसी, भाग १-५; वर्ष १९८८
३. अभिधान राजेन्द्रकोश—राजेन्द्रसूरि विरचित, प्रका० रतलाम, भाग १-७
४. आगमशब्द कोश—सम्पा० युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रका० जैन विश्व भारती, लाहनू; वर्ष १९८०
५. एकार्थक-कोश—प्रधान सम्पा० युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रका० जैन विश्व भारती लाहनू; वर्ष १९८४

६. जैन लक्षणावली—सम्पा० बालचन्द्र सिद्धान्त शास्त्री, प्रका० वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, भाग १-३ वर्ष १९७२-१९७९
७. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश—सम्पा० जिनेन्द्रवर्मा, प्रका० भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, भाग १-४; द्वितीय संस्करण, वर्ष १९८५-१९८७
८. नालन्दा विशाल शब्द समर—सम्पा० नवल जी, प्रका० आदर्श बुक डिपो, दिल्ली; वर्ष १९८३
९. निरुक्त कोश—प्रधान सम्पा० युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रका० जैन विश्व भारती, लाहन्, वर्ष १९८४
१०. पाइअसद्दमहृष्यत्रो—सम्पा० हरगोविन्ददास विक्रमचन्द्र सेठ, प्रका० प्राकृत ग्रन्थ परिषद, वाराणसी; वर्ष १९६३
११. प्राकृत हिन्दी कोश—सम्पा० के० आर० चन्द्रा, प्रका० प्राकृत जैन विद्या विकास फण्ड, अहमदाबाद; वर्ष १९८७
१२. संस्कृत हिन्दी कोश—सम्पा० वामन शिवराम आटे, प्रका० मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली; वर्ष १९६६

(इ) शोध पत्र-पत्रिकाएँ

१. अनेकान्त (त्रैमासिक) सम्पा० पं० पद्मचन्द्र जैन, प्रका० वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली
२. जैन सिद्धान्त भास्कर (षट्मासिक)—सम्पा० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, प्रका० श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा (बिहार)
३. तीर्थंकर (मासिक) सम्पा० नेमीचंद्र जैन, प्रका० ६५, पत्रकार कालोनी, इन्दौर
४. तुलसीप्रज्ञा (त्रैमासिक)—सम्पा० डा० परमेश्वर सोलंकी, प्रका० जैन विश्व भारती, लाहन्
५. प्राकृत विद्या (त्रैमासिक)—सम्पा० डा० प्रेमसुमन जैन, प्रका० प्राकृत अध्ययन प्रसार संस्थान, उदयपुर
६. शोषादर्श (त्रैमासिक)—सम्पा० डा० शशिकान्त जैन, प्रका० तीर्थंकर महावीर स्मृति केन्द्र, लखनऊ
७. श्रमण (त्रैमासिक)—सम्पा० डा० सागरमल जैन, प्रका० पार्वनाथ विद्या-श्रम शोध संस्थान, वाराणसी
८. श्रमणोपासक (पाक्षिक) सम्पा० जुगराज सेठिया, प्रका० श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर

संस्थान-परिचय

आगम अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान आचार्य श्री नानालाल जी म० सा० के १९८१ के उदयपुर वर्षावास की स्मृति में जनवरी १९८३ में स्थापित किया गया। संस्थान का मुख्य उद्देश्य जैनविद्या एवं प्राकृत के विद्वान् तैयार करना, अप्रकाशित जैन साहित्य का प्रकाशन करना, जैनविद्या में रुचि रखने वाले विद्यार्थियों को अध्ययन की सुविधा प्रदान करना, जैन संस्कृति की सुरक्षा के लिए जैन आचार, दर्शन और इतिहास पर वैज्ञानिक दृष्टि से ग्रन्थ तैयार कर प्रकाशित करवाना एवं जैन विद्या-प्रसार की दृष्टि से संगोष्ठियाँ, भाषण, समारोह आदि आयोजित करना है। यह संस्थान श्री अ० भा० सा० जैन संघ की एक मुख्य प्रवृत्ति है।

संस्थान राजस्थान सोसायटीज एक्ट १९५८ के अन्तर्गत रजिस्टर्ड है एवं संस्थान को अनुदान रूप में दी गयी धनराशि पर आयकर अधिनियम की धारा ८० (G) और १२ (A) के अन्तर्गत छूट प्राप्त है।

जैनधर्म और संस्कृति के इन पुनीत कार्य में आप इस प्रकार सहभागी बन सकते हैं—

(१) व्यक्ति या संस्था एक लाख रुपया या इससे अधिक देकर परम संरक्षक सदस्य बन सकते हैं। ऐसे सदस्यों का नाम अनुदान तिथिक्रम से संस्थान के लेटरपैड पर दर्शाया जाता है।

(२) ५१,००० रुपया देकर संरक्षक सदस्य बन सकते हैं।

(३) २५,००० रुपया देकर हितैषी सदस्य बन सकते हैं।

(४) ११,००० रुपया देकर सहायक सदस्य बन सकते हैं।

(५) १,००० रुपया देकर साधारण सदस्य बन सकते हैं।

(६) संघ, ट्रस्ट, बोर्ड, सोसायटी आदि जो संस्था एक साथ २०,००० रुपये का अनुदान प्रदान करती है, वह संस्था संस्थान-परिषद की सदस्य होगी।

(७) अपने बुजुर्गों की स्मृति में भवन निर्माण हेतु व अन्य आवश्यक यंत्रादि हेतु अनुदान देकर आप इसकी सहायता

(८) अपने घर पर पड़ी प्राचीन पांडुलिपि उपयोगी साहित्य प्रदान कर सकते हैं।

आपका यह सहयोग ज्ञान-साधना के रथ अग्रसर करेगा।